अष्टछाप-परिचय

वल्लभ संप्रदाय के विवरण सहित
आलोचनात्मक जीवनी और काव्य-संग्रह.

परिवर्द्धित एवं परिष्कृत संस्करण

प्रकाशक :

अग्रवाल प्रेस, मथुरा.

ब्रज-साहित्य-माला सं० १
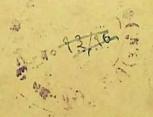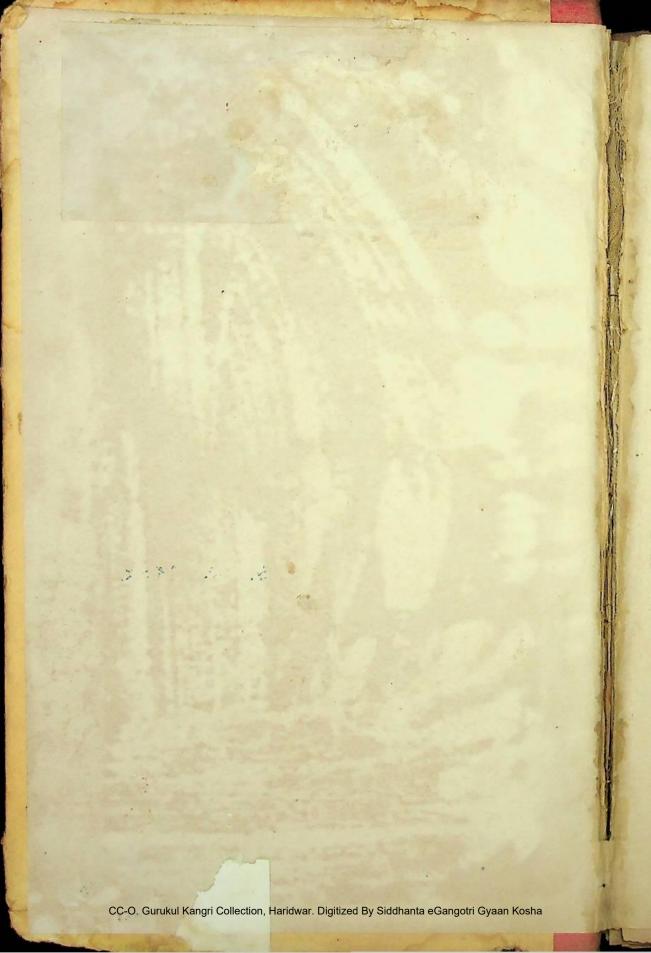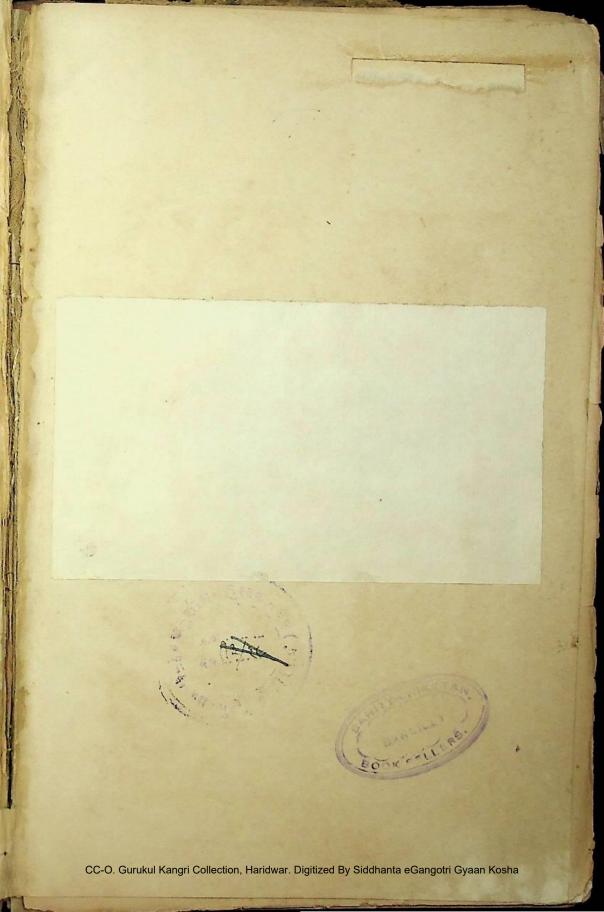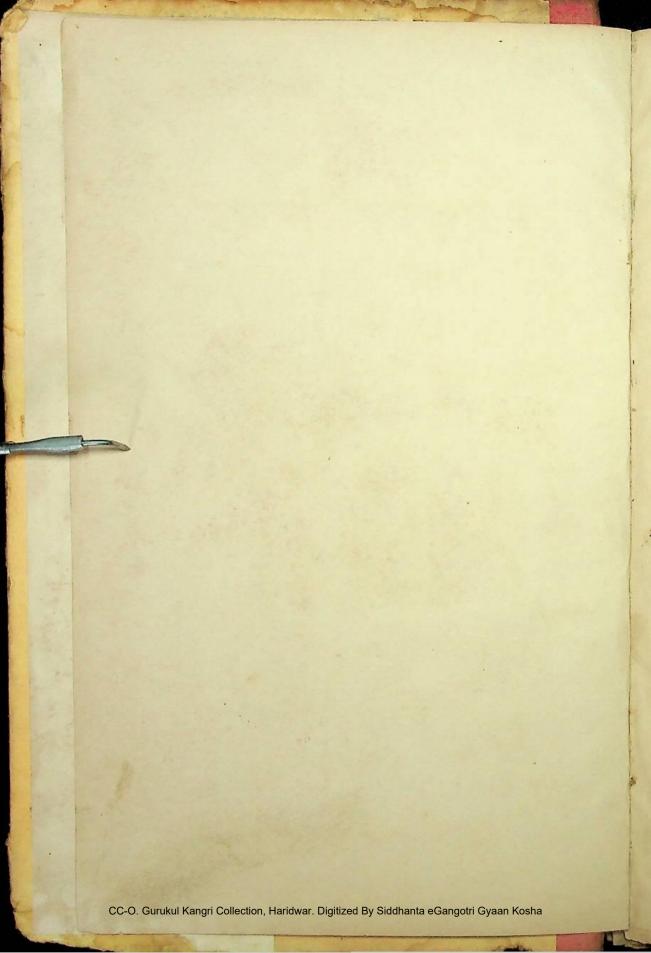
अष्टछाप-परिचय

[परिवर्द्धित एवं परिष्कृत संस्करण]

वल्लभ संप्रदाय के विवरण सहित
अष्टछाप का आलोचनात्मक जीवन-वृत्तांत और काव्य-संग्रह

लेखक :

प्रभुदयाल मीतल

प्रकाशक :

अग्रवाल प्रेस, मथुरा.

द्वितीय संस्करण

पौष सं० २००६ विक्रमीय

मूल्य ५)

मुद्रक, प्रकाशक :

प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, अग्रवाल भवन, मथुरा.

ब्रजसाहित्य माला

संपादक :

प्रभुदयाल मीतल

"अष्टछाप के कवियों में से प्रत्येक ने भक्ति भाव संयुक्त कृष्ण की उपासना की ओर पूरी क्षमता से प्रेम और विरह के सुंदर गेय पद बनाए। सबकी वाणी में वह तन्मयता है, जो गीति-काव्य के लिए परम उपयोगिनी है।....शुद्ध प्रेम का प्रवाह बहा कर भगवान् कृष्ण की स्तुति में आत्म-विस्मरण कर देने वाले भक्त कवियों का हिंदी कविता पर जो महान् ऋण है, उसे हम स्वीकार करेंगे।"

—डा० श्यामसुंदरदास

जो जन अष्टछाप गुन गावत।
चित्त–निरोध होत ताही छिन, हरि-लीला दरसावत॥
सूर सूर जस हृदै प्रकासत, परमानंद बढ़ावत।
छीतस्वामि गोविंद जुगल बस, तन पुलकित जल आवत॥
कुंभनदास चत्रभुजदासहिं, गिरि-लीला प्रकटावत।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन, पूरन भाव जनावत॥
नंददास कृष्णदास रास-रस, उछलित अंग-अंग नमावत।
'रसिकदास' जन कहाँ लौं वरनौं, श्रीवल्लभ मन भावत॥

—रसिकदास

"आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"

—आचार्य रामचंद्र शुक्ल

प्राक्कथन

★

प्रायः दो वर्ष पूर्व इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। उस समय मैंने तब तक की शोध में उपलब्ध सामग्री का यथासाध्य उपयोग कर लिया था, किंतु विषय की महत्ता और सामग्री की अपूर्णता के कारण उस समय मुझे वह संस्करण प्रकाशित करने में मुझे अत्यंत संकोच हो रहा था, जिसका उल्लेख मैंने अपने प्राक्कथन में भी किया था। इस पर भी हिंदी जगत् ने उक्त संस्करण का जितना आदर किया, उसके लिए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। हर्ष की बात है कि हिंदी के सर्वमान्य साहित्यकारों ने उसकी मुक्त कंठ से सराहना की, विश्वविद्यालयों के विद्वान अध्यापकों ने हिंदी की सर्वोच्च कक्षाओं के पाठ्य ग्रंथ के रूप में उसे स्वीकृत या, प्रतिष्ठित पत्रों एवं आल इंडिया रेडियो ने उसकी प्रशंसात्मक आलोचनाएँ कीं और शुद्धाद्वैत एकेडमी ने उसे सन्मानित एवं पुरस्कृत किया! इस प्रकार के अपूर्व प्रोत्साहन से मुझे अष्टछाप संबंधी अपने अनुसंधान एवं अध्ययन को आगे बढ़ाने की प्रेरणा प्राप्त हुई, जिसके फल स्वरूप उक्त पुस्तक का यह परिवर्द्धित एवं परिष्कृत संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

इस संस्करण के प्रस्तुत करने के पूर्व मैंने अपनी अन्य कृति 'सूर-निर्णय' की रचना की थी। उक्त ग्रंथ की तैयारी के समय मुझे वल्लभ संप्रदाय के व्रजभाषा साहित्य का विशेष रूप से अनुसंधान करना पड़ा। उस अनुसंधान के समय मुझे अष्टछाप से संबंधित कुछ ऐसी बहुमूल्य सामग्री के अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ, जो हिंदी जगत् के लिए सर्वथा नवीन थी। उस सामग्री ने जहाँ पूर्व संस्करण की मेरी मान्यताओं में कुछ परिवर्तन किया, वहाँ अष्टछाप संबंधी कई विवादग्रस्त समस्याओं का समाधान भी कर दिया। उसी समय डा० दीनदयाल गुप्त कृत थीसिस 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' के नाम से प्रकाशित हुई, जिसके कारण भी मुझे अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार अपने नवीन अनुसंधान और उक्त प्रकाशन के उपरांत मैं अब अपने को इस स्थिति में पाता हूँ कि अष्टछाप का पहले से अधिक पूर्ण एवं प्रामाणिक विवरण उपस्थित कर सकूँ। हिंदी साहित्य में व्रजभाषा काव्य का और व्रजभाषा काव्य में अष्टछाप की रचनाओं का जो अनुपम महत्व है, वह सर्व विदित है। इसके साथ ही भाषा, साहित्य

और धर्म तीनों दृष्टियों से अष्टछाप की रचनाओं का जो गौरवपूर्ण स्थान है, उससे भी सब विद्वान परिचित हैं। ऐसी दशा में मुझे आशा है कि अष्टछाप का यह नवीन अध्ययन हिंदी जगत् में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगा।

नवीन सामग्री के समावेश के कारण प्रस्तुत संस्करण पूर्व की अपेक्षा बड़ा हो गया है। यद्यपि यह पहले से छोटे टाइप में छापा गया है, तब भी इसमें पूर्व की अपेक्षा ड्यौढ़ी पृष्ठ संख्या है। इस संस्करण में छै परिच्छेद एवं पाँच अनुक्रमणिकाएँ हैं, और यह ४०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यहाँ पर पुस्तक का परिच्छेदानुसार संक्षिप्त विवरण दिया जाता है, ताकि वर्णित विषय और तत्संबंधी लेखक के दृष्टिकोण का पाठकों को सामान्य ज्ञान हो सके।

प्रथम परिच्छेद में पृष्ठभूमि स्वरूप अष्टछाप का प्रासंगिक विवेचन, पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक आचार्यों के खोजपूर्ण जीवन-वृत्तांत एवं उनके मत का विवरण दिया गया है। अष्टछाप के आठों महानुभावों को काव्य की प्रेरणा उनके दीक्षा-गुरु पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक आचार्यों से प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में भी उक्त संप्रदाय के तत्वों का समावेश है, जिनको समझे बिना अष्टछाप के काव्य का यथार्थ अध्ययन नहीं हो सकता है। इसलिए इस परिच्छेद में सर्व प्रथम पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी, उनके उत्तराधिकारी श्री गोपीनाथ जी एवं अष्टछाप के संस्थापक गोसाईं विट्ठलनाथ जी के जीवन वृत्तांत दिये गये हैं। श्री गोपीनाथ जी का निधन-संवत् और अष्टछाप का स्थापना-काल परस्पर संबंधित हैं। इसी प्रकार गो० विट्ठलनाथ जी के तिरोधान-संवत् पर अष्टछाप के अधिकांश महानुभावों का निधन-काल आधारित है; किंतु गोपीनाथ जी एवं विट्ठलनाथ जी के निधन संवत् विवादग्रस्त हैं। गोपीनाथ जी का निधन-संवत् अभी तक सं० १६२० माना गया है, किंतु लेखक के मतानुसार वह सं० १५९९ निश्चित होता है, तभी अष्टछाप के स्थापन-काल सं० १६०२ से उसकी संगति मिल सकती है। गो० विट्ठलनाथ जी का निधन-संवत् कई विद्वानों ने १६४० माना है, किंतु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर वह १६४२ सिद्ध होता है। इस परिच्छेद में वल्लभ संप्रदाय के आधारभूत विष्णुस्वामी संप्रदाय का वर्णन, शुद्धाद्वैत सिद्धांत का ऐतिहासिक एवं तात्विक विवेचन, पुष्टिमार्गीय सेवा एवं भक्ति का संक्षिप्त विवरण दिया गया है, जिससे अष्टछाप के काव्य की मूल प्रेरणा समझने में सुविधा हो सकती है। इसी परिच्छेद में वल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी द्वारा किये गये व्रजभाषा के साहित्यिक निर्माण संबंधी कार्यों का विवरण दिया गया है। इसके साथ ही उक्त आचार्यों के उन शिष्य कवियों का

नामोल्लेख भी किया गया है, जिनकी अति उत्तम काव्य-रचनाएँ खोज में प्राप्त हुई हैं, किंतु जिनके नाम एवं काव्य से हिंदी जगत् अपरिचित है। इस नवीन खोज के फल स्वरूप अब हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनके नामों का आदर पूर्वक उल्लेख हो सकेगा।

द्वितीय परिच्छेद के आरंभ में अष्टछाप के स्थापना-काल और उसके सांप्रदायिक, साहित्यिक एवं कलात्मक महत्व पर विचार किया गया है। इसके उपरांत अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत के आधार स्वरूप पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य की विवेचना और उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा की गयी है। अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत की आधार-सामग्री 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवं 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नामक पुस्तकें हैं, जिनके रचयिता विषयक विवाद का अभी तक अंत नहीं हुआ है। प्राचीन मान्यता के अनुसार गो० विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी को इनका रचयिता माना जाता है, जिसका अनेक विद्वानों ने विरोध किया है। इस परिच्छेद में अनुसंधान से प्राप्त कुछ ऐसी सामग्री प्रकट की गयी है, जिससे वार्ताओं के आरंभ और विकास के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। वार्ता साहित्य संबंधी यह नवीनतम शोध है, जिससे उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि होती है, और उसकी अप्रामाणिकता संबंधी संदेह का समाधान हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वार्ताओं के गोकुलनाथ जी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि उनके मूल वचन सर्व प्रथम श्री गोकुलनाथ जी के कहे हुए हैं; किंतु इनके संकलन, संपादन और लेखन की व्यवस्था गोकुलनाथ जी के आदेशानुसार और उन्हीं के निरीक्षण में उनके विद्वान पौत्र श्री हरिराय जी ने की थी। गोकुलनाथ जी के देहावसान के बहुत दिनों बाद श्री हरिराय जी ने उक्त वार्ताओं का विशदीकरण किया और उनके गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने के लिए उनके साथ 'भाव' नामक अपनी टिप्पणियाँ भी जोड़ दीं। इस प्रकार वार्ताओं के वास्तविक रचयिता श्री हरिराय जी को मानना चाहिए, और हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में भी ब्रजभाषा गद्य के प्रथम वास्तविक लेखक के रूप में श्री हरिराय जी का नामोल्लेख होना चाहिए। इसके स्पष्टीकरण के लिए इस परिच्छेद में खोज द्वारा प्राप्त श्री गोकुलनाथ जी एवं श्री हरिराय जी के प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत भी दिये गये हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते हैं। इस परिच्छेद के अंत में अष्टछाप के क्रमागत विवेचन के लिए आयुक्रम को स्वीकार कर उसके अनुसार एक कोष्टक दिया गया है, जो जीवन संबंधी विविध संवत् और आवश्यक विवरण के कारण अष्टछाप के सामान्य परिचय के लिए अपना पृथक् महत्व रखता है।

तृतीय परिच्छेद इस पुस्तक का प्रमुख भाग है, जिसमें अष्टछाप के आठों कवियों का आलोचनात्मक जीवन-वृत्तांत और उनकी चुनी हुई रचनाओं का संकलन दिया गया है। प्रत्येक कवि की जीवनी लिखने से पूर्व विविध साधनों से प्राप्त उसकी जीवन-सामग्री का भली भाँति अध्ययन किया गया है, फिर आलोचनात्मक दृष्टि से विस्तृत परीक्षा के उपरांत कुछ तथ्य निश्चित किये गये हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक कवि का चरित्र निर्माण किया गया है। जीवन-वृत्तांत के अंत में प्रत्येक कवि के कुछ उत्तम पदों का संग्रह किया गया है, जिसके कारण आठों कवियों की दुर्लभ रचनाएँ एक ही स्थान पर सुलभ हो गयी हैं। हिंदी साहित्य में अभी तक केवल सूरदास और नंददास की रचनाएँ ही प्रकाशित हो सकी हैं; अन्य छै कवियों की अधिकांश रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं, जिनके रसास्वादन के लिए पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में गाये जाने वाले कीर्तनों अथवा प्राचीन पुस्तकालयों में सुरक्षित पद-संग्रह की हस्त लिखित प्रतियों का सहारा लेना पड़ता है। प्राचीन पद साहित्य का एक वृहत् संकलन 'राग कल्पद्रुम' के नाम से बहुत दिनों पहले कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, जिसमें अन्य भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त अष्टछाप के भी अनेक गेय पद संगृहीत थे, किंतु यह ग्रंथ आज-कल दुष्प्राप्य है। श्री सोमनाथ जी गुप्त ने इसी ग्रंथ के आधार पर 'अष्टछाप-पदावली' का संकलन किया है, किंतु इस पुस्तक के मिलने में भी असुविधा होती है। ऐसी दशा में अष्टछाप के समस्त कवियों की चुनी हुई रचनाओं का यह सुलभ संकलन इस प्रकार के अभाव की किंचित् पूर्ति कर सकेगा। इस संकलन में सूरदास के पद अपेक्षाकृत कम हैं, क्योंकि वे सर्वत्र प्रचलित एवं विविध साधनों से प्राप्य हैं। अन्य सातों कवियों के पद सरलता से प्राप्त नहीं होते हैं, अतः इस पुस्तक में उनको ही अधिक संख्या में एकत्रित करने की चेष्टा की गयी है। संकलित पदों की संख्या २२१ है, जिसमें परमानंददास और चतुर्भुजदास के पद सबसे अधिक हैं। ये समस्त पद दुष्प्राप्य हस्त लिखित प्रतियों से संगृहीत एवं वंशपरंपरागत कीर्तनकारों से प्राप्त किये गये हैं।

चतुर्थ परिच्छेद में अष्टछाप के काव्य की संक्षिप्त आलोचना की गयी है। आरंभ में उक्त काव्य की रूप-रेखा बतलाते हुए उसके महत्व पर विचार किया गया है। अंत में काव्य-महत्व की दृष्टि से समस्त कवियों की रचनाओं का श्रेणी विभाग किया गया है। चूँकि अष्टछाप का समग्र काव्य अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया है, अतः उसकी विस्तृत आलोचना भी अभी संभव नहीं है। सूरदास और नंददास की जो रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, उनकी

आलोचना हिंदी के बड़े-बड़े विद्वानों ने की है, अतः उसका पिष्टपेषण करना यहाँ पर अनावश्यक समझा गया है। ऐसी दशा में अन्य परिच्छेदों की अपेक्षा यह परिच्छेद छोटा है। पुस्तक के विस्तार को सीमित करने के लिए भी ऐसा करना वाँछनीय था।

पंचम परिच्छेद में अष्टछाप के संगीत पर प्रकाश डाला गया है। अष्टछाप का अधिकांश काव्य कीर्तन के लिये रचा गया था, इसलिए यह गेय है। गेय होने के कारण इसे गीति-काव्य भी कहा जा सकता है। अष्टछाप का गीति-काव्य विभिन्न राग-रागनियों में होने के कारण संगीत शास्त्र से घनिष्ट संबंध रखता है, किंतु हिंदी के विद्वानों का ध्यान अष्टछाप-अध्ययन के इस अंग की ओर अभी तक नहीं गया है। वैसे तो अष्टछाप का वैज्ञानिक अध्ययन ही अभी तक अपूर्ण है; तथापि जो कुछ थोड़ा-बहुत अध्ययन हुआ है, वह इसके भक्त और कवि रूप का हुआ है। संगीतज्ञ के रूप में अष्टछाप के अध्ययन का अभी आरंभ भी नहीं हुआ! इस परिच्छेद में इस विषय की चर्चा चलाते हुए भारतीय संगीत के विकास के इतिहास, अष्टछाप-कालीन संगीत के विभिन्न केन्द्रों और उस समय की प्रचलित गायन-शैलियों का परिचय तथा अष्टछाप की गायन-पद्धति का आलोचनात्मक विवरण दिया गया है। इस प्रकार अष्टछाप के अध्ययन की एक नवीन दिशा की ओर पदार्पण करने की चेष्टा की गयी है। आशा है संगीत शास्त्र के विशेषज्ञ भविष्य में इस विषय पर अधिक प्रकाश डाल सकेंगे।

षष्ठम और अंतिम परिच्छेद में अष्टछाप का सिंहावलोकन करते हुए उसके सांप्रदायिक संबंध, जीवन-दर्शन, दैनिक कर्त्तव्य और पारस्परिक महत्व की आलोचना की गयी है। अंत में पाँच अनुक्रमणिकाएँ देकर पुस्तक को समाप्त किया गया है। पहिली अनुक्रमणिका में प्रत्येक कवि के संगृहीत पदों की प्रथम पंक्तियाँ अकारादि क्रम से पद संख्या और पृष्ठ संख्या के संकेत के साथ दी गयी हैं। शेष चार अनुक्रमणिकाओं में उल्लिखित व्यक्तियों, ग्रंथों, स्थानों और विशिष्ट नामों का विवरण पृष्ठ संकेत और अकरादि क्रम के अनुसार दिया गया है।

उपर्युक्त पाठ्य सामग्री के अतिरिक्त इस पुस्तक में १२ चित्र भी दिये गये हैं। इनमें से कुछ चित्र प्राचीन एवं प्रामाणिक चित्रों की प्रतिछवि हैं, शेष प्राचीन मान्यताओं और सामग्री के अध्ययन पर आधारित हैं। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से पुस्तक को उपयोगी बनाने की चेष्टा की गयी है; किंतु उपलब्ध सामग्री की अपूर्णता और विषय की गंभीरता के साथ ही साथ लेखक

की अल्पज्ञता इस पुस्तक को सर्वांगपूर्ण बनाने में बाधक हुई है । भविष्यत् अनुसंधान द्वारा उपलब्ध सामग्री से इस पुस्तक के आगामी संस्करणों में और भी सुधार किया जा सकेगा ।

अंत में जिन लेखकों की पुस्तकों से मैंने सहायता ली है, अथवा जिन सज्जनों की सामग्री का मैंने उपयोग किया है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है । श्री द्वारकादास जी परीख की सामग्री एवं उनके सुझावों से मुझे बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है, अतः मैं उनका अधिक कृतज्ञ हूँ । विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल की विद्वत्तापूर्ण भूमिका से इस पुस्तक का महत्व बढ़ गया है, अतः मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ ।

अग्रवाल भवन, मथुरा
फाल्गुन शु० ११ सं० २००६

—प्रभुदयाल मीतल

☆

प्रभुदयाल मीतल

जन्म सं० १९५९, ज्येष्ठ कृ० १२, मंगलवार

भूमिका

★

भारतीय धार्मिक विचार-धारा में तीन बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं। पहली क्रांति वेद व्यास के द्वारा हुई, जिन्होंने लोक में व्याप्त वैदिक तत्वज्ञान को इतिहास ...स्कृति के धार्मिक आचार-विचारों के साथ मिला कर महाभारत में किया।

दूसरी बड़ी क्रांति विक्रम संवत् के कई शती पूर्व भागवत धर्म और महायान बौद्ध धर्म के समन्वयप्रधान चिंतन के रूप में प्रकट हुई, जिसके द्वारा मोक्षप्रधान संन्यास मार्ग और प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थ मार्ग के बीच में पड़ी हुई खाई को पाटा गया और जिसके अंत में 'प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षमार्गः' वाला चौड़ा मार्ग या महायान प्रचारित हुआ। शुंग, कुषाण और गुप्त काल के समस्त धार्मिक आंदोलन इसी सेतु-बंध की ओर लक्ष्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का धार्मिक इतिहास भागवत धर्म के समन्वयात्मक प्रयत्नों का इतिहास है। इन प्रयत्नों में जैन, बौद्ध, शैव सभी ने एक ही मूल प्रेरणा से केवल नाम-भेद रखते हुए भाग लिया। भागवतों के जगत् में अचिन्त्य ब्रह्मतत्त्व विष्णु बन कर प्रकट हुए। सब प्राणियों को, सब विचार-धाराओं को अपने में व्याप्त कर लेना और सब में स्वयं व्याप्त हो जाना यही विष्णु की विशेषता थी। अतएव इस अन्वर्थ नाम की ओर इस सहस्राब्दी में समन्वय के प्रयत्न अपना ताना-बाना बुनते रहे। कालिदास ने अपने समन्वय-प्रधान दृष्टिकोण से इसी युग-सत्य को विष्णु की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा है—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

(रघुवंश १०। २६)

'सिद्धि को प्राप्त कराने वाले अनेक मार्ग आगम सिद्धांतों के अनुसार अलग-अलग बटे हैं; किंतु वे सब तुम्हारे पास ही पहुँचते हैं, जैसे गंगा के प्रवाह समुद्र में मिलते हैं।'

विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में फिर एक क्रांति के लिए जगह बनी। शुष्क तर्क-प्रतिपादित निर्गुण अद्वैत तत्त्व का भार मानवी बुद्धि के लिए दूभर हो गया। विचार-जगत् में पंडित वर्ग और लोक एक दूसरे से बिछुड़ गये। पंडितों के पास तर्क की पैनी कैंची थी। निर्गुण तत्त्व की उससे मनमानी कतर-ब्यौंत की जा सकती थी। बौद्धों के अनेक प्रकार के अद्वैतवादी तर्क निर्गुण रूपी वस्त्र को काटते-छेदते रहे; शंकराचार्य और उनके उत्तराधिकारी दार्शनिकों के मायावाद में भी बुद्धि पर आश्रित तर्क का ही बोल-बाला था। आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक पनपने वाले सिद्ध और उनके उत्तराधिकारी नाथ गुरु निर्गुण की बात ही जनता की भाषा में कहने का प्रयत्न करते रहे, किंतु उनकी रची हुई बारहखड़ी से जनता के लिए हृदयग्राही रसानुभूति की कोई विशेष बात न बन सकी। आत्माराम इस शरीर रूपी कुइल्ली या कुटिया में रम रहा है, इडा-पिंगला-सुषुम्णा की कलाबाज़ी से उसे वश में किया जा सकता है—यह बात कितनी भी ठीक हो, पर थी एक दम नीरस। उसे सुनकर लोक के मन में किसी तरह की फुरहरी या गुदगुदी उत्पन्न नहीं होती थी। निर्गुणी काव्य-क्षेत्र में कबीर की वाणी अंतिम पराकाष्ठा है। उसमें बहुत ओज और कविता का रस एवं आनंद है; पर रसानुभूति के लिए उसकी असफलता का साक्षी प्रायः प्रत्येक पाठक का अपना मन है। आकाश में विचरने वाले दार्शनिकों की फटकार से लोक का क्या भला हो सकता है! उसके लिए जिस क्रांतिमय परिवर्तन की आवश्यकता थी; वह विष्णुस्वामी, रामानुज, निंबार्क, मध्व, रामानंद, वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्यों, संतों और भक्तों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस क्रांति की मुख्य विशेषता अद्वैत वेदांत और भक्ति का समन्वय था।

लोक मानस के जिस सरोवर में शताब्दियों से सूखा पड़ा हुआ था, वहीं भक्तिजन्य मनोभावों का अटूट जल बरस पड़ा। सगुण लीलाओं को गाने के लिए जनता तरस रही थी, उसके लिए द्वार खुल गया। तुलसी के शब्दों में साधुरूप मेघ राम के यश का सुंदर जल लेकर चारों ओर बरसने लगे—

वरषहिं राम सुजस वर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

प्रेम उस जल का मिठास था, भक्ति उसकी शीतलता थी; वही लोक के मन रूपी सरोवर में भर गया। वैसे ही एक सरोवर की कल्पना तुलसीदास का रामचरितमानस है। इस तालाब में जिसने डुबकी लगाई, उसी का मन आनंद से भर गया। भक्त संतों का मत वेदमत (ऊँचा दार्शनिक ज्ञान) पुराण मत (कथा-कहानी, देव चरित आदि) और संत मत (भक्ति-ज्ञान

कृत साक्षात् अनुभव) इन तीनों का समन्वय था। तुलसी ने कहा है कि राम-भक्ति की जो गंगा है, वेदमत और लोकमत उसके दो किनारे हैं, जिनको सींचती हुई वह जल-धारा बही है।

सोलहवीं शताब्दी में इस प्रकार की वेगवती भाव-धारा देश के प्रत्येक भाग में बह निकली। राम और कृष्ण उसके प्रतीक बने। वे ही रसतत्त्व के सगुण और साकार रूप बन कर लोक में मान्य हुए। जहाँ निर्गुण का ताना बुना हुआ था, वहाँ सगुण रूप का गान करके भक्तों ने अपने मन की शक्ति से भरपूर रस उँडेला और लोक के मानस-पट को खूब भिगोया। भारतीय इतिहास की यह अनूठी विशेषता है कि उसमें समय-समय पर होने वाली धार्मिक हलचलों की छाप प्रायः सारे देश पर एकसी पड़ी है। पंद्रहवीं—सोलहवीं शताब्दियों के धार्मिक आंदोलनों ने प्रत्येक प्रांतीय भाषा के साहित्य को सराबोर कर दिया। असम भाषा के श्री शंकर नामक महाकवि ने अपनी प्रतिभा से भागवत का महान् काव्यानुवाद किया, जो आज भी इस भाषा का भूषण है। राम सरस्वती नामक महाकवि ने फेंटा बाँध कर रामायण और महाभारत दोनों ही काव्यों का असम भाषा में अनुवाद कर डाला। बंगाल में तो चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण को केन्द्र में रख कर भक्ति की नदी ही बहा दी; जिसका प्रभाव उड़ीसा, वृंदावन और कर्नाटक तक हुआ। चंडीदास की कृष्ण-भक्ति-पदावली पद साहित्य का वैसा ही प्रयत्न है, जैसा हिंदी साहित्य में पद-निर्माता कवियों ने किया। जब गुसाईं जी ने रामचरितमानस लिखा उसी समय कीर्तिवास ओझा ने वंगीय रामायण लिखी। उड़िया भाषा में सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में जगन्नाथ दास ने भागवत, बलराम ने रामायण, शारदा दास ने महाभारत और अच्युतानन्द ने हरिवंश के काव्यानुवाद उत्कल भाषा में तैयार किए, लेकिन उत्कल भाषा का कंठहार सोलहवीं शती में ही निर्मित रस-कल्लोल नामक मनोहर काव्य ग्रंथ है, जिसमें राधाकृष्ण के लीला-विलास का वर्णन हुआ है। लगभग उसी समय भक्त शिरोमणि पोतनामात्य ने तेलगु भाषा में भागवत का अनुवाद किया। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में विजय नगर सम्राट् कृष्णराय के समय में धारवाड़ जिले के कुमार व्यास कवि ने कन्नड महाभारत की रचना की। उसी शताब्दी में कुमार वाल्मीकि ने कन्नड़ रामायण बनाई। चाटु विट्ठलनाथ ने उसी शताब्दी में भागवत पुराण का कन्नड़ भाषा में काव्यानुवाद किया। कन्नड़ साहित्य की एक विशेष विभूति वैष्णव दासों के रचे हुए पद हैं, जिनकी रचना गाँव-गाँव में पैदल घूमते हुए भक्तों ने मध्वाचार्य और चैतन्य की शिक्षा के अनुसार की। दासर पदगल

(दासों की पदावली) नाम से उन पदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। उनमें सबसे प्रसिद्ध पंढरपुर के निवासी पुरंदर दास थे, जिनकी १६२१ सं० में मृत्यु हुई। उन्हीं के समकालीन कनकदास थे, जिन्होंने कृष्ण के संबंध में पौराणिक कथाओं को लेते हुए मोहन तरंगिणी नामक ग्रंथ की रचना की। पुरंदर दास और कनक दास कन्नड़ भाषा के सूर और तुलसी हैं। मध्वाचार्य और चैतन्य के प्रभाव से दास संज्ञक भक्तों ने जिस वैष्णव धर्म की स्थापना की वह कन्नड़ प्रदेश का समन्वयप्रधान जातीय धर्म बन गया और उसी की गोद में जैन और लिंगायत धर्म की धाराएँ भी लीन हो गईं। सोलहवीं शताब्दी में पाटण गुजरात के महाकवि भालण ने भागवत दशमस्कंध का बहुत ही ललित पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इससे पूर्व भी संवत् १५२८ में प्रभासपट्टन के कायस्थ केशव हृदयराम ने भागवत दशम स्कंध का पद्यानुवाद रचा था। उसके कुछ ही वर्ष बाद संवत् १५४१ में सिद्धपुर पाटण के भीम नामक कवि ने हरिलीला-षोडशकला नामक कृष्ण-चरित की रचना की थी। गुजराती पदों की रचना में कवि परमानन्द (१७ वीं–१८ वीं शती) का स्थान बहुत ऊँचा है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक प्रांतीय साहित्य ने सोलहवीं शती की भक्ति प्रधान क्रांति और साहित्यिक पुनरुत्थान में भाग लिया।

हिंदी के क्षेत्र में तुलसीदास और सूरदास इस युग के मुख्य तिनिधि हैं, जिनमें एक ही युगधारा राम और कृष्ण को प्रतीक बनाकर दो रूपों में प्रकट हुई। कृष्ण-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा में बल्लभाचार्य (जन्म सं १५३५, मृत्यु सं० १५८७) और उनके प्रतिभाशाली पुत्र विट्ठलनाथ (जन्म सं० १५७२, मृत्यु सं०१६४२)ने प्रमुख भाग लिया। बल्लभाचार्य ने यों तो सारे देशमें भ्रमण किया था, किंतु उन्होंने ब्रज को विशेष रूप से अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। उनके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ में लोक संग्रह की विलक्षण शक्ति थी। उन्होंने कला, साहित्य, संगीत की योजना से बल्लभाचार्य के भक्ति धर्म को बहुत ही स्वरूपवान् बना दिया। कृष्ण भक्ति के गायक आठ कवियों को लेकर अष्टछाप की कल्पना का श्रेय उन्हींको दिया जाता है। अष्टछाप के आठों विद्वानों का कार्यकाल सोलहवीं शताब्दी ही है। इनमें से कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास के दीक्षा-गुरु बल्लभाचार्य और गोविंदस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास के दीक्षा-गुरु विट्ठलनाथ थे। अष्टछाप के कवियों का हिंदी साहित्य के लिए बहुत ही महत्व है। उत्तर भारत के लोकमानस से निर्गुण की परंपरा हटाकर उसमें सगुण भावों के प्रति आस्था भरने का बहुत अधिक श्रेय अष्टछाप के महामान्य कवियों को है।

हिंदी जगत् के धार्मिक इतिहास की जमी हुई तहों को जब हम खोलना चाहेंगे, तब अष्टछाप का उद्घाटन किये बिना हमारा काम नहीं चलेगा। इस दृष्टि से अष्टछाप के प्रामाणिक ब्यौरेवार अध्ययन की बहुत आवश्यकता थी। सौभाग्य से हाल ही में श्री दीनदयालु जी गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' नामक बृहत् निबंध ग्रंथ लखनऊ विश्वविद्यालय की डाक्टरेट के लिए प्रस्तुत किया, जिसमें अष्टछाप के कवियों की धार्मिक विचार-धारा एवं प्रभाव, जीवनी और साहित्यिक विशेषताओं का सुंदर विवेचन किया गया है। श्री मीतल जी का प्रस्तुत ग्रंथ उसी परिपाटी को आगे बढ़ाने वाली एक कड़ी है और यह स्वागत के योग्य है। इसमें विषय-प्रतिपादन की शैली संक्षिप्त, सारवती और आलोचना-प्रधान तथ्य पर आश्रित है।

अष्टछाप के कवियों का समस्त साहित्य अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। उनमें भी सूरदास, नंददास और परमानन्ददास--इन तीन की छाप और महत्व बहुत अधिक है, लेकिन अष्टछाप के सिरमौर, उसके वास्तविक सूर्य सूरदास हैं। शुद्ध काव्य के आनंद की दृष्टि से सूरदास की रचना समस्त राष्ट्र की निधि है। निर्गुण और सगुण की जैसी मर्मस्पर्शी विवेचना सूरदास के भ्रमर गीत में है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। सूरदास ने मानों अपने पूर्वकालीन लोक मानस के ऊपर जमे हुए निर्गुण के मैल को रच-पच कर धोया और उस पर सगुण का नया रंग चढ़ाया। यही उनका भ्रमर गीत में बड़ा साका था। सूरदास के बाद मानों निर्गुण की पैंठ उठ गई! अष्टछाप के इन अध्ययनों के फलस्वरूप यदि हिंदी संसार सूरसागर के निकट पहुँच सके, यदि उसके अर्थ और पाठानुसंधान के नये अध्यायों का आरंभ हो सके, तो इसे हम बड़ा लाभ समझेंगे।

नई दिल्ली,
२२-१-५०

—वासुदेवशरण

[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट.,
अधीक्षक - राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली]

विषय-सूची

★

प्रथम परिच्छेद

अष्टछाप की पृष्ठ-भूमि

विषय — पृष्ठ संख्या

द्वितीय परिच्छेद

अष्टछाप

(१) अष्टछाप का स्थापना-काल और महत्व

(२) अष्टछाप और वार्ता साहित्य

(३) अष्टछाप का क्रम

तृतीय परिच्छेद

अष्टछाप के कवि

विषय पृष्ठ संख्या

चतुर्थ परिच्छेद

अष्टछाप का काव्य

विषय — पृष्ठ संख्या

षष्ठम परिच्छेद

अष्टछाप का सिंहावलोकन

*

अनुक्रमणिका

(१) काव्य-संग्रह के पदों की अकारादि क्रम से सूची—

(२) नामानुक्रमणिका—

———

सहायक ग्रंथों की सूची

★

संख्या	ग्रंथ	विवरण	रचयिता
१.	चौरासी वैष्णवन की वार्ता	... हस्त लिखित एवं मुद्रित	... गोकुलनाथजी के नाम से प्रसिद्ध
२.	दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता	... ,, ,,	... ,,
३.	हस्त लिखित वार्ता	सं० १७४६ में लिपिवद्ध एवं सरस्वती भंडार, काँकरोली में सुरक्षित	
४.	चौरासी वैष्णवन की वार्ता (लीला भावना वाली)	... अग्रवाल प्रेस, मथुरा	... हरिराय जी
५.	अष्टसखान की वार्ता (लीला भावना वाली)	,,	... ,,
६.	निज वार्ता, घरू वार्ता तथा चौरासी बैठकन के चरित्र	लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद	... ,,
७.	श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य जी वार्ता	... वेङ्कटेश्वर प्रेस, बंबई	... मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या
८.	अष्टछाप ...	.. वार्ता संग्रह	... धीरेन्द्र वर्मा
९.	प्राचीन वार्ता रहस्य (द्वि. भा.)	विद्या विभाग, काँकरोली	... द्वारकादास परीख
१०.	महाप्रभु जी के प्राकट्य की वार्ता	,,	... ,,
११.	खटऋतु वार्ता	... चतुर्भुजदास कथित	... ,,
१२.	वार्ता साहित्य मीमांसा (गुजराती)		... ,,
१३.	विट्ठलेश चरितामृत (,,)		.. ,,
१४.	अणु भाष्य (संस्कृत)	.. बनारस संस्करण	... वल्लभाचार्यजी
१५.	वल्लभ दिग्विजय (,,)	... विद्या विभाग, नाथद्वार	.. यदुनाथ जी
१६.	संप्रदाय प्रदीप (,,)	... विद्या विभाग, काँकरोली	... गदाधर प्रसाद
१७.	संप्रदाय कल्पद्रुम	...	... विट्ठलनाथ भट्ट
१८.	वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती)		.. दुर्गाशंकर शास्त्री
१९.	पुष्टिमार्ग नो इतिहास (गुजराती)	....	... वसंतराम शास्त्री
२०.	काँकरोली का इतिहास	... विद्या विभाग, काँकरोली	.. कंठमणि शास्त्री
२१.	श्री वल्लभ वंशवृक्ष	.. श्रीमद्वल्लभ वंशज गो० परिषद्, काँकरोली	... व्रजभूषणजी

संख्या	ग्रंथ	विवरण	रचयिता
२२.	कीर्तन संग्रह	हस्त लिखित एवं मुद्रित	...
२३.	वर्षोत्सव के कीर्तन	,, ,,	...
२४.	नित्य कीर्तन संग्रह	लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद	...
२५.	पुष्टिमार्गीय पद संग्रह	ठाकुरदास सूरदास, बंबई	...
२६.	बसंत धमार कीर्तन संग्रह (भाग १, २)	लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद	...
२७.	राग कल्पद्रुम	बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता	कृष्णानंद व्यास
२८.	अष्टछाप पदावली	...	सोमनाथ गुप्त
२९.	ब्रज माधुरी सार	हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	वियोगी हरि
३०.	सूरसागर	वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई	राधाकृष्णदास
३१.	सूरसागर	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ	...
३२.	सूरसागर	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	जगन्नाथ रत्नाकर'
३३.	संक्षिप्त सूरसागर	...	वेनीप्रसाद
३४.	सूरदास का दृष्टकूट	...	सरदार कवि
३५.	साहित्य लहरी	पुस्तक भंडार, लहेरियासराय	महादेवप्रसाद
३६.	परमानंदसागर	हस्त लिखित, विद्या विभाग, काँकरोली	परमानंददास
३७.	गोविंदस्वामी के कीर्तन	हस्त लिखित एवं मुद्रित	गोविंदस्वामी
३८.	नंददास पदावली	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	ब्रजरत्नदास
३९.	पंचमंजरी	हस्त लिखित एवं मुद्रित	नंददास
४०.	रासपंचाध्यायी	मुद्रित	,,
४१.	भ्रमरगीत	,,	,,
४२.	भक्तमाल—भक्तिरसबोधिनी	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ	नाभादास-प्रियादास
४३.	भक्तमाल—भक्तविनोद	...	मियाँसिंह
४४.	रामरसिकावली	...	रघुराजसिंह
४५.	नागर-समुच्चय	...	नागरीदास

संख्या	ग्रंथ	विवरण	रचयिता
४६.	भक्त-नामावली ...	...	... ध्रुवदास
४७.	मूल गोसाँई चरित्र ...	...	... वेणीमाधवदास
४८.	वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टमस् (अंगरेजी)		... रामकृष्ण भंडारकर
४९.	इम्पीरियल फरमान्स ...	विद्या विभाग, नाथद्वार ...	के० एम० भावेरी
५०.	शिवसिंह सरोज ...	...	... शिवसिंह सेंगर
५१.	मिश्रबंधु विनोद ...	...	... मिश्रबंधु
५२.	हिंदी नवरत्न ...	...	... मिश्रबंधु
५३.	हिंदी साहित्य का इतिहास	...	... रामचंद्र शुक्ल
५४.	हिंदी साहित्य ...	...	... श्यामसुंदरदास
५५.	हिंदी साहित्य का इतिहास	...	रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
५६.	हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास		... रामकुमार वर्मा
५७.	अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय ...	हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ...	दीनदयाल गुप्त
५८.	परिषद् निबंधावली ...	प्रयाग विश्व विद्यालय ...	धीरेन्द्र वर्मा
५९	तुलसीदास ...	हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्व विद्यालय ...	माताप्रसाद गुप्त
६०.	नंददास (भाग १, २) ..	प्रयाग विश्व विद्यालय ...	उमाशंकर शुक्ल
६१.	नंददास: एक अध्ययन ...	.	...रामरतन भटनागर
६२.	भ्रमरगीत—सार ...	...	... रामचंद्र शुक्ल
६३.	सूरदास ...	...	... ,,
६४.	सूर-निर्णय ...	अग्रवाल प्रेस, मथुरा ...	द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल
६५.	सूर-सौरभ (भाग १,२) ..	...	... मुंशीराम शर्मा
६६.	सूरदास ...	हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्व विद्यालय ...	ब्रजेश्वर वर्मा
६७.	सूर—साहित्य ...	...	... हजारीप्रसाद द्विवेदी
६८.	सूर-साहित्य की भूमिका ...	...	... रामरतन भटनागर, वाचस्पति त्रिपाठी
६९.	सूरदास: एक अध्ययन ...	...	...रामरतन भटनागर
७०.	सामयिकपत्र [शुद्धाद्वैत (गुज०) ब्रजभारती हिंदुस्तानी सम्मेलन पत्रिका आदि]		

———

चित्र-सूची

अष्टछाप-परिचय

प्रथम परिच्छेद
अष्टछाप की पृष्ठ-भूमि

★

१. प्रासंगिक विवेचन

अष्टछाप या अष्टसखा—

विक्रम की १६ वीं शताब्दी के मध्य में महाप्रभु बल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म की एक विशिष्ट शाखा की स्थापना की थी। यह शाखा 'पुष्टि संप्रदाय' के नाम से विख्यात है। महाप्रभु बल्लभाचार्य के अनंतर उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता द्वारा स्थापित संप्रदाय की सांगोपांग उन्नति की। महाप्रभु बल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठलनाथ के अनेक शिष्य थे। बल्लभाचार्य जी के शिष्यों में ८४ शिष्य प्रमुख थे, जिनका विवरण "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में दिया हुआ है। विट्ठलनाथ जी के शिष्यों में २५२ शिष्य मुख्य थे, जिनका वृत्तांत "दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता" से ज्ञात होता है। वे सभी शिष्य श्रद्धालु भक्त तो थे ही, किंतु उनमें से कतिपय महानुभाव कवि, गायक और कीर्तनकार भी थे।

विक्रम की १७ वीं शताब्दी के आरंभ में गोसाईं विट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों की एक मंडली बनायी। उस मंडली के आठों महानुभाव परम भक्त होने के अतिरिक्त अपने समय में पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ काव्यकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। वे १७ वीं शती के आरंभ से सं० १६३६ तक एक दूसरे के समकालीन थे। वे आठों महानुभाव ब्रज के गोवर्धन नामक स्थान में रहकर श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा किया करते थे। पुष्टि संप्रदाय के अनेक शिष्यों में से उन आठों के निर्वाचन द्वारा गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन पर अपने आशीर्वाद की 'छाप' लगायी थी। उस मौखिक छाप के कारण ही वे "अष्टछाप" के नाम से प्रसिद्ध हुए। अष्टछाप के आठों महानुभावों के नाम आगे लिखे जाते हैं—

१.	कुंभनदास	महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य।
२.	सूरदास	,, ,, ,,
३.	परमानंददास	,, ,, ,,
४.	कृष्णदास	,, ,, ,,
५.	गोविंदस्वामी	गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य।
६.	नंददास	,, ,, ,,
७.	छीतस्वामी	,, ,, ,,
८.	चतुर्भुजदास	,, ,, ,,

पुष्टि संप्रदाय की मान्यता है कि वे आठों भक्तजन श्रीनाथ जी की नित्य-लीला में अंतरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते हैं। जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी प्रकट हुए, तब उनकी सेवा के लिए वे आठों सखा भी उत्पन्न हुए। इस मान्यता के अनुसार अष्टछाप के आठों महानुभाव पुष्टि संप्रदाय में "अष्टसखा" के नाम से विख्यात हैं। उन अष्ट सखाओं ने अपनी मनोहर पद-रचना द्वारा श्रीनाथ जी की लीलाओं का गायन किया था। निम्न लिखित उद्धरण से भी इस कथन की पुष्टि होती है—

"जब श्री गोवर्धननाथ जी प्रगट भये, तब अष्टसखा हू भूमि में प्रगट भये, अष्टछाप रूप होय कैं सब लीला कौ गान करत भये†।"

हिंदी साहित्य में वे आठों महानुभाव काव्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं; यद्यपि वे सांप्रदायिक भक्त भी थे। वस्तुतः वे सांप्रदायिक पहले हैं और साहित्यिक बाद में। "अष्टसखा" से उनके सांप्रदायिक रूप का बोध होता है, और "अष्टछाप" से उनके साहित्यिक रूप का; यही कारण है कि हिंदी साहित्य में वे "अष्टसखा" की अपेक्षा "अष्टछाप" के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। आगामी पृष्ठों में यथा स्थान हम उनके उभय रूपों पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

अष्टछाप का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि स्वरूप पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक आचार्यों के जीवन वृत्तांत, पुष्टिमार्ग का संक्षिप्त विवरण और तद्विषयक अन्य बातें जानना आवश्यक है, अतः आरंभिक परिच्छेदों में पहले इन विषयों पर विचार कर, बाद के परिच्छेदों में अष्टछाप के आठों महानुभावों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया जावेगा।

† "श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता" पृष्ठ २७

२. पुष्टि संप्रदाय के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य

वंश-परिचय एवं जन्म—

महाप्रभु वल्लभाचार्य के पूर्वज दक्षिण में गोदावरी के तटवर्ती 'काँकरवाड़' नामक ग्राम के निवासी थे। वे भारद्वाज गोत्र के तैलंग ब्राह्मण थे। उनका वंश 'वेलनाट' अथवा 'वेल्लनाडु' कहलाता था। उसी वंश के श्री लक्ष्मण भट्ट वल्लभाचार्य जी के पिता थे। लक्ष्मण भट्ट विद्वान और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे।

लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी इल्लमागारू के साथ तीर्थ-यात्रा करते हुए दक्षिण प्रदेश से उत्तर की ओर आये और प्रयाग, काशी, गया आदि तीर्थों की यात्रा के अनंतर काशी में रहने लगे। वहाँ रहने के कुछ समय पश्चात् नगर में यह चर्चा फैली कि दिल्ली के बादशाह बहलोल लोदी का आक्रमण काशी पर होने वाला है। उस आपत्ति से बचने के लिए सब लोग अपनी सुरक्षा का प्रबंध करने लगे। लक्ष्मण भट्ट और उनके साथ के दक्षिण निवासी उस आपत्ति से बचने के लिए दक्षिण की ओर चल दिये। उस समय लक्ष्मण भट्ट की पत्नी इल्लमम्मागारू गर्भवती थीं।

लक्ष्मण भट्ट उन दिनों की अशांतिपूर्ण परिस्थिति-जन्य आपत्तियों का सामना करते हुए जब वर्तमान मध्यप्रदेशांतर्गत रायपुर जिले के चंपारण्य नामक बन में होकर जा रहे थे, तब उनकी पत्नी को प्रसव-पीड़ा होने लगी। सायंकाल का समय था। सब लोग पास के चौड़ा नगर में रात्रि को विश्राम करना चाहते थे, किंतु इल्लम्मागारू वहाँ तक पहुँचने में भी असमर्थ थीं। निदान लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित उस निर्जन बन में रह गये और उनके साथी आगे बढ़ कर चौड़ा नगर में पहुँच गये।

उसी रात्रि को इल्लम्मागारू ने उस निर्जन बन के एक विशाल शमी वृक्ष के नीचे सात मास के बालक को जन्म दिया। बालक पैदा होते ही कुछ संज्ञाहीन सा ज्ञात हुआ, इसलिए इल्लम्मागारू ने अपने पति को सूचित किया कि मृत बालक उत्पन्न हुआ है। रात्रि के अंधकार में लक्ष्मण भट्ट भी शिशु की विशेष परीक्षा न कर सके। उन्होंने दैवेच्छा पर संतोष मान कर बालक को सूखे पत्तों से ढक दिया, और उसे वहीं पर छोड़ कर आप अपनी पत्नी सहित चौड़ा नगर में जाकर रात्रि में विश्राम करने लगे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने यह

समाचार सुना कि काशी पर यवनों की चढ़ाई का संकट दूर हो गया है। इस समाचार के कारण उनके कुछ साथी काशी वापिस जाने का विचार करने लगे और शेष दक्षिण की ओर जाने लगे। लक्ष्मण भट्ट काशी जाने वाले दल के साथ हो लिये। जब वे गत रात्रि के स्थान पर पहुँचे तो अपने पुत्र को जीवित देख कर उनको बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ। उनकी पत्नी इल्लम्मा-गारू ने तत्काल शिशु को गोद में उठा लिया। बालक का नाम 'वल्लभ' रखा गया। वही बालक बड़ा होने पर सुप्रसिद्ध बल्लभाचार्य हुआ। महाप्रभु बल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ शाके १४०० की वैशाख कृ० ११ रविवार को हुआ था।

विद्याध्ययन और प्रचार—

लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी और अपने शिशु पुत्र बल्लभ सहित काशी के हनुमान घाट पर आकर रहने लगे। वहीं पर वे अध्ययन-अध्यापन तथा ब्राह्मणोचित अन्य कृत्यों को करते हुए अपना जीविकोपार्जन करते थे।

बल्लभ बड़े कुशाग्र बुद्धि के बालक थे। उन्होंने विद्या-प्राप्ति में बड़ी योग्यता प्रदर्शित की। कहते हैं कि १० वर्ष की आयु में ही उन्होंने वेद, वेदांग, दर्शन और पुराणों में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली थी! अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण वे १० वर्ष को अल्पायु में ही काशी में प्रसिद्ध हो गये थे। वहाँ पर होने वाले शास्त्रार्थों में वे उत्साह पूर्वक भाग लेते थे और अपने अपार पांडित्य एवं प्रबल तर्कों से वयोवृद्ध विद्वानों को भी निरुत्तर कर देते थे। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही काशी की विद्वन्मंडली में उनका यथेष्ट प्रभाव हो गया था।

सं० १५४५ में उनके पिता लक्ष्मण भट्ट का काशी में देहांत हो गया। उसी वर्ष की वैशाख कृ० १५ को बल्लभाचार्य जी ने जगदीशपुरी की यात्रा की और वहाँ पर अपने पिता की स्मृति में दानादि दिया। उस समय वहाँ पर वैष्णव एवं शांकर मत के विद्वानों में शास्त्रार्थ हो रहा था। बल्लभाचार्य जी ने शास्त्रार्थ में भाग लेकर वैष्णव मत का समर्थन किया और विजय प्राप्त की। उस शास्त्रार्थ के अनंतर उन्होंने निराकार मायावाद के विरोध में साकार एवं विशुद्ध ब्रह्मवाद के व्यापक प्रचार करने का निश्चय किया।

उस निश्चय की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी माता को दक्षिण देश के विद्यानगर स्थित उनके पितृ-गृह में पहुँचा दिया और आप अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए समस्त भारत देश की यात्रा करने को चल दिये। उन्होंने

समस्त देश की कई बार यात्राएँ कीं। उन यात्राओं में उन्होंने मायावाद का खंडन एवं ब्रह्मवाद और भक्तिमार्ग का प्रचार किया। बल्लभाचार्य जी का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। इसी शुद्धाद्वैत सिद्धांत और निर्गुण भक्ति का समर्थन करते हुए उन्होंने अनेक बार विपक्षियों को पराजित किया और अपने मत का व्यापक प्रचार किया।

विद्यानगर का शास्त्रार्थ और आचार्यत्व—

जब बल्लभाचार्यजी अपनी तृतीय यात्रा करते हुए दक्षिण में अपने ग्राम कांकरवाड़ में गये, तब उन्होंने सुना कि विद्यानगर में एक बड़ा शास्त्रार्थ हो रहा है। दक्षिण देशीय सुप्रसिद्ध हिंदू नरेश महाराजा नृसिंह वर्मा के सेनापति राजा कृष्णदेव राय† ने विद्यानगर में एक विशाल पंडित सभा का आयोजन किया था, जिसमें विविध संप्रदायों के विद्वान अपने सिद्धांतों की श्रेष्ठता प्रमाणित कर रहे थे। शास्त्रार्थ में एक ओर मध्व, निम्बार्क, विष्णु-स्वामी और रामानुज संप्रदायों के वैष्णव विद्वान थे और दूसरी ओर शंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी और शैव-शाक्त आदि अवैष्णव विद्वान थे। वैष्णवों के प्रमुख वक्ता माध्व संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ थे और अवैष्णवों के प्रमुख वक्ता शंकर मतानुयायी विद्यातीर्थ थे। दोनों पक्षों में प्रबल वाद-विवाद हुआ। अंत में वैष्णव पक्ष गिरने लगा। बल्लभाचार्य भी उस शास्त्रार्थ का समाचार सुनकर वहाँ पर गये थे। उन्होंने वैष्णव पक्ष के समर्थन में ऐसा प्रकांड पांडित्य प्रदर्शित किया कि गिरता हुआ वैष्णव पक्ष प्रबल हो गया और अद्वैतवादियों तथा अवैष्णवों को पराजय उठानी पड़ी। वैष्णवों की इस विजय का कारण बल्लभाचार्यजी थे, अतः वहाँ के वैष्णव आचार्यों और राजा कृष्णदेव राय ने उनका बड़ा सत्कार किया।

बल्लभाचार्य जी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर माध्व संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ उनको अपने संप्रदाय का आचार्य बनाना चाहते थे और विष्णुस्वामी संप्रदाय के आचार्य उनको विष्णुस्वामी की गद्दी पर बैठाना चाहते थे। विष्णुस्वामी ने जिस शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, वह बल्लभाचार्य जी के समय में नाम मात्र के लिए विद्यमान था। कहते हैं कि विष्णुस्वामी की गद्दी पर उस समय विल्वमंगल नामक एक आचार्य थे, जो किसी योग्य विद्वान को अपना उत्तराधिकारी बनाकर आप समाधिस्थ होना चाहते थे। बल्लभा-चार्य जी का दार्शनिक सिद्धांत विष्णुस्वामी मत के अनुकूल था, अतः उन्होंने

† गुजराती ग्रंथ 'श्री विट्ठलेश चरितामृत' पृष्ठ ८५

विष्णुस्वामी संप्रदाय के आचार्य का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' तथा पुष्टि संप्रदाय के अन्य ग्रंथों में बल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी संप्रदाय का आचार्यत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति का नाम बिल्वमंगल लिखा गया है। बिल्वमंगल नाम के तीन व्यक्ति प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर विष्णुस्वामी संप्रदायानुगामी द्राविड़ देशीय बिल्वमंगल से अभिप्राय है*।

राजा कृष्णदेव राय ने शास्त्रार्थ में विजयी होने के कारण बल्लभाचार्य जी का कनकाभिषेक किया और विभिन्न वैष्णवाचार्यों ने उनको विष्णुस्वामी संप्रदाय का आचार्य घोषित करते हुए उनको "आचार्य चक्र चूड़ामणि जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु" की उपाधि से सन्मानित किया। तभी से वे लोक में 'श्रीआचार्यजी महाप्रभु' के नाम से विख्यात हुए। कनकाभिषेक में बल्लभाचार्य जी को विपुल स्वर्ण भेंट किया गया था। उसमें से उन्होंने केवल ७ स्वर्ण मुद्राएँ लेकर शेष को उपस्थित ब्राह्मण विद्वानों में वितरित कर दिया।

बल्लभाचार्य जी की जीवन-घटनाओं में विद्यानगर के कनकाभिषेक का विशेष महत्व है, किंतु उसका ठीक-ठीक संवत् पुष्टि संप्रदाय के ग्रंथों में भी नहीं मिलता है। कतिपय सांप्रदायिक ग्रंथों में बल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा के समय कनकाभिषेक का होना लिखा गया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने भी इसी मत को स्वीकार किया है‡, किंतु ऐतिहासिक काल-क्रम से वह घटना सं० १५६५ से पूर्व की नहीं हो सकती, क्यों कि राजा कृष्णदेव राय का शासन-काल उसी संवत् से आरंभ होता है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'† के कई प्रसंगों में बल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा में ही विद्यानगर के एक शास्त्रार्थ का संकेत मिलता है। उस शास्त्रार्थ में भी उन्होंने मायावाद का खंडन और ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया था। ऐसे शास्त्रार्थ उनकी तीनों यात्राओं में अनेक बार हुए थे। उस शास्त्रार्थ को कनकाभिषेक वाला प्रसिद्ध शास्त्रार्थ समझ लेने से यह भ्रम चल पड़ा है। वास्तव में विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ और कनकाभिषेक का संबंध बल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा से नहीं, प्रत्युत् उनकी तृतीय यात्रा से है। वह शास्त्रार्थ प्रथम यात्रा के शास्त्रार्थ से भिन्न एवं बल्लभाचार्य जी के समस्त शास्त्रार्थों में सबसे अधिक

‡ 'अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय' पृष्ठ ७०

† श्री हरिराय जी कृत तीन जन्म की लीला भावना वाली "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" जो सं० १७५२ की प्रति के आधार पर प्रथम बार श्री द्वारिकादास परीख द्वारा संपादित और अग्रवाल प्रेस, मथुरा द्वारा प्रकाशित हुई है।

* 'संप्रदाय प्रदीप', प्र० ३, पृष्ठ ४५

महत्वपूर्ण था। उसमें प्रायः समस्त संप्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे और बल्लभाचार्य जी ने उन सब पर अपने पांडित्य की छाप लगायी थी।

गुजरात के सावली नामक ग्राम में एक कूए की खुदाई के समय कुछ ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्राप्त हुई है। इस सामग्री में एक जीर्ण ताड़ पत्र भी है, जिसमें बल्लभाचार्य जी के कनकाभिषेक का समय संवत् १५६५ अंकित है*। इस लेख की प्राप्ति से यह सिद्ध हो गया है कि कनकाभिषेक बल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा में नहीं, बल्कि उनकी तृतीय यात्रा में हुआ था। उस समय उनकी आयु ३० वर्ष के लगभग थी।

यात्राएँ—

बल्लभाचार्य जी ने तीन बार विस्तृत यात्राएँ कर समस्त देश का पर्यटन किया था। उनके आरंभिक जीवन की सफलता के लिए उन यात्राओं का बड़ा महत्व है। पुष्टि संप्रदाय में वे यात्राएँ आचार्य जी की 'पृथ्वी प्रदक्षिणाएँ' कहलाती हैं। उन यात्राओं में उन्होंने मायावाद का खंडन और ब्रह्मवाद एवं भक्तिमार्ग का व्यापक प्रचार किया था। अपने मत का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने अनेक बार विपक्षियों को पराजित किया। उनके अधिकांश शिष्य उन्हीं यात्राओं में हुए थे और उनके बहुत से ग्रंथ भी उन्हीं यात्राओं में रचे गये थे। उन यात्राओं की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

प्रथम यात्रा—बल्लभाचार्यजी ने अपनी प्रथम यात्रा अपने पिता की मृत्यु के प्रायः एक वर्ष पश्चात् सं० १५४६ में आरंभ की थी। उस समय उनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी। वे सर्व प्रथम काशी से उज्जैन गये। वहाँ पर उन्होंने अपने मत का प्रचार किया और सं० १५४६ की चैत्र शु० १ को नरोत्तम शर्मा नामक एक ब्राह्मण को वृत्ति पत्रक लिखा। इसके पश्चात् वे दक्षिण गये। वहाँ पर उन्होंने विभिन्न वैष्णवाचार्यों के वेदांत विषयक सिद्धांतों का विशेष रूप से अध्ययन किया और विद्यानगर के शास्त्रार्थ में उन्होंने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हुए मायावाद का खंडन किया। सं० १५५० में वे ब्रज में गये और समस्त ब्रज की यात्रा की। सं० १५५० की श्रावण शु० ११ को उन्होंने गोकुल के ठकुरानी घाट पर श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक पारायण किया। उसी समय से उन्होंने अपने शिष्यों को 'ब्रह्मसंबंध' मंत्र की दीक्षा देना आरंभ किया। वह यात्रा प्रायः ७ वर्ष में पूर्ण हुई।

---

* विद्यापत्तनम्। श्री नृसिंहवर्म सार्वभौम स्वस्ति श्री साम्राज्ये मीन मासे ११ लोक गुरु आचार्य चक्रवर्ति श्री प्रभु वल्लभ हेमाभिषिक्तम् ।....आवृत्ति पूर्ण कार्तिक शुक्ल....अब्द १५६५।

—श्री बसन्तराम शास्त्री कृत गुजराती 'पुष्टिमार्ग नो इतिहास' पृष्ठ १६

द्वितीय यात्रा—उन्होंने अपनी द्वितीय यात्रा सं० १५५४ की ज्येष्ठ शु० २ रविवार को आरंभ की‡। उस यात्रा में उन्होंने प्रेम लक्षणा भक्ति का व्यापक प्रचार किया। उसी यात्रा में वे गोवर्धन भी गये थे। वहाँ पर सं० १५५६ में श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य कर उसकी सेवा-पूजा के लिए व्रज वासियों को आवश्यक आदेश दिया।

उस यात्रा में पंढरपुर के विट्ठलेश भगवान् का दर्शन करते हुए उनको अपना विवाह करने की प्रेरणा प्राप्त हुई; अतः वे दक्षिण से अपनी माता को साथ लेकर यात्रा की समाप्ति पर काशी में आये। वहाँ पर सं० १५५८ की आषाढ़ कृ० ५ को मधुमंगल नामक सजातीय ब्राह्मण की महालक्ष्मी नामक कन्या के साथ उनका विवाह हुआ। वह यात्रा सं० १५५८ में पूर्ण हुई।

तृतीय यात्रा—वह यात्रा पौष सं० १५५८ में आरंभ हुई। उस यात्रा के आरंभ में वे गोवर्धन गये। वहाँ पर उनकी प्रेरणा से अंबाला के एक धनाढ्य सेठ पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी के विशाल मंदिर बनवाने की योजना बनायी। इस मंदिर का निर्माण कार्य सं० १५५९ की वैशाख कृ० ३ को आरंभ हुआ। उस यात्रा में वल्लभाचार्य जी के गौरव की अपूर्व वृद्धि हुई। अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए और अपने मत का प्रचार करते हुए वे सं० १५६३ में काशी में गये। वहाँ पर 'पत्रावलम्बन' की रचना द्वारा उन्होंने मायावादियों को निरुत्तर कर दिया। काशी से वे व्रज में गये। वहाँ पर सं० १५६४ में गोवर्धन स्थित पूरनमल खत्री द्वारा बनवाए हुए नवीन मंदिर में उन्होंने श्रीनाथ जी की मूर्ति को विराजमान किया। उस कार्य के अनंतर वे दक्षिण गये। वहाँ पर सं० १५६५ में उन्होंने विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में भाग लिया। उस शास्त्रार्थ में विजयी होने के कारण राजा कृष्णदेव राय द्वारा उनका कनकाभिषेक किया गया। वह यात्रा सं० १५६६ में पूर्ण हुई।

गृहस्थाश्रम—

ऊपर लिखा जा चुका है कि वल्लभाचार्य जी का विवाह सं० १५५९ के लगभग उनकी दूसरी यात्रा की समाप्ति के अनंतर काशी में हुआ था। उस समय तक वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे और जीवन भर ब्रह्मचारी ही

———

‡ वेद (४) तत्व (५) सर (५) सोम (१) के ज्येष्ठ शुक्ल रवि दूज।
सुद्ध पेख प्रभु कूंच किय, मातुश्री पद पूज॥
—'संप्रदाय कल्पद्रुम' पृ० ३५

रहना चाहते थे, किंतु अपने पीछे अपने मत के प्रचारार्थ उत्तराधिकारी की आवश्यकता समझ कर उनको विवाह करना पड़ा। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी, श्वसुर का मधुमंगल अथवा देवव्रत तथा सास का अत्रिम्मा था।

विवाह के समय बल्लभाचार्य जी की आयु प्रायः २३ वर्ष की† और उनकी पत्नी की अनुमानतः ८ वर्ष की थी। ७ वर्ष पश्चात् सं० १५६६ में उनकी पत्नी का द्विरागमन हुआ। उस समय तक वे अपनी तीनों यात्राओं की पूर्ति, दक्षिण-विजय और आचार्यत्व-ग्रहण कर चुके थे। वे गृहस्थाश्रम के निर्वाहार्थ प्रयाग के दूसरी ओर, यमुना के दक्षिण तट पर स्थित अड़ैल नामक ग्राम में अपना स्थायी निवास बना कर रहने लगे। उनका दूसरा स्थायी निवास काशी के निकटवर्ती चरणाट नामक ग्राम में भी था।

बल्लभाचार्य जी के दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म सं० १५६८ की आश्विन कृ० १२ को अड़ैल ग्राम में हुआ था। छोटे पुत्र विट्ठलनाथ जी का जन्म सं० १५७२ की पौष कृ० ९ को काशी के पास चरणाट ग्राम में हुआ था। दोनों पुत्र अपने पिता के समान विद्वान और धर्मनिष्ठ थे।

श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा—

सं० १५५० के लगभग जब बल्लभाचार्य जी अपनी प्रथम यात्रा करते हुए ब्रज में गये थे, तब उन्होंने गोकुल, मथुरा, वृंदाबन और गोवर्धन में निवास कर श्रीमद्भागवत का पारायण किया था और समस्त ब्रज की यात्रा की थी। उस समय गोवर्धन की गिरिराज पहाड़ी पर एक भगवद् स्वरूप का प्राकट्य हुआ था। वहाँ के ब्रजवासी उसे 'देवदमन' के नाम से पूजते थे और उसके प्रति अत्यंत श्रद्धा और भक्ति भाव रखते थे। सं० १५५६ में जब बल्लभाचार्य जी पुनः गोवर्धन गये, तब सदू पांडे प्रभृति ब्रजवासियों ने उनको उक्त स्वरूप के दर्शन कराये। बल्लभाचार्य जी ने उस स्वरूप का नाम 'श्रीनाथ जी' अथवा 'गोवर्धननाथ' रखा और एक छोटा सा कच्चा मंदिर बनवा कर उसमें उसे विराजमान कर दिया। उस समय सदू पांडे, रामदास चौहान, कुंभनदास प्रभृति अनेक ब्रजवासी बल्लभाचार्य जी के सेवक हुए।

---

† किय विवाह प्रभु वेद विधि, मधुमंगल द्विज गेह।
गुण विंशति में वर्ष मधि, विट्ठलेश लखि नेह॥
—संप्रदाय कल्पद्रुम, पृ० ३८

बल्लभाचार्य जी ने सदू पांडे से श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा करने को कहा, किंतु उन्होंने अपने को ग्रामीण व्रजबासी कहते हुए ठाकुर जी की सेवा-विधि से अपने को अपरिचित बतलाया। तब बल्लभाचार्य जी ने रामदास चौहान से श्रीनाथ जी की सेवा करने को कहा। रामदास चौहान बुंदेलखंड के एक राजपूत थे, जो विरक्त भाव से व्रज में आकर अप्सरा कुंड के पास गिरिराज की कंदरा में भगद्भजन किया करते थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक श्रीनाथ जी की सेवा करना आरंभ किया। सदू पांडे सेवा-पूजा और भोग की सामग्री एकत्रित कर देते थे और कुंभनदास श्रीनाथ जी के सन्मुख कीर्तन किया करते थे। इस प्रकार श्रीनाथ जी की सेवा का आरंभिक प्रबंध कर बल्लभाचार्य जी पुनः अपनी यात्रा को चले गये।

बल्लभाचार्य जी की तृतीय यात्रा के अवसर पर अम्बाला के पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी के विशाल मंदिर बनवाने का संकल्प किया। बल्लभाचार्य जी से स्वीकृति प्राप्त कर आगरा से कुशल कारीगर बुलाये गये, जिन्होंने सं० १५५६ की वैशाख शु० ३ को इस मंदिर के निर्माण का आरंभ किया। द्रव्याभाव के कारण मंदिर का निर्माण कार्य बीच में रुक गया, किंतु तब तक उसका अधिकांश भाग बन चुका था। सं० १५६४ में बल्लभाचार्य जी ने उसी मंदिर में श्रीनाथ जी को विराजमान कर दिया। उस समय रामदास चौहान का देहांत हो गया था, इसलिए बल्लभाचार्य जी ने सदू पांडे के परामर्श से बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथ जी की सेवा के लिए बुलवाया। वे बंगाली वैष्णव राधाकुंड पर रहा करते थे। श्रीनाथ जी की सेवा के लिए उनको वहाँ से बुलवा कर मंदिर के निकटवर्ती रुद्रकुंड पर झोंपड़ी बनवा कर बसाया गया।

आरंभिक अवस्था में श्रीनाथ जी की सेवा का विधान अत्यंत सूक्ष्म रूप में था। उस समय मोरचंद्रिका और गुंजामाल से श्रीनाथजी का श्रृंगार किया जाता था और व्रजवासियों द्वारा अर्पित साधारण सामग्री से उनका भोग धराया जाता था। कुंभनदास कीर्तन सेवा और कृष्णदास भेंटिया का कार्य करते थे। कृष्णदास की लायी हुई भेंट से बंगाली पुजारी सेवा की व्यवस्था किया करते थे।

इस प्रकार की व्यवस्था कर बल्लभाचार्य जी पुनः यात्रार्थ दक्षिण की ओर चले गये। पूरनमल खत्री ने बाद में जवाहरात के व्यापार में बहुत सा द्रव्य कमा लिया, तब उन्होंने श्रीनाथ जी के अधूरे मंदिर को पूरा करा दिया।

सं० १५५६ में जिस मंदिर का निर्माण कार्य आरंभ हुआ था, वह १७ वर्ष पश्चात् सं० १५७६ की वैशाख शु० ३ को पूर्णतया बन कर तैयार हुआ।

श्रीनाथ जी का नवीन मंदिर पूर्णतया बन जाने पर एक समारोह किया गया, जिसमें वल्लभाचार्य जी भी सम्मिलित हुए। तब तक श्रीनाथ जी का वैभव पूर्व की अपेक्षा बहुत कुछ बढ़ गया था। मंदिर में सेवा-सामग्री यथेष्ट परिमाण में एकत्रित होती थी। श्रीनाथ जी के दूध घर की सेवा के लिए सैकड़ों गायें एकत्रित होगयी थीं, जिनके कारण मंदिर का निकटवर्ती ग्राम 'गोपालपुर' कहा जाने लगा। कृष्णदास भेंटिया की अपेक्षा मंदिर के अधिकारी हो गये थे। श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा में कुंभनदास के अतिरिक्त सूरदास भी सम्मिलित हो चुके थे। सेवा–पूजा का कार्य तब भी बंगाली वैष्णव करते रहे। इस प्रकार की व्यवस्था कर वल्लभाचार्य जी काशी के निकटवर्ती अपने स्थायी निवास चरणाट को चले गये।

पुष्टिमार्ग—

किशोरावस्था से ही वल्लभाचार्य जी की प्रवृत्ति शास्त्रीय चिंतन, शास्त्रार्थ एवं सत्य के प्रचार की ओर थी। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने तीन बार देश व्यापी यात्राएँ कीं और भ्रममूलक अज्ञानाधंकार को दूर कर सत्य के प्रकाश की ओर लोगों को आकर्षित किया। उनका दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। कहते हैं यह दार्शनिक मत पहले विष्णुस्वामी द्वारा प्रचलित किया गया था। जब वल्लभाचार्यजी विष्णुस्वामी संप्रदायके आचार्य घोषित कियेगये, तब उन्होंने शुद्धाद्वैत का और भी व्यापक प्रचार किया। जहाँ तक दार्शनिक सिद्धांत का संबंध है, वहाँ तक वल्लभाचार्य जी का मत विष्णुस्वामी संप्रदाय के अनुकूल है, किंतु भक्तिमार्ग के संबंध में वल्लभाचार्य जी का मत विष्णुस्वामी के मत से कुछ भिन्न है। यही कारण है कि मूलतः विष्णुस्वामी संप्रदाय के अंतर्गत होते हुए भी वल्लभाचार्य जी वैष्णव धर्म की एक विशिष्ट शाखा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। यह शाखा 'पुष्टि संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। विष्णुस्वामी संप्रदाय की भक्ति का स्वरूप सगुण एवं तामस है, किंतु वल्लभाचार्य जी ने प्रेम लक्षणा निर्गुण भक्ति का प्रचार किया था। सगुण भक्ति प्रधान विष्णुस्वामी संप्रदाय और निर्गुण भक्ति प्रधान पुष्टि संप्रदाय की एक-वाक्यता और उन दोनों का सामंजस्य करने के लिए उन्होंने अपने विशिष्ट 'सेवा मार्ग' का निर्माण किया था।

बल्लभाचार्य जी द्वारा निर्मित सेवा-प्रणाली में बाल, सख्य, कांत एवं ब्रह्म भावना की सामूहिक व्यवस्था है। श्रीनाथ जी की आठ प्रकार की झाँकियों में बाल्य, सख्य एवं कांत भावना का प्राधान्य है और श्रुति-स्मृति प्रतिपादित शुद्धि एवं वैष्णवी तांत्रिक पूजा में गृहीत अभिषेक, पंचामृत आदि में ब्रह्म भावना का स्पष्टीकरण है। इस प्रकार का 'सेवा मार्ग' बल्लभाचार्य जी की विशिष्टता है।

शिष्य-सेवक—

बल्लभाचार्य जी द्वारा प्रचारित मत अत्यंत सरल, रोचक, आकर्षक और उस समय की परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल था। उनकी तर्क-शैली प्रखर, उनकी युक्तियाँ सारगर्भित और उनकी विवेचना-पद्धति पांडित्यपूर्ण थी। इनके अतिरिक्त उनका व्यक्तित्व भी अत्यंत प्रभावशाली था। इन सब कारणों से वे जहाँ भी जाते थे, वहीं पर अनेक व्यक्ति उनके शिष्य-सेवक बन जाते थे। उनके शिष्यों में ब्राह्मण से शूद्र तक सभी वर्णों और जातियों के स्त्री-पुरुष थे, किंतु उनमें ब्राह्मण और क्षत्रियों की संख्या अधिक थी। उनके शिष्यों में धनी-निर्धन, पंडित-मूर्ख, गुणी-अगुणी, गृहस्थ-विरक्त सभी प्रकार के व्यक्ति थे। कहते हैं बल्लभाचार्य जी के शिष्यों की संख्या १ लाख ८४ हज़ार थी, जिनमें ८४ शिष्य प्रमुख थे। इन ८४ शिष्यों का वृत्तांत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में दिया हुआ है।

कृष्णदास मेघन और दामोदरदास हरसानी बल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। वे प्रायः सदैव उनके साथ रहा करते थे। कृष्णदास मेघन उनके विश्वासपात्र सेवक, खवास और भंडारी—सब कुछ थे। वे बल्लभाचार्य जी की तीनों यात्राओं में उनके साथ थे। वे आरंभ से अंत तक बल्लभाचार्य जी के साथ रह कर उनकी सेवा करते रहे और आचार्य जी के तिरोधान के अनंतर उन्होंने भी विप्रयोग द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया था। दामोदरदास हरसानी उनके अंतरंग एवं पट्ट शिष्य थे। उन्होंने आचार्य जी से पुष्टि संप्रदाय के गूढ़ रहस्यों की भली प्रकार शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य जी के तिरोधान के पश्चात् गोसाईं विट्ठलनाथ ने भी संप्रदाय की सेवा-प्रणाली और उसकी आंतरिक भावना के रहस्य का ज्ञान दामोदरदास हरसानी से ही प्राप्त किया था। उनके एक शिष्य माधवभट्ट थे, जो काश्मीरी पंडित थे। वे आचार्य जी के साथ रह कर उनके रचित ग्रंथों के लेखन का कार्य करते थे। आचार्य जी के शिष्यों में कई धुरंधर विद्वान थे, जिनमें पद्मनाभदास का नाम उल्लेखनीय है।

वल्लभाचार्य जी के शिष्यों में अनेक सुकवि, गायक और कीर्तनकार भी थे, जिनमें कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास प्रमुख थे। उन चारों को बाद में गोसाईं विट्ठलनाथ ने "अष्टछाप" में सम्मिलित किया था। कुंभनदास वल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में थे। वे सं० १५५६ में उन के शिष्य हुए थे। सूरदास और कृष्णदास सं० १५६७ में और परमानंददास सं० १५७७ में वल्लभाचार्य जी की शरण में आये थे। कुंभनदास, सूरदास और परमानंददास श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा करते थे। कृष्णदास पहले श्रीनाथ जी के भेटिया और बाद में मंदिर के अधिकारी नियत किये गये थे।

बैठकें—

अपनी यात्राओं में वल्लभाचर्य जी ने जिन स्थानों में श्रीमद्भागवत का पारायण किया था, अथवा जिन स्थानों का उन्होंने विशेष माहात्म्य बतलाया था, वहाँ पर 'बैठकें' बनवा दी गयी हैं। ये स्थान ८४ हैं, जहाँ पर बनी हुई "महाप्रभु जी की बैठकें" पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों की तरह पवित्र और दर्शनीय मानी जाती हैं। ये बैठकें देश भर में फैली हुई हैं। इनमें से २२ केवल ब्रज में हैं, जो ब्रज चौरासी कोस की यात्रा में पड़ती हैं। सबसे प्रथम बैठक गोकुल के गोविंद घाट की है, जो सं १५५० में वल्लभाचार्य जी के वहाँ पधारने की स्मृति में बनवायी गयी थी।

ग्रंथ-रचना—

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धांतों के प्रचारार्थ अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की थी। उनके अधिकांश ग्रंथ उनकी तीनों यात्राओं में रचे गये थे। उस समय माधवभट्ट आचार्य जी रचित ग्रंथों के लेखन का कार्य करते थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि आचार्य जी के अनेक ग्रंथ भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनके शिष्य-सेवकों के प्रबोधार्थ लिखे गये थे। आगरा निवासी कन्हैयाशाल क्षत्रिय को आचार्य जी ने अपने समस्त छोटे ग्रंथों का अध्ययन कराया था। वल्लभाचार्य जी के देहावसान के अनंतर जब उनके ग्रंथ अप्राप्य हो गये, तब गोसाईं विट्ठलनाथ ने आगरा जाकर कन्हैयाशाल से आचार्य जी के ग्रंथों को प्राप्त किया था*। वल्लभाचार्य जी द्वारा रचे हुए ग्रंथों की संख्या ८४ ‡ अथवा ३५ † बतलायी जाती है, किंतु उनके ३० छोटे-बड़े ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध हैं—

* "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" (अग्रवाल प्रेस) पृष्ठ ५३६, ५४०

‡ वल्लभ दिग्विजय

† संप्रदाय कल्पद्रुम

१. अणु भाष्य, २. सुबोधिनी, ३. पूर्व मीमांसा भाष्य,४. तत्वदीप निबंध, ५. पुरुषोत्तम सहस्रनाम, ६. दशमस्कंध अनुक्रमणिका, ७-२२. षोड़श ग्रंथ, (७. यमुनाष्टक, ८. सिद्धांत रहस्य, ९. नवरत्न, १०. पुष्टि प्रवाह मर्यादा, ११. अंतःकरण प्रबोध, १२. भक्ति वर्द्धिनी, १३. निरोध लक्षण, १४. संन्यास निर्णय, १५. कृष्णाश्रय, १६. सेवाफल, १७. चतुःश्लोकी, १८. सिद्धांत मुक्तावली, १९. बालबोध, २०. विवेक धैर्याश्रय, २१, जलभेद, २२.पंच पद्य) २३. पत्रावलंबन, २४. त्रिविध नामावली, २५. प्रेमामृत, २६. शिक्षाश्लोक, २७. न्यायादेश, २८. सेवाफल विवरण, २९. मधुराष्टक, ३०. परिवृढाष्टक।

इन ग्रंथों में 'अणु भाष्य' और 'सुबोधिनी' सब में अधिक महत्वपूर्ण हैं। अणु भाष्य बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र का बल्लभाचार्य जी कृत भाष्य है, जिसमें उन्होंने शंकर अद्वैत के विरुद्ध अपने शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। सुबोधिनी श्रीमद्भागवत का विद्वतापूर्ण भाष्य है। इसमें भागवत के केवल प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम और एकादश स्कंधों की टीका की गयी है। पुरुषोत्तम सहस्रनाम भी सुप्रसिद्ध सांप्रदायिक पुस्तक है। षोड़श ग्रंथ में आचार्य जी के रचे हुये छोटे-छोटे १६ ग्रंथों का संकलन है। 'अंतःकरण प्रबोध' उनकी अंतिम रचना है†। बल्लभाचार्य जी के समस्त ग्रंथ संस्कृत भाषा में रचे गये हैं।

ब्रजभाषा का प्रचार और उसके साहित्य की अभिवृद्धि—

महाप्रभु बल्लभाचार्य स्वयं उच्चकोटि के कवि थे। उनकी संस्कृत भाषा की काव्य-रचना तो संप्रदाय में प्रसिद्ध है ही, किंतु अब तैलंगी भाषा में रचे हुए उनके कुछ गीत भी प्राप्त हुए हैं। बल्लभ संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा और उसके काव्य की जो अपूर्व उन्नति हुई है, उसका थोड़ा-बहुत उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में हुआ है, किंतु इस संबंध में स्वयं बल्लभाचार्य जी ने कितना कार्य किया था, इस पर अभी अच्छी तरह प्रकाश नहीं डाला जा सका है। बल्लभाचार्य जी ने स्वयं ब्रजभाषा में रचना की या नहीं, तथा अष्टछाप में सम्मिलित उनके चार शिष्यों के अतिरिक्त अन्य कितने शिष्य ब्रजभाषा के काव्यकार थे, इस संबंध में अभी तक हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में बहुत कम लिखा गया गया है। बल्लभ संप्रदाय के साहित्य की खोज करने से ज्ञात हुआ है कि ब्रजभाषा और उसके साहित्य की प्रगति में स्वयं बल्लभाचार्य का भी बहुत-कुछ हाथ था।

† चौरासी वैष्णवन की वार्ता—लीला भावना वाली (अग्रवाल प्रेस) पृष्ठ २५३

संस्कृत भाषा में रचे हुए अनेक ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने उनके एक 'विष्णुपद' ग्रंथ का नामोल्लेख किया है। यह ग्रंथ ब्रजभाषा का बतलाया जाता है, जिसमें विष्णु विषयक पद कहे जाते हैं। हमारी खोज के अनुसार यह ग्रंथ बल्लभाचार्य जी रचित नहीं है। उनकी रची हुई "चौरासी अपराध" नामक ब्रजभाषा गद्य की एक रचना प्राप्त हुई है। यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। बल्लभाचार्य जी रचित ब्रजभाषा काव्य की कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है, किंतु अपने शिष्यों को श्रीनाथ जी और नवनीतप्रिय जी की कीर्तन सेवा में लगाने से, उनके कीर्तनों का रसास्वादन करने से और कई प्रसंगों पर अपने सेवक-कवियों के काव्य की पूर्ति करने से उनका ब्रजभाषा-काव्य का अनुराग ही नहीं, प्रत्युत् तद्विषयक उनका ज्ञान भी प्रकट होता है।

बल्लभाचार्य जी अपने व्याख्यान और प्रचार-कार्य में ब्रजभाषा का ही उपयोग करते थे। उनको यह भाषा इस लिए भी प्रिय थी कि यह उनके इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण से संबंधित है। वे इस भाषा को 'पुरुषोत्तम भाषा' कहते थे। उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ और उत्तरभारत के अन्य दूरस्थ स्थानों में इस भाषा का व्यापक प्रचार किया था। ब्रजभाषा गद्य के प्रचार और उसकी उन्नति का एक मात्र कारण बल्लभ-संप्रदाय का वार्ता साहित्य है, जिसके आरंभ करने का श्रेय स्वयं बल्लभाचार्य जी को ही है।

बल्लभाचार्य जी के प्रोत्साहन से उनके चार शिष्य—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास द्वारा की गयी ब्रजभाषा काव्य-रचना सर्व विदित है, किंतु उनके अन्य शिष्यों ने भी ब्रजभाषा की मनोहर रचना की है। खोज करने पर बल्लभाचार्य जी के अनेक शिष्यों की ब्रजभाषा रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिसमें से अधिकांश का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने नहीं किया है।

हरिराय जी कृत 'लीला भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्ता'* से ज्ञात होता है कि बल्लभाचार्य जी के सेवकों में से निम्न लिखित महानुभाव ब्रजभाषा के कवि थे—

१. गोपालदास काशी वाले, २ गदाधरदास, ३. मुकुंददास, ४. प्रभुदास भाट, ५. त्रिपुरदास, ६. कृष्णदास घघरी, ७. कृष्णदासी, ८. रामदास मेवाड़ी, ९. भगवानदास सांचौरा, १०. लघु पुरुषोत्तमदास, ११. कविराज भाट, १२ गोपालदास ईटोड़ा क्षत्री, १३. गोपालदास नरोड़ा वाले, १४. सूरदास, १५. परमानंददास, १६. कुंभनदास, १७. कृष्णदास अधिकारी, १८. रामदास मुखिया

* अग्रवाल प्रेस द्वारा प्रकाशित.

इनके अतिरिक्त बल्लभाचार्य जी के निम्न लिखित शिष्यों के कवि होने का संकेत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" से भी नहीं मिलता है, किंतु अन्य वार्ताओं और अंतःसाक्षादि से उनका कवि होना प्रमाणित है—

१. दामोदरदास हरसानी, २. पद्मनाभदास, ३. विष्णुदास छीपा,
४. जीवनदास खत्री, ५. कन्हैयाशाल, ६. अवधूतदास

उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त बल्लभाचार्य जी के निम्न लिखित सेवकों के नाम "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में नहीं हैं, किंतु खोज में उनकी ब्रजभाषा रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—

१. अग्रदास, २. यादवेन्द्र, ३. लकुटी, ४ ज्ञानचंद
५, विष्णुदास, ६. श्रीभट्ट (निंबार्क से भिन्न)

इनमें अग्रदास और लकुटी विष्णुस्वामी संप्रदाय में दीक्षित थे, शेष कवि पुष्टिमार्गीय थे। इनमें से अधिकांश कवियों का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास में नहीं किया गया है। इन कवियों की उपलब्ध रचनाएँ इतनी उत्तम हैं,जिनसे ब्रजभाषा साहित्य की अभिवृद्धि होना निश्चित है, अतः इतिहास ग्रंथों में भी उनका आदर पूर्वक उल्लेख होना उचित है।

तिरोधान—

अपने लौकिक कार्य की पूर्ति समझ कर महाप्रभु बल्लभाचार्य सं० १५८७ की ज्येष्ठ कृ० १० को अड़ैल से प्रयाग आये। वहाँ पर उन्होंने विधि पूर्वक संन्यास ग्रहण किया और काशी में आकर रहने लगे। काशी में रहते हुए उन्होंने पुष्टिमार्गीय संन्यास के नियमों का पूर्णतया पालन किया और ४० दिन तक अनशन और विप्रयोग करने के अनंतर सं० १५८७ की आषाढ़ शु० ३ को मध्याह्न के समय उन्होंने काशी के हनुमान घाट पर गंगा की बीच धारा में जल-समाधि प्राप्त की। बल्लभाचार्य जी के तिरोधान के समय उनकी आयु ५२ वर्ष की थी।

व्यक्तित्व और महत्व—

बल्लभाचार्य जी का व्यक्तित्व महान् और आकर्षक था। वे अपने समय के धुरंधर विद्वान, आदर्श महात्मा और सुप्रसिद्ध धर्माचार्य थे। वे निस्पृह, त्यागी और परोपकारी थे। उनको राजा-महाराजा और धनी-मानी सेवकों से अनेक बार अपार द्रव्य-प्राप्त हुआ था, किंतु उन्होंने उसे स्वयं स्वीकार न कर साधु-संत और विद्वन्मंडली में वितरित करा दिया, अथवा भगवत्सेवा में लगा दिया।

उनका स्वभाव सरल और रहन-सहन सादा था। उन्होंने जीवन भर सिले हुए वस्त्रों का व्यवहार नहीं किया और न चरण-पादुका आदि ही धारण कीं। जो चरण-पादुकाएँ आचार्य जी की कही जाती हैं, वे उनके व्यवहार में नहीं आयी थीं, बल्कि शिष्यों के आग्रह से उन्होंने उनका स्पर्श मात्र कर दिया था।

उन्होंने २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य, १२ वर्ष तक गृहस्थ, १५ वर्ष और १ मास तक वानप्रस्थ तथा लगभग १॥ माह तक संन्यास धारण किया। उनका संन्यास अनशन रूप में भक्तिमार्गीय विप्रयोग पद्धति का था।

जिस समय वल्लभाचार्य जी उत्पन्न हुए थे, उस समय देश की बड़ी शोचनीय अवस्था थी। उन्होंने तीन बार समस्त देश की यात्राएँ कर उस समय के दुर्दशाग्रस्त जीवों को सन्मार्ग दिखलाया। जिस समय विधर्मी शासकों के आतंक से हिंदू जनता त्रस्त थी, वेदोक्त कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की मर्यादा नष्ट प्राय हो चुकी थी, तथा नाना प्रकार के वाद और पाखंडों के कारण आस्तिक जन किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, उस समय उन्होंने दुखी जीवों को शान्ति और संतोष प्रदान करते हुए उनके उद्धारार्थ उनको परमब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने का उपदेश दिया। उन्होंने बतलाया कि 'कृष्ण एव गतिर्मम' कहने से और एक मात्र श्रीकृष्ण की शरण में जाने से ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है। इसी साधन से वह समस्त बाह्य एवं आंतर उपाधियों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

राजकीय उपद्रव से भयभीत और विधर्मियों के अत्याचार से निराश हिंदू जनता को उन्होंने अपने उपदेशों से निर्भय और शक्तिसंपन्न बना दिया। उन्होंने जिस सरल, रोचक और आनंददायक मत का प्रचार किया, उसके कारण निराश व्यक्तियों को भी जीवन के सच्चे आनंद का अनुभव हुआ। वल्लभाचार्य जी समस्त वैष्णव आचार्यों में अन्यतम थे। उन्होंने अपने आदर्श जीवन, प्रखर पांडित्य और लोक कल्याण की भावना से एक बार समस्त उत्तर भारत को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। विशेष कर ब्रज, मध्यदेश, राजस्थान और गुजरात के अगणित व्यक्तियों ने उनके संप्रदाय की दीक्षा ली थी। उन्होंने अपने उपदेश से भक्ति-भागीरथी की धारा ऐसी प्रखर गति से प्रवाहित की, जो अनेक विघ्न-बाधाओं के आने पर भी आज तक देश में विद्यमान है।

---

३. श्री गोपीनाथ जी तथा पुरुषोत्तम जी

जन्म एवं संक्षिप्त वृत्तांत—

श्री गोपीनाथ जी का जन्म सं० १५६८ की आश्विन कृ० १२ को अड़ैल में हुआ था। वे बल्लभाचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र थे, अतः वे अपने पिता के देहावसान के अनंतर पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए। गोपीनाथ जी की शिक्षा-दीक्षा बल्लभाचार्य जी की देख-रेख में हुई थी, अतः वे भारी विद्वान थे। उनके जीवन पर उनके पिता का विशेष प्रभाव पड़ा था। वे गंभीर एवं सात्विकी प्रकृति के व्यक्ति थे। उनको एकांत वास और श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों का अनुशीलन विशेष प्रिय था। वे सांप्रदायिक एवं गृहस्थ के कार्यों की देख-भाल अपने छोटे भाई विट्ठलनाथ जी को सौंप कर आप प्रायः जगदीश एवं द्वारिका जैसे सुदूर स्थानों की यात्रा करने चले जाते थे।

गोपीनाथ जी का विवाह बल्लभाचार्य जी की विद्यमानता में दक्षिण देशस्थ पायम्मा नामक एक सजातीय कन्या के साथ सं० १५८२ में हुआ था। उनके पुरुषोत्तम जी नामक एक पुत्र और सत्यभामा एवं लक्ष्मी नामक दो पुत्रियाँ थीं। पुरुषोत्तम जी का जन्म सं० १५८७ में हुआ था।

सं० १५८७ में बल्लभाचार्य जी के देहावसान के अनंतर गोपीनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए। उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ और पूर्व की यात्राएँ कर संप्रदाय का प्रचार किया और वहाँ के अनेक व्यक्तियों को पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित किया। इन यात्राओं में उनके शिष्यों द्वारा जो द्रव्य प्राप्त हुआ था, उसे उन्होंने श्रीनाथ जी को अर्पित कर दिया। इससे उनकी वैराग्य वृत्ति का परिचय प्राप्त होता है।

ग्रंथ-रचना—

गोपीनाथ जी बड़े विद्वान पुरुष थे। इससे अनुमान होता है कि उन्होंने भी अपने पिता एवं छोटे भाई की तरह अनेक ग्रंथों की रचना की होगी, किंतु उनका केवल एक ग्रंथ 'साधन दीपिका' उपलब्ध है। इस ग्रंथ में उन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति की साधन स्वरूपा सेवा-विधि पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में साधन दीपिका के अतिरिक्त उनके रचे हुए तीन अन्य ग्रंथ 'सेवा विधि', 'नाम निरूपण संज्ञा' और 'बल्लभाष्टक' के नाम भी लिखे

गये हैं†, किंतु ये ग्रंथ आज कल उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि उनके देहावसान के अनंतर जब उनकी पत्नी का गुसाईं विट्ठलनाथ जी से विरोध हुआ, तब वे अपने साथ अनेक हस्त लिखित ग्रंथ और निज संपत्ति लेकर अपने पितृ-गृह दक्षिण देश को चली गईं थीं*। संभव है उन ग्रंथों में गोपीनाथ जी की रचनाएँ भी हों, जो बाद में किसी कारण वश नष्ट हो जाने से अप्राप्य हो गयी हों।

देहावसान—

गोपीनाथ जी के देहावसान-काल के संबंध में सांप्रदायिक ग्रंथों में भी मतभेद है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में उनके देहावसान का संवत् १६२० दिया हुआ है‡। इसी के आधार पर काँकरोली के इतिहास में भी यही संवत् दिया गया है। उसमें लिखा है कि गुसाईं विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्यौढ़ी बंद होने की दुर्घटना और गोपीनाथ जी के एक मात्र पुत्र पुरुषोत्तम जी का देहावसान गोपीनाथ जी के जीवन काल में (सं० १६१८ से १६२० के बीच में) हुआ था*। उक्त दुर्घटना का संबंध विशेष रूप से पारवारिक कलह से था, यह बात पूर्णतया प्रमाणित हो चुकी है†। ऐसी दशा में गोपीनाथ जी एवं विट्ठलनाथ जी के पारस्परिक स्नेह एवं सौहार्द के देखते हुए यह संभव ज्ञात नहीं होता कि वह दुर्घटना गोपीनाथ जी की विद्यमानता में हुई हो।

---

† बड़े जु गोपीनाथ कृत, चार ग्रंथ नृप मान।
प्रथम जु साधनदीपिका, सेवाविधि सुखदान॥
संज्ञानामनिरूपण, रु गोपीजन सुखदान।
बल्लभाष्टक ग्रंथ किय, गोपीनाथ सुजान॥
—'संप्रदाय कल्पद्रुम' पृ० १४२

* यदुनाथ जी कृत 'बल्लभ दिग्विजय'

‡ बहुरि जु गोपीनाथ सुनि, छिप्र जाँय जगदीस।
लीन भए बलभद्र मुख, अब्द कलासत बीस॥
—'संप्रदाय कल्पद्रुम' पृ० ६८

* 'कांकरोली का इतिहास' पृ० ८७—८८

† इसका विस्तार सहित वर्णन आगामी पृष्ठों में गुसांई विट्ठलनाथ जी और कृष्णदास अधिकारी के जीवन वृत्तांतों में दिया गया है।

'संप्रदाय प्रदीप' से ज्ञात होता है कि सं० १६१० में उक्त ग्रंथ के पूर्ण होने के समय गोपीनाथ जी और उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी दोनों ही विद्यमान न थे† । ऐसी दशा में 'संप्रदाय कल्पद्रुम' और 'कांकरोली का इतिहास' ग्रंथों में दिया हुआ गोपीनाथ जी का देहावसान संवत् १६२० अप्रामाणिक है। 'संप्रदाय प्रदीप' से सिद्ध है कि गोपीनाथ जी का देहावसान सं० १६१० से पूर्व हो चुका था। 'श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' की मुद्रित प्रति में उनके देहावसान का संवत् १५६० दिया हुआ है, किंतु गोपीनाथ जी ने जगदीशपुरी के वृद्ध पुरोहित 'कृष्णदास गुच्छिकार' को एक वृत्ति पत्र सं० १५६५ में लिखा था*, अतः 'श्रीनाथजी के प्राकट्य की वार्ता' में दिया हुआ संवत् १५६० भी अप्रामाणिक है। ऐसी दशा में गोपीनाथ जी का देहावसान सं० १५६५ से १६१० के बीच में होना संभव है। अब हम उनके देहावसान के यथार्थ संवत् को जानने की चेष्टा करते हैं।

पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि सं० १६०० से गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने सांप्रदायिक एकाधिकार प्राप्त कर लिया था, जो गोपीनाथ जी के आचार्य पद पर रहते हुए संभव नहीं था। गोपीनाथ जी द्वारा लिखित वृत्तिपत्र सं० १६०० के पूर्व के प्राप्त होते हैं। सं० १६०० में मथुरा के उजागर चौबे को दिया हुआ वृत्तिपत्र गुसाईं विट्ठलनाथ जी का लिखा हुआ है। सं० १६०० के पूर्व सांप्रदायिक कार्य से की हुई यात्राओं में गोपीनाथ जी का उल्लेख प्राप्त होता है, किंतु इसके बाद की व्रजयात्रा और गुजरात का प्रदेश विट्ठलनाथ जी द्वारा होना प्रमाणित है। इसके अतिरिक्त पुष्टि संप्रदाय की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना—"अष्टछाप की स्थापना"—भी गुसाईं विट्ठलनाथ जी द्वारा सं० १६०२ में हुई थी। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि सं० १६०० के अनंतर गोपीनाथजी विद्यमान नहीं थे। यदि वे उस समय उपस्थित होते तो आचार्य होने के कारण वे सब कार्य, विट्ठलनाथ जी की अपेक्षा, उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होते। उपर्युक्त प्रमाणों से "श्रीनाथजी के प्राकट्य की वार्ता" में दिया हुआ सं० १५६० और "संप्रदाय कल्पद्रुम" एवं

† 'ततः कियता कालेन ज्येष्ठ पुत्रो गोपीनाथ. पुरुषोत्तममासाद्य स्वरूपमवाप। तत्पुत्रः पुरुषोत्तमाख्यश्च। अथ श्री विट्ठलेश्वरः सर्वदा जयति। तत्पुत्रा गिरिधराद्यश्य श्री वल्लभाचार्य वंश्याः पौत्राद्यश्च सर्वदा जयन्ति।'

—"सम्प्रदाय प्रदीप" (चतुर्थ प्रकरणम्)

* 'कांकरोली का इतिहास' पृ० ८७

"कांकरोली का इतिहास" में दिया हुआ सं० १६२० गोपीनाथजी के निधन संवत् के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। इनके साथ ही यह कथन भी अप्रमाणिक है कि गोसाईं विट्ठलनाथजी के मंदिर-प्रवेश-निषेध की दुर्घटना और पुरुषोत्तमजी का देहावसान गोपीनाथजी की विद्यमानता में हुआ था। पुष्टि संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान और वार्ता साहित्य के विशेषज्ञ श्री द्वारिकादासजी परिख ने सांप्रदायिक घटनाओं की परिश्रम पूर्वक शोध कर गोपीनाथ जी का निधन संवत् १५९९ निर्धारित किया है, जो उपर्युक्त प्रमाणों से हमको भी संगत ज्ञात होता है।

गोपीनाथ जी का उत्तराधिकार—

सं० १५९९ में श्री गोपीनाथ जी का देहावसान जगदीशपुरी में हो जाने से उनके उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोपीनाथ जी के एक मात्र पुत्र पुरुषोत्तमजी का जन्म सं० १५८७ में हुआ था, अतः अपने पिता की मृत्यु के समय उनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी। इस छोटी अवस्था में उनको समस्त उत्तरदायित्व सौंपना संप्रदाय के अधिकांश व्यक्तियों को उचित ज्ञात नहीं हुआ, अतः वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी अपने ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथ जी के उत्तराधिकारी बनाये गये।

पारिवारिक कलह एवं पुरुषोत्तमजी का देहावसान—

गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी गो० विट्ठलनाथ जी के अधिकार प्राप्त करने के विरुद्ध थीं। वे अपने पुत्र पुरुषोत्तम जी को अपने पिता का उत्तराधिकारी बनाना न्यायसंगत मानती थीं। कुछ लोग उनके सहायक होकर पुरुषोत्तम जी के पक्षपाती बन गये। श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी कृष्णदास भी उस समय पुरुषोत्तम जी का पक्ष समर्थन कर रहे थे, अतः उन्होंने गंगाबाई के प्रसंग को लेकर गो० विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के मंदिर आने से रुकवा दिया। इस संबंध का विशेष वृत्तांत आगे कृष्णदास के प्रसंग में लिखा जावेगा।

श्री द्वारिकादास परिख का अनुमान है कि यह पारिवारिक कलह सं० १६०२ में आरंभ हुई, सं० १६०५ में इसने उग्र रूप धारण किया, और सं० १६०६ के लगभग गुसाईं विट्ठलनाथ जी की ड्यौढ़ी बंद की गयी†। इस घटना के छै महीने पश्चात् पुरुषोत्तम जी का देहांत हो गया; तब यह कलह स्वतः शांत हो गयी।

† 'ब्रजभारती' वर्ष ५ अंक १ में प्रकाशित 'हमारे सूर' नामक लेख।

श्री द्वारिकादास परिख द्वारा अनुमानित संवत् "संवाद"* के उल्लेख से भी प्रमाणित सिद्ध होते हैं। "संवाद" का निम्न लिखित उद्धरण विचारणीय है—

'तातें श्री गिरिधर गोविंद जू प्रगटे हैं। अरु श्री बालकृष्ण जू अब प्रगटेंगे। पाछे हम तुम्हारे प्रगटेंगे।"

उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह घटना सं० १६०० से सं० १६०६ के बीच हुई थी, क्यों कि गुसाईं जी के द्वितीय पुत्र गोविंद जी का जन्म सं० १५९९ में और तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी का जन्म सं० १६०६ में हुआ था†। 'अरु श्री बालकृष्ण जू अब प्रगटेंगे' इन शब्दों से यह घटना सं० १६०६ से कुछ समय पूर्व की सिद्ध होती है। इस घटना के समय पुरुषोत्तम जी की आयु भी राजकीय नियमानुसार उत्तराधिकार के उपयुक्त होनी चाहिए, तभी उनका झगड़ा चल सकता था और तभी अधिकारी कृष्णदास जैसें कुशल-नीतिज्ञ उनका पक्ष ले सकते थे। ऐसी आयु १८ वर्ष की होती है। पहले लिखा जा चुका है कि पुरुषोत्तम जी का जन्म सं० १५८७ में हुआ था, अतः सं० १६०६ में उनका वयस्क होना सिद्ध होता है। इसलिए भी इस पारिवारिक कलह और ड्यौढ़ी बंद होने की दुर्घटना का समय सं० १६०६ ही प्रमाणित होता है।

अधिकारी कृष्णदास की वार्ता से ज्ञात होता है कि गुसाईं जी का विप्रयोग छै महीने अर्थात् पौष शु० ६ से आषाढ़ शु० ५ तक चला था‡। इसके पश्चात् राजकीय हस्तक्षेप से वह झगड़ा समाप्त होगया था। इससे यह ज्ञात होता है कि इसी अवधि में पुरुषोत्तम जी का देहावसान हो गया होगा, क्यों कि

---

* श्रीनाथ जी की ड्यौढ़ी बंद हो जाने पर जब गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने विप्रयोग करते हुए छै महीने तक चंद्रसरोवर पर निवास किया था, उस समय महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के अंतरंग शिष्य दामोदरदास हरसानी गुसाईं जी के पास गये थे। तब गुसाईं जी के पूछने पर उन्होंने बल्लभाचार्य जी के चरित्रों का जो कथन किया था, वह 'महाप्रभु जी के प्राकट्य की वार्ता' के आरंभिक अंश "संवाद" के रूप में प्राप्त है।

† श्री बल्लभ-वंशवृक्ष

‡ 'प्राचीन वार्ता रहस्य', द्वितीय भाग, पृ० २३१ और 'चौरासी-वैष्णवन की वार्ता' में अष्टसखान की वार्ता पृ० १३०

उनकी विद्यमानता में यह क्लेश शीघ्र ही शांत होने वाला नहीं था। इन सब बातों से यह सिद्ध हुआ कि सं० १५६६ में श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् उनके उत्तराधिकार के प्रश्न पर पारवारिक कलह का आरंभ हुआ। सं० १६०६ में पुरुषोत्तम जी के वयस्क होने पर इस कलह ने उग्र रूप धारण किया, तभी गुसांई विट्ठलनाथजी की ड्योढ़ी बंद हुई। इस दुर्घटना के कुछ समय पश्चात् पुरुषोत्तम जी की अनायास मृत्यु हो जाने के कारण यह कलह स्वतः शांत हो गयी। इस प्रकार पुरुषोत्तम जी का देहांत उनके पिता की उपस्थिति में नहीं, बल्कि उनके देहावसान के बाद सं० १६०६ में हुआ था, और इसी संवत् में अधिकारी कृष्णदास और गुसाईं विट्ठलनाथ जी के वैमनस्य के कारण मंदिर-प्रवेश-निषेध की दुर्घटना हुई थी।

डा० दीनदयाल गुप्त ने गोपीनाथ जी का निधन सं० १५६५ में और पुरुषोत्तम जी का देहांत इससे भी पूर्व उनके पिता के जीवन-काल में माना है*, जो कि उपर्युक्त प्रमाणों से भ्रमात्मक ज्ञात होता है।

पुरुषोत्तम जी की मृत्यु के अनंतर—

श्री गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी ने अपने पति और पुत्र की मृत्यु के अनंतर गुसाईं विट्ठलनाथ जी के निरीक्षण में रहना स्वीकार नहीं किया। वे निराश होकर अपनी सम्पत्ति और सांप्रदायिक ग्रंथों को लेकर अपने पितृ-गृह चली गयीं। उनके साथ के ग्रंथों में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी और श्री गोपीनाथ जी के रचे हुए कुछ ग्रंथ भी थे। वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों की प्रतिलिपि बाद में गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने आगरा निवासी कन्हैयाशाल से प्राप्त करली थी, किंतु गोपीनाथ जी के कुछ ग्रंथ इस गड़बड़ी में नष्ट हो गये।

---

* अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ७५

४. अष्टछाप के संस्थापक गो० विट्ठलनाथ

जन्म और शिक्षा—

गोसाईं विट्ठलनाथ जी का जन्म सं० १५७२ (शाके १४३७) की पौष कृ० ६, शुक्रवार को काशी के निकटवर्ती चरणाट नामक स्थान में हुआ था। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र और श्री गोपीनाथ जी के छोटे भाई थे।

विट्ठलनाथ जी का उपनयन संस्कार प्रायः ८ वर्ष की अवस्था में सं० १५८० की चैत्र शु० ६ को काशी में किया गया। वहीं पर उनका अध्ययन भी आरंभ हुआ। कहते हैं आरंभ में उनका मन शास्त्रीय अध्ययन और सांप्रदायिक सिद्धांतों के अनुशीलन में कम नहीं लगता था। इसके साथ ही उनको अपने ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथ जी की तरह अपने विद्वान पिता श्री वल्लभाचार्य जी के सहवास का भी पूरा लाभ प्राप्त नहीं हुआ, फिर भी यथा समय उन्होंने सांगोपांग वेद, उपनिषद, वेदांत-दर्शन, भागवत पुराणादि ग्रंथों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सांप्रदायिक साहित्य का भी विधिवत् अनुशीलन कर लिया था, जो उनके रचित ग्रंथों से पूर्णतया प्रकट है।

विवाह और संतति—

उनका प्रथम विवाह महाप्रभु वल्लभाचार्य के देहावसान के अनंतर उनके ज्येष्ठ भ्राता गोपीनाथ जी द्वारा सं० १५८६ के लगभग किया गया। उनकी पत्नी का नाम रुक्मिणी था। इनसे विट्ठलनाथ जी को १० संतान—६ पुत्र एवं ४ पुत्रियाँ प्राप्त हुईं। सं० १६१६ में उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। रानी दुर्गावती के आग्रह से उन्हीं की राजधानी गढ़ा में उनका दूसरा विवाह सं० १६२० में पद्मावती नामक कन्या के साथ हुआ। इनसे भी उनको सं० १६२८ में घनश्याम जी नामक एक पुत्र की प्राप्ति हुई। इस प्रकार उनके सात पुत्र थे, जिनके कारण बाद में पुष्टि सम्प्रदाय की सात गद्दियाँ प्रचलित हुईं।

श्रीनाथ जी के मंदिर की सेवा-व्यवस्था—

सं० १५७६ की वैशाख शु० ३ को गोवर्धन के गोपालपुर में श्रीनाथ जी का नवीन मंदिर पूरी तरह बन कर तैयार हो गया था। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा का भार विरक्त बंगाली वैष्णवों को सौंप कर

कृष्णदास को मंदिर का अधिकारी बना दिया था। महाप्रभु जी के देहावसान के पश्चात् भी यही व्यवस्था चलती रही, किंतु अधिकारी कृष्णदास अब नवीन व्यवस्था करना चाहते थे। श्रीनाथ जी की सेवा करने वाले बंगाली वैष्णवों से उनको बड़ा असंतोष था। 'चौरासी वार्ता' में लिखा है कि इन बंगालियों की पूजा-पद्धति पुष्टि संप्रदाय के अनुकूल नहीं थी। श्रीनाथ जी की मूर्ति के साथ वे देवी की भी उपासना करते थे और उन्होंने श्रीनाथ जी के बहुत से द्रव्य का दुरुपयोग किया था*। अधिकारी कृष्णदास इस अव्यवस्था की शिकायत लेकर गोस्वामी जी के पास गये। उन दिनों वे प्रयाग के पास अड़ैल नामक स्थान में रहते थे। कृष्णदास चाहते थे कि बंगालियों के हाथ से श्रीनाथ जी की सेवा ले ली जाय, किंतु अपने पिता की व्यवस्था के विरुद्ध गुसाईं जी इसके लिए तैयार नहीं हुए। अंत में जब कृष्णदास ने यह कहा कि बंगालियों से सेवा का अधिकार लिए बिना श्रीनाथ जी के मंदिर की सुव्यवस्था और उनके वैभव का विस्तार होना संभव नहीं है, तो उन्होंने उनको हटाने की स्वीकृति दे दी।

अधिकारी कृष्णदास ने युक्ति पूर्वक बंगालियों को श्रीनाथ जी के मंदिर से निकाल दिया और सेवा-पूजा पर अपने आदमियों को नियत कर दिया। इसके बाद गुसाईं जी अड़ैल से गोवर्धन आये और कृष्णदास अधिकारी के परामर्श से उन्होंने मंदिर की नवीन व्यवस्था की। श्रीनाथ जी की सेवा उन्होंने अपने सजातीय तैलंग ब्राह्मणों को देनी चाही, किंतु उनके अस्वीकार करने पर वह बल्लभाचार्य जी के सेवक रामदास प्रभृति साँचौरा-औदीच्य ब्राह्मणों को दे दी गयी। तब से यही लोग पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में सेवा-पूजा करते हैं और तैलंग ब्राह्मण इससे सदैव के लिए वंचित हो गये।

सांप्रदायिक इतिहास से इस घटना का समय सं० १५९० और सं० १६२८ प्राप्त होता है। सं० १५९० में भी यह घटना हो सकती है, क्यों कि इससे कुछ समय पूर्व महाप्रभु बल्लभाचार्य जी का देहावसान हो चुका था और अधिकारी कृष्णदास तब श्रीनाथ जी के मंदिर की नवीन व्यवस्था करने के लिए उत्सुक थे। सं० १५९० में श्री गोपीनाथ जी विद्यमान थे और वे ही तत्कालीन आचार्य थे, किंतु वार्ता में इस घटना के सिलसिले में उनका नामोल्लेख न होकर सर्वत्र विट्ठलनाथ जी का ही नाम लिखा गया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो जिस समय कृष्णदास इसकी स्वीकृति प्राप्त करने अड़ैल गये थे, उस

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) में 'अग्रसखान की वार्ता' पृ० १०४,१०५

समय गोपीनाथ जी अपने परिवार और संप्रदाय की देख-भाल विट्ठलनाथ जी पर छोड़ कर आप दूरस्थ प्रदेश की यात्रा करने चले गये थे, जैसा कि वे प्रायः किया करते थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस समय गोपीनाथ जी का देहावसान हो गया हो और उनके पश्चात् विट्ठलनाथ जी ही सांप्रदायिक व्यवस्था कर रहे हों। वार्ता के प्रसंगों की पूर्वापर संगति मिलाने से यह घटना सं० १५६० की अपेक्षा गोपीनाथ जी के देहावसान के अनंतर सं० १६०२ के लगभग होना समीचीन ज्ञात होता है। यही वह समय है जब गुसाईं विट्ठलनाथ जी संप्रदाय के प्रमुख व्यक्ति होते हुए भी पारिवारिक अशांति के कारण कोई नवीन व्यवस्था करने में शंकित होते थे। सं० १६०६ तक बंगालियों से श्रीनाथ जी की सेवा विषयक सभी अधिकार निश्चय पूर्वक लिये जा चुके थे और अधिकारी कृष्णदास का प्रभुत्व इतना बढ़ गया था कि उन्होंने पुरुषोत्तम जी का पक्ष लेकर विट्ठलनाथ जी को भी श्रीनाथ जी के मंदिर में आने से रुकवा दिया था। सांप्रदायिक इतिहास में इस घटना का संबंध जो सं० १६२८ से मिलता है, उसका भी कारण है। बंगालियों को सेवा से निकालने के बाद वे बहुत दिनों तक अपने अधिकारों के लिए झगड़ा करते रहे, किंतु कृष्णदास की नीतिज्ञता के कारण उनको सफलता नहीं मिलती थी। सं० १६२८ में, अकबर के शासन-काल में, बंगालियों ने श्रीनाथजी की मालकियत का प्रश्न फिर से उठाया और वे अपनी फरियाद बादशाह के पास तक ले गये। उस समय अधिकारी कृष्णदास ने बीरबल के नाम विट्ठलनाथ जी से पत्र मँगवाया था। बीरबल की सहायता से ही बंगालियों का झगड़ा सदा के लिए तय हुआ। यह अंतिम निर्णय सं० १६२८ में हुआ था। इस प्रसंग में बीरबल का नाम 'वार्ता' में आया है, उसकी संगति भी इसी प्रकार मिल सकती है; अन्यथा इस घटना के आरंभिक काल में बीरबल का हस्तक्षेप इतिहास के विरुद्ध है।

संप्रदाय का उत्तरदायित्व—

सं० १५९९ में गोपीनाथ जी का असमय में ही जगदीशपुरी में देहावसान हो गया। उस समय उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी केवल १२वर्ष के बालक थे, अतः संप्रदाय एवं गृहस्थ का समस्त भार विट्ठलनाथ जी के ऊपर आ गया। गोपीनाथ जी के जीवन-काल में भी इनकी देखभाल विशेष रूप से विट्ठलनाथ जी ही करते थे। गोपीनाथ जी का अधिकांश समय यात्रा, स्वाध्याय और एकांत वास में व्यतीत होता था। पुष्टि संप्रदाय की आचार्य-गद्दी पर रहते हुए भी गोपीनाथ जी का आकर्षण श्रीनाथ जी की अपेक्षा

जगन्नाथ जी के प्रति विशेष था । वे जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ बार-बार जगदीशपुरी जाया करते थे, और अंत में वहीं पर उनका देहावसान भी हुआ। विट्ठलनाथ जी बचपन से ही श्रीनाथ जी के परम भक्त थे। वे गोवर्धन में महीनों रह कर श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा किया करते थे।

'वार्ता' से ज्ञात होता है कि बल्लभाचार्य जी की विद्यमानता में भी गोपीनाथ जी के सांप्रदायिक विचार उनके सिद्धांतों के पूर्णतया अनुकूल नहीं थे। बल्लभाचार्य जी ने पुष्टि मार्ग का प्रचार किया था, किंतु गोपीनाथ जी 'मर्यादा मार्गीय' कहलाते थे*। संप्रदाय में यह भी मान्यता चल पड़ी थी कि विट्ठलनाथ जी कृष्ण के और गोपीनाथ जी बलदेव के अवतार हैं†, अतः सांप्रदायिक व्यक्तियों का आकर्षण गोपीनाथ जी की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी की ओर विशेष रहता था। 'वार्ता' में ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं, जब कि शिष्यों ने गोपीनाथ जी का चरणोदक न लेकर विट्ठलनाथ जी का लिया था‡। उस समय जो पुष्टि संप्रदाय के शिष्य बनते थे, वे भी अपनी दीक्षा प्रायः विट्ठलनाथ जी से लेते थे, गोपीनाथ जी से नहीं। यही कारण है कि अष्टछाप के तीन व्यक्ति गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास गोपीनाथ जी के आचार्य गद्दी पर रहते हुए भी विट्ठलनाथ जी से ही दीक्षित हुए थे। इन सब बातों से सिद्ध है कि विट्ठलनाथ जी अत्यंत लोकप्रिय और पुष्टि-संप्रदाय के सेवकों के अत्यंत आदरणीय थे।

गोपीनाथ जी के निधन के अनंतर सं० १६०० में विट्ठलनाथ जी सह कुटुंब ब्रज में आये और अपने ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति में उन्होंने ब्रज-यात्रा की। उसी समय उन्होंने मथुरा के उजागर चौबे को एक वृत्ति-पत्र लिखा था। इन कार्यों से निवृत्त होकर उन्होंने श्रीनाथ जी के मंदिर की व्यवस्था पर ध्यान दिया। बंगाली वैष्णवों को निकालने के पश्चात् अधिकारी कृष्णदास बड़ी कुशलता से श्रीनाथ जी के मंदिर का प्रबंध करने लगे थे। अभी तक बल्लभाचार्य जी द्वारा निर्मित सामान्य विधि से ही श्रीनाथ जी की सेवा होती थी। गोपीनाथ जी ने अपने जीवन-काल में उसमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी, किंतु विट्ठलनाथ जी अब

---

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता, लीला भावना वाली (अग्रवाल प्रेस) पृ० २०७

† ,, ,, ,, ,, पृ० १६१, ४७८

‡ ,, ,, ,, ,, पृ० १७

संप्रदाय का वैभव बढ़ाना चाहते थे, अतः उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा-प्रणाली में भी तदनुसार परिवर्तन करने का विचार किया। उन्होंने इस संबंध में अधिकारी कृष्णदास से परामर्श किया। कृष्णदास पहले से ही इस परिवर्तन की आवश्यकता समझते थे, अतः वे विट्ठलनाथ जी से सहर्ष सहमत हो गये।

इस प्रकार के परिवर्तन के लिए द्रव्य की अत्यंत आवश्यकता थी। विट्ठलनाथ जी और अधिकारी कृष्णदास दोनों ही इसकी व्यवस्था करने लगे। विट्ठलनाथ जी ने इस कार्य के लिए प्रदेश जाने का विचार किया, अतः सं० १६०० में ही वे अड़ैल होते हुए गुजरात गये। गोपीनाथ जी के निधन के उपरांत सांप्रदायिक कार्य से की हुई अपनी इस प्रथम यात्रा में विट्ठलनाथ जी को अत्यंत सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने इस यात्रा में पुष्टि संप्रदाय का खूब प्रचार किया। वे जहाँ भी गये, वहीं पर अनेक व्यक्ति उनके सेवक हुए और उनको यथेष्ट धन प्राप्त हुआ। यात्रा के अनंतर वे गोवर्धन गये और समस्त प्राप्त धन को श्रीनाथ जी की भेंट कर दिया। इस प्रकार श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की यथोचित व्यवस्था कर वे गोकुल गये और वहाँ कुछ समय रहने के अनंतर वे अपने स्थायी निवास अड़ैल चले गये।

आचार्यत्व का झगड़ा—

यद्यपि विट्ठलनाथ जी ने अभी तक अपने को पुष्टि संप्रदाय का आचार्य घोषित नहीं किया था, तथापि संप्रदाय के अधिकांश व्यक्तियों ने उनको आचार्य मान लिया था। यह बात गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी को असह्य थी। वे अपने पुत्र पुरुषोत्तम जी को इस पद का अधिकारी मानती थीं। गोपीनाथ जी के पुत्र होने के कारण नियमानुसार पुरुषोत्तम ही पुष्टि संप्रदाय की आचार्य गद्दी के वास्तविक अधिकारी थे, किंतु वे अल्पवयस्क थे और और विट्ठलनाथ जी अत्यंत लोकप्रिय एवं इस पद के सर्वथा योग्य थे; अतः उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला कोई नहीं था।

जब तक पुरुषोत्तम जी अल्पवयस्क थे, तब तक उनकी माता भी चुप रहीं। सं० १६०५ में जब पुरुषोत्तम जी को १८ वाँ वर्ष लगा, तब उनकी माता ने उनको पुष्टि संप्रदाय का आचार्य स्वीकृत कराने का आंदोलन उठाया। स्वयं विट्ठलनाथ जी के समक्ष उनको अपना मन्तव्य प्रकट करने का साहस नहीं हुआ, अतः वे संप्रदाय के कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा अपने उद्देश्य को सिद्ध कराने की चेष्टा करने लगीं। विट्ठलनाथ जी की योग्यता

और उनके बढ़े हुए प्रभाव के कारण कोई व्यक्ति उनके विरुद्ध पुरुषोत्तम जी का पक्ष समर्थन करने वाला मिलना कठिन था; किंतु दैवयोग से उस समय एक ऐसी घटना हुई, जिसके कारण गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी को पुरुषोत्तम जी का पक्ष समर्थन करने के लिए श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी कृष्णदास जैसे प्रभावशाली व्यक्ति प्राप्त हो गये।

जिस समय का विवरण लिखा जा रहा है, उस समय गंगाबाई नामक एक वैष्णव महिला का श्रीनाथ जी के मंदिर में अधिक आना-जाना रहता था। गंगाबाई श्रीनाथ जी की सेविका और बल्लभाचार्य जी की शिष्या थी। वह एक धनाढ्य महिला थी और उसके द्रव्य का कोई उत्तराधिकारी भी नहीं था। उन दिनों श्रीनाथ जी की परिवर्तित सेवा प्रणाली के कारण कृष्णदास को मंदिर के व्यय के लिए द्रव्य की अधिक आवश्यकता रहती थी, अतः उन्होंने गंगाबाई से घनिष्टता बढ़ा कर उसके द्रव्य को श्रीनाथ जी के उपयोग में लेना आरंभ कर दिया। गंगाबाई कृष्णदास की यहाँ तक कृपापात्र हुई कि श्रीनाथ जी के भोग के समय में भी उसे वहाँ से हटाने का किसी को साहस नहीं होता था। श्रीनाथ जी के भोग के समय उसका वहाँ पर रहना पुष्टि संप्रदाय की सेवा-विधि के विरुद्ध था, इसलिए विट्ठलनाथ जी इससे असंतुष्ट थे, किंतु मंदिर के अधिकारी होने के कारण वे कृष्णदास से इस संबंध में कुछ नहीं कहते थे।

गंगाबाई पर अधिकारी कृष्णदास की इस प्रकार अनुचित कृपा बहुत से व्यक्तियों के हृदय में संदेह करने लगी। कई दुर्बुद्धि व्यक्तियों ने यहाँ तक कह डाला कि अधिकारी कृष्णदास और गंगाबाई का अनुचित संबंध है! ऐसे ही व्यक्तियों ने यह शिकायत विट्ठलनाथ जी के पास भी पहुँचाई। विट्ठलनाथ जी पहले से ही गंगाबाई के अनुचित व्यवहार से असंतुष्ट थे, अतः उन्होंने कृष्णदास से इस विषय में कुछ पूछ-ताछ किये बिना ही गंगाबाई का श्रीनाथ जी के मंदिर आना-जाना बंद करा दिया।

विट्ठलनाथ जी की इस आज्ञा पर अधिकारी कृष्णदास बड़े रुष्ट हुए। बंगालियों को सेवा-पूजा से हटाने के कारण उनका प्रभाव बहुत बढ़गया था और श्री बल्लभाचार्य द्वारा मंदिर के अधिकारी बनाये जाने के कारण वे मंदिर के प्रबंध में किसी का हस्तक्षेप भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इसके साथ ही वे विट्ठलनाथ जी की अपेक्षा पुरुषोत्तम जी को बल्लभाचार्य जी की गद्दी का वास्तविक अधिकारी मानते थे। इन सब कारणों से उन्होंने विट्ठलनाथ जी

की गंगाबाई संबंधी आज्ञा की ही अवहेलना नहीं की, बल्कि स्वयं उनको ही श्रीनाथ जी के मंदिर में जाने से रुकवा दिया !

श्रीनाथ जी के मंदिर की ड्यौढ़ी बंद हो जाने से विट्ठलनाथ जी को बड़ा क्लेश हुआ, किंतु उन्होंने अपने पिता द्वारा नियत अधिकारी की आज्ञा का विरोध करने की चेष्टा नहीं की। वे गोवर्धन से हट कर उसके निकटवर्ती परासोली ग्राम में स्थित चंद्रसरोवर पर रहने लगे। वे छै महीने तक श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित रहे, किंतु उन्होंने अधिकारी की आज्ञा के विरुद्ध मंदिर में जाने की कभी चेष्टा नहीं की। इसके साथ ही संप्रदाय के अन्य व्यक्तियों को भी अधिकारी की इस अनुचित आज्ञा के विरोध करने का साहस नहीं हुआ। इस घटना से गो० विट्ठलनाथ जी की शांत प्रकृति और कृष्णदास के प्रभाव का ज्ञान भली भाँति हो सकता है।

'चौरासी वार्ता' में इस दुर्घटना का कारण गंगाबाई को तो बतलाया गया है; किंतु वहाँ पर अनुचित संबंध अथवा पारिवारिक कलह का स्पष्टीकरण नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा गया है कि एक दिन श्रीनाथ जी के राजभोग की सामग्री पर गंगाबाई की दृष्टि पड़ गई, अतः उस सामग्री को श्रीनाथ जी ने स्वीकार नहीं किया। जब यह बात गोस्वामी विट्ठलनाथ को ज्ञात हुई, तो उन्होंने व्यंगपूर्ण शब्दों में अधिकारी कृष्णदास से कहा—"तुम्हारे ही कारण आज श्रीनाथ जी को कष्ट हुआ है।" गोस्वामी जी के इन शब्दों से रुष्ट होकर कृष्णदास ने उनका श्रीनाथ जी के मंदिर में जाना रुकवा दिया ! लीला भावना वाली वार्ता में 'गंगाबाई की दृष्टि' वाली बात तो लिखी गयी है, किंतु उसकी संगति पारिवारिक कलह से भी मिलायी गयी है†। वास्तव में इस दुर्घटना का कारण लोकापवाद और पारिवारिक कलह था, 'गंगाबाई की दृष्टि' की कथा तो गौण है।

श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित होने पर विट्ठलनाथ जी को हार्दिक क्लेष हुआ। वे विप्रयोग पूर्वक अन्न का त्याग कर केवल दुग्धाहार करते हुए परासोली-चंद्रसरोवर पर रहने लगे। उस समय उनके पास वल्लभाचार्य जी के प्रमुख शिष्य दामोदरदास हरसानी भी उपस्थित हुए थे। श्रीमद्भागवत के पारायण के अनंतर विट्ठलनाथ जी उनसे श्री वल्लभाचार्य जी के प्राकट्य की वार्ता और लीला भावना आदि को सुना करते थे। उस समय विट्ठलनाथजी ने जो रचनाएँ की थीं, वे 'विज्ञप्ति' और 'संवाद' के नाम से संप्रदाय में उपलब्ध हैं।

† चौरासी वै० की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) में 'अष्टसखान की वार्ता' पृ० १२८

जब विट्ठलनाथ जी को इस प्रकार रहते हुए छै महीने व्यतीत हो गये और कृष्णदास ने अपनी आज्ञा वापिस नहीं ली, तो उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने मथुरा के हाकिम की सहायता से कृष्णदास को कैद करा दिया और श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने की आज्ञा प्राप्त की। जब गिरिधरजी इस आज्ञा को लेकर गोकुल से परासोली पहुँचे और अपने पिता से श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने को कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया—"कृष्णदास की आज्ञा बिना हम वहाँ कैसे जा सकते हैं?" गिरिधर जी ने कहा—"कृष्णदास तो अपने कर्म के प्रायश्चित स्वरूप मथुरा के कारागार में हैं।" कृष्णदास की विपत्ति के समाचार से विट्ठलनाथ जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि जब तक अधिकारी कृष्णदास बंधन मुक्त नहीं होंगे, तब तक वे अन्न जल ग्रहण नहीं करेंगे। उनकी इस प्रतिज्ञा को सुन कर मथुरा के हाकिम ने अधिकारी कृष्णदास को बंधन मुक्त कर दिया। विट्ठलनाथ जी ने उनको पूर्ववत् श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकारी बना दिया।

विट्ठलनाथ जी की इस अपूर्व क्षमा वृत्ति और उदारता का बड़ा व्यापक प्रभाव हुआ। कृष्णदास तो इससे पानी-पानी हो गये। उन्होंने अपने कृत्य पर पश्चाताप करते हुए विट्ठलनाथ जी से क्षमा-याचना ही नहीं की, प्रत्युत वे उसी दिन से उनके अनन्य भक्त हो गये और उनको साक्षात् श्रीकृष्ण का अवतार मानने लगे। उन्होंने कहा है—

जाके मन में उग्र भरम है, श्री बिट्ठल श्री गिरिधर दोय।
ताकौ संग विषम विष हू तें, भूलैं चतुर करौ जिन कोय॥

'संवाद' के आधार पर इस दुःखद घटना का समय सं० १६०५ सिद्ध होता है। 'वार्ता' के अनुसार विट्ठलनाथ जी पौष शु० ५ से आषाढ़ शु० ५ तक श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित रहे†। सं० १६०६ के आषाढ़ कृष्ण पक्ष में दैवयोग से पुरुषोत्तम जी का असामयिक निधन होगया। जिस पारिवारिक कलह के कारण पूर्वोक्त अप्रिय घटना हुई थी, पुरुषोत्तम जी के निधन से वह स्वतः शांत हो गयी। पुरुषोत्तम जी के निधन दिवस से १३ दिन पश्चात् सं० १६०६ की आषाढ़ शु० ५ को विट्ठलनाथ जी ने पुनः श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश किया।

---

† 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस) में अष्ट० की वार्ता पृ० १३०

आचार्यत्व ग्रहण—

सं० १६०७ में विट्ठलनाथ जी को विधिपूर्वक पुष्टि संप्रदाय का आचार्य बना दिया गया। अब वे सांप्रदायिक उन्नति और ग्रंथ-निर्माण के कार्य में लग गये। सं० १६१० के लगभग गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी निराश होकर अपनी समस्त संपत्ति और ग्रंथों को लेकर अपने पितृ-गृह दक्षिण देश को चली गयीं। उन ग्रंथों में संभवतः वल्लभाचार्य जी के भी कई ग्रंथ थे। यदि उसी समय विट्ठलनाथ जी कन्हैयाशाल आदि आचार्य जी के सेवकों के पास से उन ग्रंथों को लिपिवद्ध न करवा लेते, तो गोपीनाथ जी के ग्रंथों की तरह आचार्य जी के भी कई ग्रंथ लुप्त हो सकते थे।

सांप्रदायिक व्यवस्था—

सांप्रदायिक उत्तरदायित्व सँभालने के पश्चात् उन्होंने सर्व प्रथम महाप्रभु वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रचारित पुष्टि संप्रदाय की सांगोपांग व्यवस्था करने का निश्चय किया। महाप्रभु जी के तिरोधान के समय विट्ठलनाथ जी की आयु केवल १५ वर्ष की थी, अतः उनको पुष्टि संप्रदाय की सेवा-भावना का यथार्थ रहस्य अपने विद्वान् पिता द्वारा जानने का यथेष्ट अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वल्लभाचार्य जी ने अपने सांप्रदायिक रहस्य की शिक्षा विशेष रूप से अपने अंतरंग शिष्य दामोदरदास हरसानी को दी थी। वल्लभाचार्य जी के अनंतर विट्ठलनाथ जी ने दामोदरदास हरसानी से ही पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया था‡? इसके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के देसरे सेवक अच्युतदास से भी उन्होंने मार्ग की रीति-भाँति और लीला-भावना की आवश्यक जानकारी प्राप्त की थी *।

विट्ठलनाथ जी ने विचार किया कि पुष्टिमार्गीय सेवा-भावना का क्रियात्मक रूप से विस्तार करने पर ही संप्रदाय का भली भाँति प्रचार हो सकता है। इसके लिए उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा के अंतर्गत शृंगार, भोग और राग के विस्तार करने की योजना बनायी। वल्लभाचार्य जी के समय में श्रीनाथ जी की सेवा सामान्य विधि से होती थी, अतः उस समय उनका शृंगार केवल पाग और मुकुट द्वारा होता था, किंतु विट्ठलनाथ जी ने उसका विस्तार करते हुए निम्न लिखित आठ शृंगारों की व्यवस्था की—

१. पाग, २. फेंटा, ३. दुमाला, ४. पगा
५. कुलहे, ६. सेहरा, ७. टिपारा, ८. मुकुट

‡ चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) पृ० १०
* ” ” ” पृ० ४६१

अष्टछाप

[स्थापना सं० १६०२]

★

मध्य में—गोसाईं विट्ठलनाथजी

दाहिनी ओर—१. सूरदास, २. कुंभनदास, ३. परमानंददास, ४. कृष्णदास

बायीं ओर—५. गोविंदस्वामी, ६. छीतस्वामी, ७. चतुर्भुजदास ८. नंददास
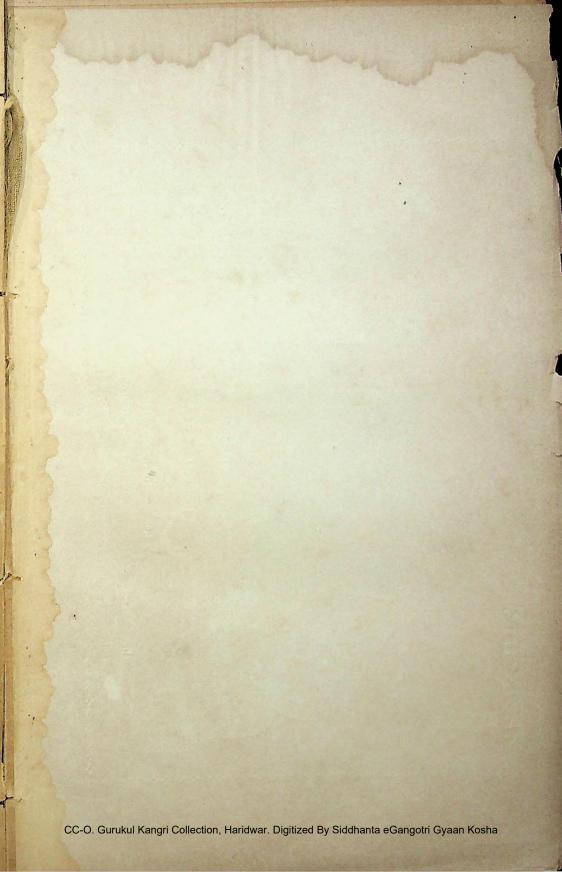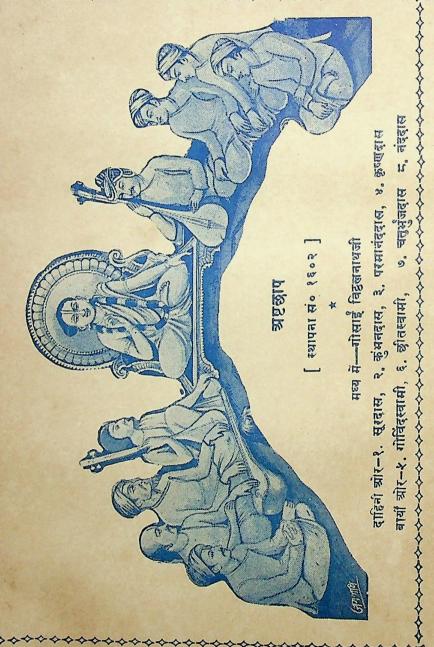
उक्त शृंगारों के साथ नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों की भी व्यवस्था की गयी। उन्होंने अनेक प्रकार के उत्सव भी प्रचलित किये, जिनमें विविध भाँति के शृंगारों द्वारा ठाकुर जी की झाँकी करायी जाती थी।

'भोग' का विस्तार करते हुए उन्होंने आठों समय में ऋतुओं के अनुसार और बाल भाव प्रदर्शक भोज्य सामग्री प्रस्तुत करने की व्यवस्था की। उन्होंने अन्नकूट और छप्पन भोग जैसे उत्सव प्रचलित कर ठाकुर जी को नाना प्रकार के व्यंजन अर्पित करने का नियम बनाया।

'राग' के विस्तार के लिए ठाकुरजी की आठों झांकियों में ऋतु एवं समय के अनुसार कीर्तन की व्यवस्था की गयी। इसके लिए उन्होंने 'अष्टछाप' की स्थापना की। पुष्टि संप्रदाय के प्रचार में 'अष्टछाप' का अपना पृथक् महत्व है, अतः उसके संबंध में विस्तार पूर्वक आगे लिखा जाता है।

अष्टछाप की स्थापना—

ठाकुर जी की आठों झाँकियों के कीर्तन में ऋतु एवं समय के अनुसार विभिन्न राग-रागनियों में गायन करने का विधान है। इसके लिए परमोच्च श्रेणी के कवित्व के साथ ही साथ गायन और वादन कलाओं के यथार्थ ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। वल्लभाचार्य जी के समय में कुंभनदास अपने अवकाश और अपनी सुविधा के अनुसार तथा सूरदास और परमानन्ददास नियमित रूप से विभिन्न पदों के गायन द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। अधिकारी कृष्णदास भी इस संबंध में यथावकाश उनको अपना सहयोग देते थे।

विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में नियमित कीर्तन के लिए काव्य एवं संगीत कला विशारद आठ कीर्तनकारों की आवश्यकता का अनुभव किया। इसके लिए उन्होंने अपने पिता के उपर्युक्त चार सेवकों—कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास के साथ अपने काव्य एवं संगीत कलाविद् चार शिष्यों—गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास को सम्मिलित कर एक मंडली बनायी, जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

श्रीनाथ जी के सन्मुख कीर्तन करने के लिए उस समय कीर्तनकारों का सुकवि और संगीतज्ञ होने के साथ ही साथ श्रीनाथ जी की अंतरंग लीलाओं का जानकार होना भी आवश्यक समझा गया, ताकि वे भगवल्लीलाओं का यथार्थ एवं वास्तविक रूप में कीर्तन कर सकें। उस समय ऐसी मान्यता

थी कि उपर्युक्त आठों महानुभाव श्रीनाथ जी की मूल लीला स्थित अर्जुन, कृष्ण, तोक, ऋषभ, श्रीदामा, सुबल, विशाल और भोज नामक अंतरंगी आठों सखाएँ हैं†, जो क्रमशः कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास के रूप में श्रीनाथ जी के साथ उनकी सेवा के लिए भूमि पर अवतरित हुए हैं। इसीलिए अष्टछाप के ये आठों महानुभाव संप्रदाय में 'अष्टसखा' के नाम से भी विख्यात हैं।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में श्री द्वारकेश जी कृत एक छप्पय* छपा हुआ मिलता है, जिसमें अष्टसखाओं के नाम दिये गये हैं। इन नामों में नंददास के स्थान पर विष्णुदास का नाम लिखा गया है। इससे नंददास के संबंध में शंका होती है। बात यह है कि सं० १६०२ तक नंददास के अतिरिक्त अन्य सात कवि पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो चुके थे। नंददास सं० १६०७ में दीक्षित हुए थे। जब विट्ठलनाथ जी ने सं० १६०२ में 'अष्टछाप' की स्थापना की तो उसमें नंददास के स्थान पर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के सेवक विष्णुदास छीपा सम्मिलित किये गये। बाद में नंददास के आने पर उनकी काव्य-संगीत विषयक योग्यता के कारण उनको 'अष्टछाप' में स्थान दिया गया और विष्णुदास छीपा अत्यंत वृद्ध हो जाने के कारण गोसाईं जी के द्वार रक्षक नियत किये गये‡।

---

† श्री कृष्ण ने अपने एकादश सखाओं को निम्न नामों से संबोधित किया है। इनमें से प्रथम आठ नाम 'अष्टछाप' से संबंधित हैं—

"हे कृष्ण स्तोक हे अंशो, श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप॥

—श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, पूर्वार्द्ध, अ० २२

* सूरदास सो तो कृष्ण, तोक परमानंद जानो।
कृष्णदास सो ऋषभ, छीतस्वामी सुबल बखानो॥
अर्जुन कुंभनदास, चत्रभुजदास विसाला।
विष्णुदास सो भोज, स्वामिगोविंद श्रीदामाला॥
अष्टछाप आठों सखा, 'श्री द्वारकेस' परमान।
जिनके कृत गुन गान करि, निज जन होत सुथान॥

‡ सूर-निर्णय, पृष्ठ ६०

गो० विट्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी के इन आठों सखाओं को एकत्रित कर उनको श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में अपने-अपने औसरे से कीर्तन-सेवा करने का आदेश दिया। उन्होंने ऋतु, अवसर और लीला--भावना के अनुसार समय--समय पर जिन पदों का गायन किया था, वे आज भी पुष्टि संप्रदाय और व्रजभाषा साहित्य की अमूल्य निधि हैं। विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप की स्थापना द्वारा संप्रदाय और साहित्य की उन्नति के लिए बड़ा अपूर्व कार्य किया था।

अष्टछाप के आठों महानुभावों का शरणागति-काल और उनके मूल लीला स्थित नामों का विवरण इस प्रकार है—

संख्या	नाम	शरणागति-काल	मूल नाम
१	कुंभनदास	सं० १५५६	अर्जुन सखा
२.	सूरदास	सं० १५६७	कृष्ण सखा
३.	परमानंददास	सं० १५७७	तोक सखा
४.	कृष्णदास	सं० १५६८	ऋषभ सखा
५.	गोविंदस्वामी	सं० १५९२	श्रीदामा सखा
६.	छीतस्वामी	सं० १५९२	सुबल सखा
७.	चतुर्भुजदास	सं० १५९८	विशाल सखा
८.	नंददास	सं० १६०७	भोज सखा

इन आठों मुख्य कीर्तनकारों के सहायक रूप में आठ उप कीर्तनकार भी रखे गये थे, जो कीर्तन में उनको सहायता देते थे और उनके गाये हुए कीर्तनों को लिपिबद्ध भी कर लिया करते थे। इस व्यवस्था के कारण ही उनका विशाल काव्य अनेक बाधाओं के होते हुए भी आज तक उपलब्ध है। अष्टछाप के आठों व्यक्ति आशुकवि थे। वे समय--समय की झाँकियों में लीला-भावना के अनुसार अपने हृदय की अनुभूति को तत्काल कवितावद्ध कर उसका गायन करते थे।

अड़ैल परित्याग और गोकुल का स्थायी निवास—

महाप्रभु वल्लभाचार्य के समय से ही गोवर्धन के बाद गोकुल ही व्रज में पुष्टि संप्रदाय का प्रमुख स्थान था। सं० १५५० में महाप्रभु जी ने अपनी प्रथम बैठक गोकुल के ठकुरानी घाट पर ही स्थापित की थी। यद्यपि वल्लभाचार्य जी का स्थायी निवास विशेष रूप से अड़ैल और चरणाट में था, तथापि जब वे व्रज

में आते थे, तब सर्व प्रथम गोकुल में निवास करते हुए इसी बैठक में ठहरते थे। वहाँ पर भागवत तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों पर उनके व्याख्यान हुआ करते थे। गो० विट्ठलनाथ जी का आरंभिक जीवन भी चरणाट और अड़ैल में ही व्यतीत हुआ, किंतु बल्लभाचार्य जी के अनंतर वे अधिकतर गोकुल में ही निवास करते थे। उनके अनेक शिष्यों की तरह अष्टछाप के तीन कवि गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और नंददास ने गोकुल में ही गोस्वामी जी से दीक्षा ग्रहण की थी।

सं० १६१६ के लगभग अड़ैल में यवनों का उपद्रव आरंभ हुआ, तब गो० विट्ठलनाथ जी ने अड़ैल छोड़ कर स्थायी रूप से ब्रज में रहने का विचार किया। ब्रज में स्थायी रूप से रहने के पूर्व वे कुछ समय तक रानी दुर्गावती के आग्रह से उनकी राजधानी मध्य प्रदेशांतर्गत गढ़ा नामक स्थान में रहे। गढ़ा जाते हुऐ वे मार्ग में राजा रामचंद्र बाघेला की राजधानी में भी ठहरे। रामचंद्र बाघेला ने गोसाईं जी का बड़ा सत्कार किया। वह राजा गायन कला का बड़ा प्रेमी था। सुप्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन अकबर के दरबार में आने से पहले उसी राजा के आश्रय में था। वहीं पर गुसाईं जी का तानसेन से परिचय हुआ। वहाँ से विट्ठलनाथ जी रानी दुर्गावती की राजधानी गढ़ा में गये। विट्ठलनाथ जी की पूर्व पत्नी का उस समय तक देहांत हो चुका था। रानी दुर्गावती के आग्रह से सं० १६२० की वैशाख शुक्ला अक्षय तृतिया को रामभट्ट की पुत्री पद्मावती के साथ उनको पुनः विवाह करना पड़ा। सं० १६२१ में अकबर की सेना से दुर्गावती के युद्ध की संभावना हुई, तब वे वहाँ से अड़ैल होते हुए सं० १६२३ में मथुरा आ गये। मथुरा में रानी दुर्गावती ने उनको सहकुटुम्ब निवास करने के लिए एक विशाल भवन बनवा दिया था, जो बाद में गुसाईं जी के सात पुत्रों के निवास स्थान के कारण 'सतघरा' कहलाने लगा। यह भवन आजकल नहीं है, किंतु वह स्थान अब भी मथुरा में 'सतघरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

मथुरा में अपने परिवार के व्यक्तियों को छोड़ कर गुसाईं जी सं० १६२३ में गुजरात की यात्रा के लिए चले गये। उनके पीछे से उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने कुछ समय के लिए श्रीनाथ जी के स्वरूप (मूर्ति) को गोवर्धन से लाकर उसी सतघरा के भवन में विराजमान किया था। इस समय श्रीनाथ जी के साथ गोवर्धन से सूरदास भी मथुरा आये थे। इसी स्थान पर उनकी अकबर से भेंट हुई थी।

मुसलमानों के संसर्ग और नागरिक अशांति के कारण मथुरा का वास गुसाईं विट्ठलनाथ जी को अनुकूल ज्ञात नहीं हुआ, अतः उन्होंने गोकुल के

शांत वातावरण में अपना स्थायी निवास बनाना चाहा । उसी समय के लगभग उनका परिचय अकबर बादशाह से हुआ था । अकबर गुसाईं जी के धार्मिक जीवन से अत्यंत प्रभावित हुआ । उसने गोकुल की भूमि गुसाईं जी को सदा के लिए प्रदान करदी थी । उसी भूमि पर सं० १६२८ के फाल्गुन मास में वर्तमान गोकुल बसाया गया । गो० विट्ठलनाथ अपने कुटुम्ब, सजातीय बंधु एवं शिष्य-सेवकों सहित वहाँ जाकर बस गये । सं० १६२८ में नवनीतप्रिय जी का मंदिर बनवाया गया । सं० १६३७ के लगभग गोसाईं जी ने सातों स्वरूपों के प्रथक्-प्रथक् मंदिर बनवा कर उन्हें अपने पुत्रों के अधिकार में कर दिये ।

अकबर-मिलन—

ऊपर लिखा जा चुका है कि गो० विट्ठलनाथ जी का तत्कालीन मुगल सम्राट अकबर से घनिष्ट संबंध था । उनके धार्मिक जीवन से प्रभावित होकर उसने गोकुल की भूमि उनके निवास के लिए प्रदान की थी । सं० १६३० के अनंतर अकबर आध्यात्मिक विषयों में अधिक रुचि लेने लगा था । उस समय वह विभिन्न संप्रदायों के विद्वानों से मिल कर उनकी धार्मिक विशेषताओं को जानने की चेष्टा किया करता था । उसी समय अकबर मथुरा, वृंदावन् और गोवर्धन के कितने ही वैष्णव महात्माओं से मिला था ।

गो० विट्ठलनाथ अकबर के निमंत्रण पर दो बार आगरा गये थे—प्रथम बार सं० १६३४ में और द्वितीय बार सं० १६३८ में । सं० १६३४ में विट्ठलनाथ जी ने आगरा में सूरत के एक साहूकार की पुत्र-बधू का बड़ी कुशलता पूर्वक न्याय किया था । कहते हैं उस न्याय से प्रसन्न होकर अकबर ने उनको 'गुसाईं जी' का पद और न्यायाधीश के अधिकार प्रदान किये थे । विट्ठलनाथ जी का एक चित्र न्यायाधीश की पोशाक में प्राप्त भी होता है । इसी संवत् में अकबर ने गुसाईं जी को गोकुल में निर्भय रूप से रहने के लिए एक फरमान भी प्रदान किया था† । सं० १६३८ में अकबर ने आगरा में तत्व-वादियों की एक परिषद् का आयोजन किया था । उसमें सम्मिलित होने के लिए गो० विट्ठलनाथ जी को भी बुलाया गया । उस परिषद् में विट्ठलनाथ जी ने अपना अपूर्व पांडित्य प्रदर्शित किया । इससे प्रसन्न होकर अकबर ने उनको एक और फरमान जारी किया, जिसमें उनको गोकुल में निर्भय निवास करने और उनकी गायों को खालिसा में चराने का आदेश दिया गया था‡ । उसी

† झावेरी कृत 'इम्पीरियल फरमानस्' फरमान सं० १

‡ ,, ,, ,, सं० २

संवत् में बादशाह की मा हमीदाबानु बेगम ने भी एक फरमान द्वारा गुसाईं जी की गायों को महाबन परगना में चरने के लिए खालिसा की भूमि जागीर में प्रदान की थी† ।

यात्राएँ—

गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने भी अपने पिता की तरह कितनी ही यात्राएँ की थीं। उन यात्राओं में उन्होंने संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया और अनेक व्यक्तियों को पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित किया। श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् उन्होंने अपनी प्रथम यात्रा सं० १६०० में आरंभ की। उस यात्रा में वे गुजरात--काठियावाड़ का पर्यटन करते हुए द्वारिका तक गये थे। उन्होंने सं० १६१० में मगध प्रदेश और १६१४ में गौड़ प्रदेश की यात्रा की थी। सं० १६१६ में उन्होंने जगदीश पुरी की यात्रा की थी। वहाँ पर जगन्नाथ जी को रथोत्सव को देख कर उन्होंने अपने संप्रदाय में भी इस प्रकार का उत्सव करना आरंभ किया। सं० १६२३ में वे मथुरा से द्वारिका गये थे। उसी समय उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ जी को कुछ दिनों तक मथुरा में ले गये थे। सं० १६३१ में उन्होंने गोवर्धन से फिर द्वारिका के लिए यात्रा आरंभ की थी। उसी यात्रा में साथ जाने के लिए कुंभनदास को आदेश दिया गया था, किंतु श्रीनाथ जी के वियोग के कारण वे उस यात्रा में नहीं जा सके थे। सं० १६३४ के लगभग उन्होंने पुनः गौड़ प्रदेश की यात्रा की थी। उन्होंने ६ बार द्वारिका की और कम से कम ४ बार ब्रजमंडल की यात्रा की थी।

शिष्य–सेवक—

गुसाईं विट्ठलनाथ जी के अनेक शिष्य--सेवक थे, जिनमें साधारण जन से लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक थे। उन सेवकों में २५२ प्रमुख थे, जिनका वृत्तांत 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है।

बैठकें—

जिस प्रकार महाप्रभु बल्लभाचार्य की ८४ बैठकें हैं, उसी प्रकार गोस्वामी विट्ठलनाथ की २८ बैठकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें १६ ब्रज में तथा १२ देश के अन्य स्थानों में स्थित हैं। जिन स्थानों में ये बैठकें बनी हुई हैं, वहाँ गोस्वामी जी ने समय--समय पर श्रीमद्भागवत तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या की थी।

---

† झावेरी कृत 'इम्पीरियल फरमानस्' फरमान सं० ३

सप्त गृह अथवा सप्त पीठ—

अपने जीवन भर पुष्टि संप्रदाय की विविध प्रकार से उन्नति कर जब गो० विट्ठलनाथ जी को अपना अंतिम समय निकट ज्ञात हुआ, तो उन्होंने सं० १६३८ के लगभग अपने सातों पुत्रों में अपनी समस्त चल और अचल संपत्ति को विभाजित कर दिया। गोस्वामी जी के पास अपने पिता जी के सेव्य भगवान् श्रीकृष्ण की सात देव मूर्तियाँ (स्वरूप) थीं, जो 'सप्तनिधि' के रूप में उनकी सब से अधिक मूल्यवान संपत्ति थी। गोस्वामी जी ने ये सातों भगवद् स्वरूप अपने सातों पुत्रों को दे दिये, जिन्होंने उनकी पृथक्-प्रथक् सेवा आरंभ की! इन सात स्वरूपों के कारण ही पुष्टि संप्रदाय के सुप्रसिद्ध सप्त गृहों अथवा सप्त पीठों का नामकरण हुआ है। श्री बल्लभाचार्य जी के प्राचीन स्वरूप नवनीतिप्रिय जी और श्रीनाथ जी गोस्वामी जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी को इस अभिप्राय से दिये गये, कि उन पर सातों भाइयों का समान अधिकार रहेगा।

इन समस्त देव-स्वरूपों के मंदिर गो० विट्ठलनाथ के समय में और उनके कुछ समय बाद तक जतीपुरा और गोकुल में विद्यमान थे। सं० १७२६ में औरंगजेब ने मंदिरों और देवमूर्तियों को नष्ट कर हिंदुओं को बल पूर्वक मुसलमान बनाना आरंभ किया, तब इन भगवद् स्वरूपों की सुरक्षा के लिये उनको गुप्त रूप से जतीपुरा और गोकुल से हटा कर हिंदू राजाओं के राज्यों में ले जाया गया। सं० १७२६ के आश्विन मास की पूर्णमासी को श्रीनाथ जी के सुप्रसिद्ध स्वरूप को आगरा होते हुए मेवाड़ राज्य में पहुँचाया गया, जहाँ नाथद्वारा स्थान पर उनका वैभवशाली मंदिर अभी तक विद्यमान है। इसी प्रकार अन्य सात स्वरूपों को भी हटा दिया गया, जिनमें से छै अभी तक हिंदू राज्यों में विराजमान हैं; केवल गोकुलनाथ जी का प्राचीन स्वरूप गोकुल में वापिस आ सका और वह वहीं पर विद्यमान है।

उपर्युक्त सात स्वरूपों में से कौन सा स्वरूप किस पुत्र को प्राप्त हुआ और वह आज कल कहाँ विराजमान है, यह निम्न लिखित कोष्टक से ज्ञात होगा—

संख्या	पुत्रों के नाम	स्वरूप	आज कल कहाँ है
१.	गिरिधर जी	श्री मथुरेश जी	कोटा
२.	गोविंदराय जी	श्री विट्ठलनाथ जी	नाथद्वारा
३.	बालकृष्ण जी	श्री द्वारिकाधीश जी	कांकरौली

४.	गोकुलनाथ जी	श्री गोकुलनाथ जी	गोकुल
५.	रघुनाथ जी	श्री गोकुलचंद्रमा जी	कामबन
६.	यदुनाथ जी	श्री बालकृष्ण जी	सूरत
७.	घनश्याम जी	श्री मदनमोहन जी	कामबन

ग्रंथ-रचना—

गोसाईं जी बड़े विद्वान पुरुष थे। उन्होंने वेद-शास्त्र-पुराणादि धार्मिक एवं सैद्धांतिक ग्रंथों का भली भाँति अनुशीलन किया था—यह उनके रचे हुए ग्रंथों से पूर्णतया प्रकट है। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना द्वारा अपने पिता श्री वल्लभाचार्य जी के सिद्धांतों पर प्रकाश डाला और पुष्टि संप्रदाय के रहस्य को प्रकट किया। उनके रचे हुए छोटे-बड़े ग्रंथ सब मिला कर लगभग ५० हैं, जिनमें से बहुत से ग्रंथ श्री वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों की पूर्ति अथवा उनकी टीका के रूप में लिखे गये हैं। उनके स्वतंत्र ग्रंथों में 'विद्वन्मंडन' प्रमुख है, जिसमें उन्होंने अपूर्व पांडित्य प्रदर्शित किया है। उनके ग्रंथों में निम्न लिखित मुख्य हैं—

१. अणु भाष्य का अंतिम १॥ अध्याय, २. सुबोधिनी की पूर्ति और टिप्पणी, ३. षोडश ग्रंथ टीका, ४. निबंध प्रकाश टीका, ५. विद्वन्मंडन, ६. भक्ति हंस, ७. भक्ति हेतु, ८. भक्ति निर्णय, ९. विज्ञप्ति, १०. शृंगार रस मंडन, ११. स्वामिनी स्तोत्र, १२ अन्य स्तोत्र, टीकाएँ आदि।

ब्रजभाषा काव्य एवं कवियों को प्रश्रय—

अष्टछाप की स्थापना से ही गुसाईं विट्ठलनाथ जी द्वारा ब्रजभाषा के काव्य एवं कवियों को प्रश्रय देना सिद्ध होता है। उनके शिष्यों में गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास सुप्रसिद्ध कवि थे, जिनको अष्टछाप में भी सम्मिलित किया गया था। उन चारों के अतिरिक्त विट्ठलनाथ जी के अनेक शिष्य-सेवकों की उत्कृष्ट काव्य-रचना प्राप्त होती है, जिनके कारण उनका सुकवि होना प्रमाणित है। उन कवियों में कई व्यक्तियों का नामोल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में नहीं किया गया है। हम यहाँ पर विट्ठलनाथ जी के उन सेवकों की तालिका‡ देते हैं, जिनके कवि होने का निश्चित प्रमाण मिल चुका है—

‡ श्री आचार्य जी एवं श्री गुसाईं जी के सेवक कवियों की नामावली प्रस्तुत करने में श्री द्वारिकादास परीख कृत तद्विषयक हस्त लिखित संग्रह से विशेष सहायता ली गयी है।

१. अलीखान २. ऋषिकेश,३. करहरिया,४. कान्हादास,५.कृष्णदास जाड़ा, ६. गदाधर मिश्र, ७. गोपालदास, (वल्लभाख्यान कर्ता) ८ लघु गोपाल, ९. गोवर्धन दास, १०. गंगाबाई (श्री विट्ठल गिरिधरन की छाप) ११. श्री गोकुलनाथ जी (चतुर्थ पुत्र), १२. श्री घनश्याम जी (सप्तमपुत्र), १३. चतुर्भुज मिश्र, १४ कृष्णजीवन, १५. चतुर बिहारी, १६. चरणदास, १७. जगजीवन, १८. जगन्नाथ कविराय (गुसाई जी के दौहित्र) १९ जदुनाथदास, २०. तुलसीदास जलघरिया (लालदास छाप) २१ ताज (अकबर की बेगम), २२. थिरदास २३. दयाल, २४. ध्यानदास, २५. धर्मदास, २६. धौंधी, २७. पर्वतसेन (राजा), २८. पृथ्वीसिंह (राजा) २९. वीरदास, ३०. बंकट, ३१, भानु, ३२. भानासुत, ३३. भीमराजा, ३४. मथुरामल्ल, ३५. मदनमोहन, ३६. माणिकचंद्र, ३७. माधव दास, ३८. लघु माधव, ३९. मदनगोपाल, ४०. मुरारीदास, ४१ मुरली, ४२. मेहा, ४३. मोहनदास, ४४. श्री रघुनाथ जी (पंचम पुत्र), ४५. श्री राघवदास, ४६. राघवदास की बेटी, ४७. रामदास, ४८. रामदास दूसरे, ४९ रूप मुरारी, ५०. वृंदावन, ५१. व्यास, ५२. विनय, ५३, श्यामदास, ५४. लीलाधर, ५५. सगुणदास, ५६. हरजीवन, ५७. त्रिलोक, ५८. रामराय, ५९. भगवानहित, ६०. जन, ६१. भगवान दूसरे, ६२. मनोहर, ।

सुप्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन और भक्त कवि रसखान के अतिरिक्त अकबर के सुप्रसिद्ध मुसाहब बीरबल और टोडरमल का भी कवि होना प्रमाणित है । ये सभी प्रमुख व्यक्ति गोसाईं विट्ठलनाथ जी के कृपापात्र थे । राजा आसकरन को भक्तमाल में किसी अन्य संप्रदाय का अनुयायी लिखा गया है, किंतु उनकी पुष्टिमार्गीय रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं ।

तिरोधान—

गो० विट्ठलनाथ जी का तिरोधान गोवर्धन के गोपालपुर जतीपुरा नामक स्थान में हुआ था । श्रीनाथ जी के राजभोग के अनंतर मध्याह्न काल में उन्होंने लीला--प्रवेश किया था । कहते हैं कि गिरिराज पहाड़ी की एक कंदरा में प्रवेश कर वे गोवर्धननाथ में सदेह लीन हो गये थे । उनका तिरोधान सं० १६४२ की फाल्गुन कृ० ७ को हुआ था ।

गोसाईं जी के देहावसान के निश्चित संवत् के विषय में विद्वानों में मतभेद है । अष्टछाप के कई व्यक्तियों का देहावसान--काल गोसाईं विट्ठलनाथ जी के तिरोधान संवत् से संबंधित है, अतः उक्त संवत् की प्रमाणिकता पर गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए । 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार सं० १६४४ की

फाल्गुन शु० ११ तथा अन्य प्रमाणों से सं० १६४२ की फाल्गुन कृ० ७ उनके देहवसान की तिथियाँ प्राप्त होती हैं, किंतु अनुसंधान के अनंतर अब सांप्रदायिक विद्वान सं० १६४२ के पक्ष में हैं । 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के संवत् की पुष्टि किसी भी अन्य प्रमाण से नहीं होती है । इसके साथ ही सं० १६४२ के बाद गोस्वामी जी के किसी कार्य का उल्लेख भी सांप्रदायिक इतिहास में प्राप्त नहीं होता है ।

सम्राट अकबर तथा अन्य मुसलमान राजकीय अधिकारियों ने गो०विट्ठलनाथ तथा उनके वंशजों को जो समय--समय पर फरमान जारी किये थे, उनके आधार पर कुछ विद्वानों ने इस बात की संभावना प्रकट की है कि गोसाईं जी सं० १६५१ के बाद तक विद्यमान थे । श्री हरिशंकर जी शास्त्री ने गुजराती मासिक पत्र "शुद्धाद्वैत" में सर्व प्रथम इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था † । उसके बाद हिंदी में भी इस विषय की चर्चा चली* ।

बंबई हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज न्यायमूर्ति कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने उक्त शाही फरमानों को खोजकर और उनको अनुवाद सहित संपादित कर अपने ग्रंथ 'दी इम्पीरियल फरमानस्' में प्रकाशित किया है । 'कांकरौली का इतिहास' में इनमें से कतिपय फरमानों के गुजराती अनुवाद का हिंदी रूपांतर दिया हुआ है । इनमें से दो फरमान स्वयं अकबर द्वारा, तीसरा हमीदाबानु बेगम द्वारा और चौथा खानबहादुर सिपहसालार द्वारा जारी किये गये हैं । अकबर के फरमानों में दिये हुए मुसलमानी संवत् के पर्यायवाची विक्रमीय संवत् क्रमशः १६३४ और १६३८ हैं° । ये फरमान निश्चय पूर्वक गुसाईं जी के जीवन काल में स्वयं उनको प्रदान किये गये थे । इसके बाद सम्राट अकबर ने एक फरमान सं० १६५१ में जारी किया था । उस फरमान से भी गुसाईं विट्ठलनाथ जी का नामोल्लेख है, जिसके कारण उनके उक्त संवत् तक विद्यमान होने की संभावना की जाती है ।

इन फरमानों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के जीवन-काल में जारी किये फरमानों में केवल उनका नामोल्लेख किया गया है, किंतु उनके बाद के फरमानों में उनके नाम के साथ उनके वंशजों के लिए "नसलन दर नसल" शब्द लिखे गये हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि पिछले

---

† "शुद्धाद्वैत" गुजराती मासिक पत्र, वर्ष ३, अंक ५.

* "श्रीकृष्ण" हिंदी मासिक पत्र में श्री महावीर सिंह गहलोत द्वारा लिखित 'गुसाईं जी का लीला प्रवेश संवत्' नामक लेख.

° "कांकरौली का इतिहास" पृ० १०५

फरमानों में गोस्वामी जी का नामोल्लेख अवश्य है, किंतु वास्तव में वे उनके वंशजों के लिए जारी किये गये थे। इस प्रकार के फरमान अकबर द्वारा सं० १६५१ तक ही नहीं, बल्कि शाहजहाँ आदि द्वारा सं० १६६० के बाद तक जारी होते रहे हैं, जिनमें गो० विट्ठलनाथ जी के नाम का उल्लेख है। यदि इन फरमानों के कारण उनकी स्थिति सं० १६५१ तक मानी जा सकती है, तब वह सं० १६६० के बाद तक भी मानी जा सकती है, जो कि नितांत असंगत है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इस प्रकार के दो फरमानों के नागरी अनुवाद उद्धृत कर सं० १६५१ तक गोस्वामी जी की विद्यमानता अप्रामाणिक सिद्ध की है। उन्होंने लिखा है—

"बहुधा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद जब तक उसके उत्तराधिकारियों के नाम उसकी सम्पत्ति के कागज़ों में दाखिल खारिज नहीं होता, तब तक सरकारी कागज़ उसी के नाम जारी होते रहते हैं†।"

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त सांप्रदायिक इतिहास में भी ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं, जिनसे गोसाईं जी की स्थिति सं० १६५१ तो क्या, सं० १६४६ तक भी नहीं मानी जा सकती। अपनी विद्यमानता में गुसाईं जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी के अतिरिक्त किसी अन्य पुत्र को विदेश नहीं जाने दिया था। उनके देहावसान के बाद ही उनके सभी पुत्र स्वतंत्र रूप से विदेश जाने लगे थे। गोस्वामी जी के चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथ जी के सं० १६४६ में गुजरात से उदयपुर जाने का और पंचम पुत्र रघुनाथ जी के सं० १६४६ में गुजरात जाने का उल्लेख संप्रदाय के प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक गोसाईं विट्ठलनाथ जी नहीं थे। 'इम्पीरिल फरमानस्' के संपादक श्री झावेरी और पुष्टि संप्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री तेलीवाला भी सं० १६४२ को ही गुसाईं जी का देहावसान संवत् स्वीकार करने के पक्ष में हैं। इन सब बातों से सिद्ध है कि सं० १६५१ में गो० विट्ठलनाथ जी कदापि विद्यमान नहीं थे, वरन् उनका तिरोधान सं० १६४२ में ही हो चुका था।

महत्व—

यद्यपि शुद्धाद्वैत सिद्धांत के उन्नायक और पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु बल्लभाचार्य थे, तब भी इनकी उचित व्यवस्था और वास्तविक उन्नति का श्रेय गो० विट्ठलनाथ जी को ही दिया जा सकता है। उन्होंने महाप्रभु जी की तरह कई बार यात्राएँ कीं और अपने धार्मिक सिद्धांतों का व्यापक प्रचार

† 'अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय' पृ० ७८

किया । उनके अलौकिक व्यक्तित्व, प्रकांड पांडित्य और उदार धार्मिक सिद्धांतों की ओर अगणित व्यक्ति आकर्षित हुए और उनमें से अनेक उनके सेवक भी बन गये । उनकी सेवक मंडली में राजा-महाराजा, विद्वान, पंडित, सुकवि, संगीतज्ञ, कलाकार और भगवद्भक्त आदि सभी श्रेणी के उच्च और निम्न कुलों के व्यक्ति थे । वे भक्ति मार्ग में जाति-पाँति की कट्टरता और ऊँच-नीच में भेद-भाव के समर्थक नहीं थे । उन्होंने द्विजातियों के अतिरिक्त अछूत और मुसलमानों को भी भक्ति मार्ग का उपदेश दिया था । मोहन अछूत और तानसेन-रसखान प्रभृति मुसलमान इसके प्रमाण हैं ।

वे सुप्रसिद्ध धर्माचार्य और प्रकांड विद्वान होने के अतिरिक्त कलाकार, काव्य–संगीत के मर्मज्ञ, चित्रकार और ब्रजभाषा के महान् पोषक थे । उनके द्वारा स्थापित "अष्टछाप" के कारण ब्रजभाषा साहित्य की अनुपम उन्नति हुई है । चित्रकला में उनकी निपुणता के प्रमाण स्वरूप उनका बनाया हुआ श्री बालकृष्ण जी का चित्र आज तक उपलब्ध है । गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के महान् कार्यों ने उनको भारत के धर्माचार्यों में प्रमुख स्थान का अधिकारी बना दिया है । मध्यकाल में समस्त उत्तरी भारत जो कृष्ण-भक्ति के रंग में रँग गया था, उसका अधिकांश श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टि संप्रदायक के उन्नायक गोस्वामी विट्ठलनाथ को ही है । भक्तमाल में गोस्वामी जी की सेवा–प्रणाली और भक्ति-भावना की प्रशंसा करते हुए उनको इस इस घोर कलिकाल में भी द्वापर युग को पुनः उपस्थित करने वाला बतलाया है* ।

'संप्रदाय कल्पद्रुम' में लिखा है कि गोस्वामी जी ने अपने पीछे ७ पुत्र, १७ पौत्र और ४ पुत्रियाँ छोड़ी थीं । श्री गोपीनाथ की २ विधवा पुत्रियाँ भी उनके साथ रहती थीं । इस प्रकार समृद्ध परिवार, लौकिक कीर्ति और उन्नत संप्रदाय को छोड़ कर उन्होंने लीला-प्रवेश किया था ।

---

* राग भोग नित विविध, रहत परिचर्या ततपर ।
सज्या भूषन बसन रुचिर रचना अपने कर ॥
वह गोकुल वह नंदसदन दीच्छित कौ सोहै ।
प्रगट विभौ जहाँ घोष देखि सुरपति मन मोहै ॥
वल्लभसुत बल भजन के, कलिजुग में द्वापर कियौ ।
विट्ठल [illegible] ज्यों, लाल लड़ाय कै सुख लियौ ॥

५. शुद्धाद्वैत सिद्धांत अथवा पुष्टि मार्ग

वैष्णव धर्म का विकास—

भारत के धार्मिक इतिहास में वैष्णव धर्म का उदय और विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है। इस धर्म के सर्वोपरि उपास्य देव विष्णु का महत्व अत्यंत प्राचीन काल में ही स्थापित हो गया था। पुरातन काल से आधुनिक काल तक विष्णु, वासुदेव, नारायण, राम और कृष्ण आदि विभिन्न नामों एवं रूपों से विष्णु की उपासना होती रही है। विष्णु के साथ-साथ शिव का भी यथेष्ट महत्व रहा है। जब इस देश में अवतारवाद और बहुदेवोपासना का प्रचार हुआ, तब विष्णु और शिव के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की भी प्रसिद्धि हुई। इनमें पंच देव मुख्य थे। अंत में सब विष्णु के ही रूप अथवा उनके आधीन मान लिये गये।

वैदिक काल से बौद्ध काल तक कई नामों और रूपों में वैष्णव धर्म का उत्थान और पतन होता रहा। उस समय वह नारायणीय अथवा वासुदेव धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। आरंभ में उसका प्रचार उत्तर भारत में था। फिर वह मध्य देश में होता हुआ सुदूर दक्षिण तक फैल गया। जब बौद्ध और जैन धर्मों ने प्राचीन वैदिक धर्म के कर्मकांड का विरोध किया और निवृत्ति प्रधान ज्ञानमार्ग का प्रचार किया, तब वैदिक धर्म के साथ ही साथ नारायणीय अथवा वासुदेव धर्म भी उत्तर भारत में शिथिल होने लगा, किंतु दक्षिण में वैष्णव धर्म के जो अंकुर जमे थे, वे अन्य धर्मों के आघात-प्रत्याघात को सहते हुए भी क्रमशः वृद्धि प्राप्त करते रहे। दक्षिण का वातावरण वैष्णव धर्म के लिये अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप वहाँ पर वैष्णव धर्म इतना सुदृढ़ हुआ कि जब कालांतर में बौद्ध धर्म का प्रभाव कम हुआ, तब दक्षिण के आचार्यों ने ही उत्तर भारत में भी वैष्णव धर्म की विभिन्न शाखाओं का विस्तार किया।

इतिहास से सिद्ध है कि बौद्ध धर्म ने कई शताब्दियों तक भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभाव जमाया था। राज्य शक्ति से प्रश्रय प्राप्त कर वह धर्म भारत के बाहर अन्य देशों में भी फैला, जहाँ पर वह अब भी विद्यमान है; किंतु भारत में वह हीनयान, महायान, वज्रयान आदि रूपों

में परिवर्तित होता हुआ अपनी आंतरिक दुर्बलताओं के कारण पतनोन्मुखी होने लगा। निवृत्ति और ज्ञानमार्ग का प्रचार करने वाले बौद्ध धर्म ने वेदोक्त कर्मकांड, यज्ञ और बलि का ही विरोध नहीं किया, बल्कि वेद और ईश्वर के प्रति भी अश्रद्धा उत्पन्न की। भारतभूमि पर वैदिक धर्म का ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा था कि बौद्ध धर्म के स्वर्ण काल में भी वह सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। जब बौद्ध धर्म अपनी आंतरिक दुर्बलताओं के कारण अपना प्रभाव खोने लगा, तब वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त हो गया। बौद्ध धर्म के प्रभावहीन क्षेत्र में वैदिक धर्म की प्रभाव-वृद्धि करने में यहाँ के दार्शनिकों एवं मीमांसकों ने बहुत काम किया है। कुमारिल भट्ट ने वैदिक मत का झंडा उठाते हुए बौद्ध और जैन मतों के निवृत्ति मार्ग का ही खंडन नहीं किया, बल्कि उपनिषदों के ज्ञानमार्ग का भी विरोध किया। कुमारिल भट्ट के अनंतर गौड़पादाचार्य और उनके सुयोग्य शिष्य शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का रहा-सहा प्रभाव भी नष्ट कर दिया और वह विख्यात धर्म अपनी जन्मभूमि भारत देश से सदा के लिए लुप्त हो गया। शंकराचार्य ने ईश्वर, वेद और प्राचीन शास्त्रों के प्रति फिर से श्रद्धा उत्पन्न की, किंतु उन्होंने मीमांसकों एवं कुमारिल भट्ट के मत के विरुद्ध वैदिक ज्ञानमार्ग का प्रचार किया।

बौद्ध धर्म के अधःपतन के समय उत्तर भारत के पूर्व में महायान के ध्वंशावशेषों पर तंत्रमार्ग और शक्ति-पूजा ने जन्म लिया और पश्चिम में शैव धर्म ने राजपूत राजाओं के प्रश्रय में अपने पुनरुत्थान का अवसर प्राप्त किया। दक्षिण में वैष्णव धर्म का ही प्रचार होता रहा। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी के पश्चात् दक्षिण के वैष्णव धर्म का प्रवाह उत्तराभिमुख हो गया। वहाँ के आचार्यों के प्रबल प्रचार के कारण वैष्णव धर्म की ऐसी बाढ़ आयी कि उसके प्रबल प्रवाह में उत्तर के शैव, शाक्त, तांत्रिक, वाममार्गी आदि अवैष्णव मतों के साथ ही साथ शंकराचार्य का अद्वैत मत भी न टिक सका। इस प्रकार वैष्णव धर्म का जो अंकुर उत्तर से दक्षिण गया था, वह वहाँ पल्लवित होकर पुनः उत्तर में आकर फूलने-फलने लगा।

यद्यपि आधुनिक वैष्णव संप्रदायों के दार्शनिक सिद्धांतों का शांकर मत से तत्वतः मतभेद है, तथापि वैष्णव धर्म जिस वैदिक धर्म के उत्तराधिकारी होने का गौरव मानता है, उसके पुनरुद्धार के लिए शंकराचार्य का नाम सदा अमर रहेगा। उन्होंने बौद्ध काल की नष्टप्राय वैदिक

परंपराओं को फिर से स्थापित किया और वर्तमान हिंदू धर्म की नींव डाली । उन्होंने भारत के प्राचीन तत्वज्ञान की प्रस्थानत्रयी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के सुदृढ़ आधार पर अपने ज्ञानमार्ग को प्रतिष्ठित किया । शंकराचार्य का दार्शनिक मत अद्वैतवाद कहलाता है । उनके मतानुसार केवल ब्रह्म सत् है । ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ असत् अर्थात् माया है । वे ब्रह्म को निर्गुण, किंतु माया के कारण सगुण सा भासित होने वाला मानते हैं । यद्यपि शंकराचार्य ने बौद्ध सिद्धांतों का खंडन किया, तथापि उनका अद्वैतवाद बौद्धदर्शन से विशेष भिन्न नहीं है । उन्होंने जिस अद्वैत ब्रह्म की कल्पना की है, वह बौद्धों के शून्यवाद के ही समान है । इन्हीं कारणों से कतिपय शंकर विरोधी वैष्णव दार्शनिकों ने शंकराचार्य को भी 'प्रच्छन्न बौद्ध' बतलाया है । वास्तविक बात यह है कि शंकराचार्य ने बौद्धों के शस्त्रों से ही उनको पराजित किया था । अवैदिक ज्ञानमार्गीय बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव को नष्ट करने के लिये वैदिक ज्ञानमार्ग के प्रचार की ही आवश्यकता थी । यह कार्य शंकराचार्य ने बड़ी सफलता पूर्वक किया था । उन्होंने कर्ममार्ग का खंडन कर उपनिषदों पर आधारित संन्यास प्रधान ज्ञानमार्ग का प्रचार किया ।

वैष्णव धर्म का मुख्य आधार भक्ति है । समस्त वैष्णव संप्रदायों में किसी विशिष्ट नाम एवं रूप में विष्णु को परम सत्ता मान कर उसी की भक्ति करने का विधान है । ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या मानने वाले शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत में भक्ति के लिए तत्वतः कोई स्थान नहीं था, इसलिए वैष्णव आचार्यों को शांकर मत का विरोध करना पड़ा । शंकराचार्य के समय में ही भक्तिमार्ग का महत्व मान लिया गया था और स्वयं शंकराचार्य भी उसके प्रभाव से बच नहीं सके थे । उनके मत में ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी व्यावहारिक रूप में पंच देवों की पूजा और भक्ति स्वीकृत है । स्वयं शंकराचार्य ने भी भक्तिपूर्ण स्तोत्रों की रचना की है, किंतु वैष्णव आचार्यों ने शांकर मत की तरह पारमार्थिक और व्यावहारिक उभय दृष्टिकोण के औचित्य को स्वीकार नहीं किया है । वे व्यावहारिक ही नहीं, बल्कि पारमार्थिक रूप में भी भक्ति-भावना की आवश्यकता मानते हैं । वैष्णव धर्म में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध अद्वैत के कई स्वरूप निश्चित किये गये और शनैः शनैः उसमें द्वैतवाद का भी समावेश हो गया । यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि इस

प्रकार की विचारधारा भक्तिमार्ग के बढ़ते हुए प्रभाव का अनिवार्य परिणाम थी। इस प्रकार सांप्रदायिक आचार्यों के समय तक वैष्णव धर्म के विकास का यह संक्षिप्त इतिहास है।

वैष्णवों के चार प्रमुख संप्रदाय—

श्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत और मायावाद का विरोध करते हुए वैष्णव धर्म चार प्रमुख संप्रदायों में विभाजित हो गया। इन संप्रदायों की कई बातों में समानता है और कई बातों में भिन्नता है। समानता की बातों में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि उपासना के क्षेत्र में ये सभी संप्रदाय भक्ति मार्ग को सर्वोपरि मानते हैं। शांकर मत में ब्रह्म को निर्गुण और माया के कारण सगुण सा भासित होने वाला माना गया है, किंतु वैष्णव संप्रदायों ने ब्रह्म को माया के कारण नहीं, बल्कि स्वरूप से सगुण माना है। शंकराचार्य ने जगत् को ब्रह्म की सत्ता से पृथक् केवल भ्रांति अथवा माया माना था, किंतु समस्त वैष्णव संप्रदायों ने शांकर मत के इस सिद्धांत को अस्वीकार कर जगत् को भी ब्रह्म के समान सत् स्वीकार किया है। शांकर मत के अनुसार मुक्त जीव स्वयं ब्रह्म है, किंतु वैष्णव संप्रदायों ने मुक्त जीव को ब्रह्म न मान कर उसे वैकुंठ में निवास करते हुए सच्चिदानंद प्रभु की सेवा करने वाला बतलाया है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त वैष्णव संप्रदायों की और भी कई बातों में समानता है, किंतु ब्रह्म और जीव अर्थात् परमात्मा और आत्मा की सत्ता के संबंध में इन चारों संप्रदायों में भी सैद्धांतिक मतभेद है। इस मौलिक मतभेद के कारण वैष्णव धर्म चार संप्रदायों में विभाजित हो गया और वेदांत के चार प्रमुख सिद्धांत स्थिर हुए। इन संप्रदायों के संस्थापक, इनका आनुमानिक स्थापना-काल और दार्शनिक सिद्धांत तथा इनके प्रचलित नाम इस प्रकार हैं—

सं०	संस्थापक	आनुमानिक काल	दार्शनिक सिद्धांत	संप्रदाय
१.	रामानुजाचार्य	११ वीं शती	विशिष्टाद्वैत	श्री संप्रदाय
२.	निंबार्काचार्य	१२ वीं शती	द्वैताद्वैत	सनकादि संप्रदाय
३.	विष्णुस्वामी	१३ वीं शती	शुद्धाद्वैत	रुद्र संप्रदाय
४.	मध्वाचार्य	१३-१४ वीं शती	द्वैत	ब्रह्म संप्रदाय

विष्णुस्वामी—

यद्यपि वैष्णव धर्म के चारों संप्रदायोंकी मान्यता एक दूसरे से प्राचीन होने की है, तथापि रामानुजाचार्य का श्री संप्रदाय कदाचित सब से प्राचीन है। रुद्र संप्रदाय के प्रवर्त्तक विष्णुस्वामी भी एक प्राचीन आचार्य हैं, किंतु उनका समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उनको विक्रम की पाँचवी शती से तेरहवीं शती तक के भिन्न-भिन्न संवतों में उत्पन्न हुआ बतलाया है। गदाधर दास के मतानुसार वल्लभाचार्य जी के समय (१६ वीं शती) तक विष्णुस्वामी संप्रदाय के सात सौ आचार्य हो चुके थे*। यदि इस मत को स्वीकार किया जाय तो विष्णुस्वामी को सर्व प्राचीन आचार्य मानना होगा, किंतु इस कथन को प्रामाणिक मानने का कोई आधार नहीं है। विक्रम की १४ वीं शती के लगभग श्रीधर स्वामी ने भागवत की स्वरचित टीका में विष्णुस्वामी का उद्धरण दिया है। इससे ज्ञात होता है कि विष्णुस्वामी का समय श्रीधर स्वामी से पहले का अवश्य है। सर्वश्री भांडारकर, आर्थर वेनिस, सतीशचंद्र विद्याभूषण आदि विद्वानों के मतानुसार विष्णुस्वामी का समय १३ वीं शती के लगभग है†। ऐसा अनुमान होता है कि विष्णुस्वामी का समय रामानुज और निंबार्क के पश्चात् और मध्व से पूर्व का है।

ऐसी किंवदंती है कि विष्णुस्वामी किसी द्रविड़ देशीय राजा के एक ब्राह्मण मंत्री के पुत्र थे। वे प्रतिभाशाली विद्वान और शास्त्र परायण महानुभाव थे। कहते हैं उन्होंने कठिन तपस्या द्वारा भगवान् के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। वे ब्रह्म को अद्वैत, किंतु साकार, मानते थे और श्री कृष्ण के रूप में उसकी उपासना करते थे। उन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त कर अंत में शास्त्रोक्त विधि से संन्यास ग्रहण किया। कालांतर में वे अपने नश्वर शरीर को त्याग कर परम धाम को प्राप्त हुए।

विष्णुस्वामी संप्रदाय—

विष्णुस्वामी का संप्रदाय 'रुद्र संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं इसके आदि प्रवर्त्तक भगवान् शंकर हैं, जिन्होंने इसका सर्व प्रथम उपदेश

---

* संप्रदाय प्रदीप

† वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३६

बालखिल्य ऋषियों को दिया था। यही ज्ञान कालांतर में विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ। उन्होंने लोक में इसका प्रचार करते हुए पृथक् संप्रदाय की स्थापना की थी। 'संप्रदाय प्रदीप' से ज्ञात होता है कि विष्णुस्वामी ने ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत पर भाष्य लिखे थे, किंतु उनकी ये रचनाएँ आजकल अप्राप्य हैं।

विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धांत क्या था, इसके विषय में मतभेद है। जब तक उनके रचे हुए ग्रंथ प्राप्त नहीं होते, तब तक यह मतभेद दूर भी नहीं हो सकता है। कतिपय विद्वानों का मत है कि उनका दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' से मिलता हुआ था। डा० भांडारकर ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धांत वही था, जो वल्लभाचार्य का है†।

वैष्णव धर्म के संप्रदाय प्रवर्त्तकों में विष्णुस्वामी का नाम प्रसिद्ध है। पद्म पुराण और भविष्य पुराण में भी विष्णुस्वामी को रुद्र संप्रदाय का प्रवर्त्तक बतलाया गया है*। वैष्णव धर्म में वे ही आचार्य संप्रदायों के प्रवर्त्तक माने गये हैं, जिन्होंने किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना की है और अपने मत को ब्रह्मसूत्र और गीता आदि ग्रंथों से सिद्ध किया है। ऐसी दशा में रुद्र संप्रदाय के प्रवर्त्तक विष्णुस्वामी का कोई विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत अवश्य होगा। वल्लभ संप्रदाय के ग्रंथों में भी वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी मतानुवर्ती और उनकी गद्दी का अधिकारी बतलाया गया है, ऐसी दशा में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' था, जिसका व्यापक प्रचार बाद में वल्लभाचार्य जी ने किया था।

---

† वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ० १०९

* श्रीब्रह्मरुद्रसनकादि वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्याः संप्रदायप्रवर्त्तकाः॥
श्रीविष्णुस्वामि निम्बार्क मध्वरामानुजाख्यया।
भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥
आसन्सिद्धान्तकर्तारश्चत्वारो वैष्णवा द्विजाः।
यैरयं पृथिवीमध्ये भक्तिमार्गो दृढीकृतः।
विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुजः स्मृतः॥

—वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २३५

ऐसा ज्ञात होता है कि शंकराचार्य के अद्वैत मतानुयायी किसी विद्वान पंडित ने विष्णुस्वामी की गद्दी पर आसीन तत्कालीन आचार्य को इस संप्रदाय के "परमात्मा साकार है" वाले सिद्धांत पर शास्त्रार्थ कर उसे परास्त कर दिया था, तब से लोक में विष्णुस्वामी मत की प्रतिष्ठा भंग हो गयी थी। वल्लभाचार्य के समय में यह मत नाम मात्र के लिए शेष था और इसके उच्छिन्न मठ के अधिकारी कोई बिल्वमंगल नामक आचार्य थे। विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में विजयी होने पर वल्लभाचार्य जी को शुद्धाद्वैत के प्राचीन सिद्धांत की पुनः प्रतिष्ठा करने का अधिकार दिया गया और उनको विष्णुस्वामी संप्रदाय का आचार्य घोषित किया गया। इस प्रकार यह सिद्ध है कि यद्यपि शुद्धाद्वैत के प्रवर्त्तक विष्णुस्वामी हैं, तथापि उसकी वास्तविक उन्नति का श्रेय वल्लभाचार्य जी को ही है।

शुद्धाद्वैत सिद्धांत—

अष्टछाप के आठों महानुभाव महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य होने के कारण शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुयायी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में इसी सिद्धांत के मूल तत्वों का प्रतिपादन किया है। अष्टछाप के काव्य का वास्तविक रहस्य समझने के लिए शुद्धाद्वैत सिद्धांत का ज्ञान होना आवश्यक है। इस दार्शनिक सिद्धांत का विस्तार पूर्वक विवेचन करना यहाँ पर संभव नहीं है, इसलिए इसकी मुख्य-मुख्य बातों पर ही प्रकाश डाला जाता है।

वल्लभाचार्य जी ने जीव और ब्रह्म अर्थात् आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में ब्रह्म के साथ माया का भी लगाव है। वल्लभाचार्य ब्रह्म को माया संबंध से रहित और शुद्ध मानते हैं, इसलिए उनका मत शांकर अद्वैत से भिन्न 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है।

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार परब्रह्म प्रकृतिजन्य धर्मों के अभाव में जिस प्रकार निर्गुण है, उसी प्रकार आनंदात्मक दिव्य धर्मों के कारण वह सगुण भी है। इसी परब्रह्म को शुद्धाद्वैत सिद्धांत में श्री कृष्ण कहा गया है। ये श्री कृष्ण सर्व धर्मों के आश्रय रूप हैं, अतः ये 'धर्मी' कहलाते हैं। इनमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश है, यही इनकी विशेषता और विचित्रता है। ये 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम सर्व भवन समर्थ' रूप हैं।

परब्रह्म का यह स्वरूप मानने पर ही वेदों की निर्गुण-सगुण स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों का मतैक्य हो सकता है। इस प्रकार बल्लभाचार्य जी ने अपने मतानुसार समस्त वेदों और शास्त्रों के मतों की एक-वाक्यता प्रामाणित की है।

शांकर मत में ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ माया अर्थात् मिथ्या माना गया है, इसलिए वैष्णव धर्म की आधार शिला भक्ति भी उक्त मत के अनुसार माया ठहरती थी। बल्लभाचार्य जी ने अन्य वैष्णव आचार्यों की तरह इस मायावाद का खंडन किया है। उनके मतानुसार आत्म माया परब्रह्म की शक्ति है, जो सदा परब्रह्म से वेष्टित रहती है। जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहक शक्ति और सूर्य से उसका प्रकाश भिन्न नहीं है, उसी प्रकार आत्म माया परब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह माया परब्रह्म के आधीन है, परब्रह्म उसके आधीन अथवा आश्रित नहीं है; इसलिए ब्रह्म के सत्य स्वरूप को माया कभी आच्छादित नहीं कर सकती है।

"बल्लभाचार्य ने परमात्मा को साकार मानते हुए बतलाया कि यह सृष्टि दो प्रकार की है—जीवात्मक और जड़ात्मक। इन्हीं दो तत्वों के संमिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई है। हम जो कुछ देखते हैं, वह चैतन्य, जड़ किंवा प्रकृति और उन दोनों का संमिश्रण—इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन्हीं तीनों के द्वारा संसार में अनेक दृश्य दिखाई देते हैं और लोप हो जाते हैं। वस्तुओं का दिखाई देना और लोप हो जाना, यह केवल आविर्भाव और तिरोभाव है। कोई वस्तु वास्तव में नष्ट नहीं हो जाती। ब्रह्मांड में जो परमाणु हैं, इनका नाश नहीं होता। जिसे लोग नाश समझते हैं वह रूपांतर होना है। परमाणु में रूपांतर होने से वस्तुओं का नाश होता हुआ दिखाई देता है। वस्तुओं का एक रूप से दूसरे रूप में परिणित हो जाना—यही तिरोभाव और आविर्भाव है* ।" बल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत में 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' का विशेष महत्व है।

परब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप का नाम अक्षर ब्रह्म है और इसके भौतिक स्वरूप का नाम जगत् है। शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मरूप होने के कारण जगत् भी ब्रह्म के समान सत् है। बल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की

---

*आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत "सूरदास" पृष्ठ २३८

तरह जगत् को असत् अथवा मिथ्या नहीं माना है। जिस प्रकार कारण से बना हुआ कार्य उससे अनन्य होता है, उसी प्रकार उनके मतानुसार ब्रह्म और जगत् की भी स्थिति है। शुद्धाद्वैत सिद्धांत में 'जगत' और 'संसार' दो भिन्न-भिन्न तथ्य हैं। जगत ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है, किंतु संसार जीव की अविद्या से माना हुआ 'मैं' और 'मेरेपन' की कल्पना मात्र है, इसलिए यह असत्य है। ज्ञान द्वारा जीव की मुक्ति होने पर संसार से निवृत्ति होती है, किंतु जगत् ज्यों का त्यों बना रहता है। प्रलय काल में भी जगत् का तिरोभाव होता है, नाश नहीं। जगत् और संसार का यह भेद शुद्धाद्वैत सिद्धांत की विशेषता है।

जिस प्रकार अग्नि से छोटी-बड़ी चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से हीन और तेजस्वी जीवों की भी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अग्नि और चिनगारियाँ स्वरूप से एक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भी स्वरूप-गत अभेदत्व है, अर्थात् जीव भी उतना ही सत्य है, जितना स्वयं ब्रह्म; किंतु फिर भी जीव ब्रह्म नहीं है, वह केवल उसका अंश और सेवक है। जीव और ब्रह्म (आत्मा और परमात्मा) में केवल यह अंतर है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं। रामानुज एवं निंवार्क जैसे भक्तिमार्ग के आचार्यों ने जीव को अणु माना है। श्री बल्लभाचार्य ने भी जीव के अणुत्व का समर्थन किया है। जीव को अणु सिद्ध करने के कारण ही उनका किया हुआ 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य "अणु-भाष्य" कहलाता है। यह प्रकांड पांडित्यपूर्ण ग्रंथ बल्लभ संप्रदाय का मुख्य सिद्धांत ग्रंथ है। इसमें बल्लभाचार्य जी ने रामानुज और मध्व जैसे प्रसिद्ध आचार्यों के मत के विरुद्ध ब्रह्म के अद्वैत पक्ष का समर्थन किया है, किंतु माया के संबंध से रहित अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण उनका सिद्धांत "शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद" कहलाता है।

पुष्टि-मार्ग—

जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में बल्लभाचार्यजी का सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है, उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में उनका साधन-मार्ग 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। दार्शनिक सिद्धांत के लिए बल्लभाचार्य जी चाहें विष्णु-स्वामी के ऋणी रहे हों, किंतु अपने साधन-मार्ग की व्यवस्था स्वयं उनकी वस्तु है। कहते हैं इसके लिए बल्लभाचार्य जी को इस प्रकार आंतरिक प्रेरणा हुई थी—

"अन्य संप्रदायों (रामानुज, मध्व, निंबार्क) में नारद पंचरात्र वैखानसादि-शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी संप्रदाय में आत्म निवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादा मार्गीय है। अब आपके इस संप्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्म निवेदन द्वारा प्रेम स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। संप्रति भक्ति-मार्गानुयायी जन समाज शांकर सिद्धांत के प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो रहा है, अतः उसके कर्तव्य तो आपके द्वारा ही संपन्न हो सकते हैं †।"

अतः बल्लभाचार्य जी ने अपने पूर्वाचार्यों के मर्यादा-मार्गीय संप्रदायों से भिन्न पुष्टि संप्रदाय की स्थापना की। बल्लभाचार्य जी का मत है कि 'पुष्टिमार्ग भगवान् के अनुग्रह से ही साध्य है‡।' पुष्टि संप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिरायजी ने 'श्री पुष्टिमार्ग-लक्षणानि' नामक लेख में पुष्टिमार्ग का इस प्रकार परिचय दिया है—

"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्री कृष्ण के स्वरूप-प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है, वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। और जिस मार्ग में सर्वसिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक संबंध ही साधन रूप बन कर भगवान् की इच्छा के बल पर फल रूप संबंध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवद्-विरह-अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है‡।"

बल्लभाचार्य जी को अपने संप्रदाय के नामकरण की प्रेरणा भागवत से हुई है। श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कंध, दशम् अध्याय के चतुर्थ श्लोक में 'पुष्टि' अथवा पोषण का विवेचन किया गया है। वहाँ पर "पोषणं तदनुग्रहः" के अनुसार भगवान् के अनुग्रह को ही जीव का वास्तविक पोषण (पुष्टि) बतलाया गया है। इसी श्लोकांश के आधार पर बल्लभाचार्य जी ने अपने मत को 'पुष्टि मार्ग' बतलाया है। उनके मतानुसार जीव के हृदय में भक्ति का संचार भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकता और भगवान् का अनुग्रह ही 'पुष्टि' है।

† संप्रदाय प्रदीप ‡ अणुभाष्य

‡ अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ३६५

भारतीय धर्माचार्यों ने कर्म, ज्ञान और भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति के साधन बतलाया है। वल्लभाचार्य जी भी इन तीनों साधनों को मानते हैं, किंतु उन्होंने भक्ति को अधिक महत्व दिया है। उनके मतानुसार 'कर्मकांडी' केवल 'स्वर्ग' प्राप्त करता है और 'ज्ञानी' 'अक्षर ब्रह्म' को प्राप्त होता है, किंतु 'भक्त' 'पूर्ण पुरुषोत्तम' में लीन हो जाता है। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति साधन मार्ग की उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। जिनमें भक्ति सर्वोत्तम है। भक्ति-मार्ग में जीव भगवान् पर पूर्णतया आश्रित होता है। तब भगवान् उस पर विशेष अनुग्रह (पुष्टि) करते हुए उसके साथ 'नित्य लीला' करते हैं। भागवत में गोपियों का वर्णन 'पुष्टि' के सर्वोत्तम उदाहरण के लिए उपस्थित किया जा सकता है।

"पुष्टि मार्ग में आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे, जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के संपादन द्वारा की गई है, यह तभी हो सकता है, जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। इसी 'समर्पण' से इस मार्ग का आरंभ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अंत। बीच का मार्ग 'सेवा' द्वारा प्राप्त होता है, जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है †।'

पुष्टि मार्ग में भगवान् श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना गया है। श्री कृष्ण समस्त दिव्य गुणों से युक्त हैं और 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। पुरुषोत्तम श्री कृष्ण का दिव्य सतोगुण विष्णु रूप से लोकों की रक्षा करता है, उनका दिव्य रजोगुण ब्रह्मा रूप से सृष्टि करता है और उनका दिव्य तमोगुण रुद्र रूप से संहार करता है।

पुष्टि-मार्गीय सेवा—

इस मत के अनुसार परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण की सेवा करना ही जीव का परम कर्त्तव्य है। इस मत में परमात्मा का स्वरूप तो वही ग्रहण किया गया है, जो उपनिषदों के ज्ञानकांड द्वारा प्रतिपादित है, किंतु साधना का आधार शुद्ध प्रेम माना गया है। यह शुद्ध प्रेम भी जीव के हृदय में भगवान्

* आचार्य शुक्ल जी कृत "सूरदास"

के अनुग्रह अर्थात् पोषण से ही उत्पन्न हो सकता है। इस शुद्ध प्रेम के अभाव में जो परमात्मा की आराधना होगी, वह 'पूजा' कही जा सकती है, 'सेवा' नहीं।

पुष्टि मार्ग के अनुसार 'सेवा' भी दो प्रकार की होती है—१. नाम सेवा और २. स्वरूप सेवा। स्वरूप सेवा भी तीन प्रकार की बतलायी गयी है—१. तनुजा, २. वित्तजा और ३. मानसी। शरीर से की हुई सेवा 'तनुजा', धन से की हुई वित्तजा' और केवल मन से की हुई सेवा 'मानसी' कहलाती है। यह मानसी सेवा भी दो प्रकार की होती है--१. मर्यादा मार्गीय और २. पुष्टि मार्गीय।

मर्यादा मार्गीय मानसी सेवा के लिए शास्त्रोक्त गंभीर ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस मार्ग से चलने वाला नाना क्लेश पाता हुआ पहले आत्मज्ञान की प्राप्ति करता है, फिर लोकार्थी के रूप में भगवान् श्री कृष्ण की सेवा और आराधना करता हुआ अपने अहंकार और ममता आदि को नष्ट कर देता है, तब कहीं उसे इच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है, किंतु भगवान् के अनुग्रह की उसे उस अवस्था में भी आवश्यकता रहती है। पुष्टि मार्गीय मानसी सेवा करने वाला आरंभ से ही भगवान् के अनुग्रह की कामना करता है। वह शुद्ध प्रेम के द्वारा भगवान् की भक्ति करता हुआ भगवान् के अनुग्रह से सहज में ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इन दोनों मार्गों का एक ही अंत है, किंतु पुष्टिमार्ग (भक्तिमार्ग) ज्ञान मार्ग (मर्यादा मार्ग) की अपेक्षा अधिक सुगम और प्रशस्त है। श्रीवल्लभाचार्य भक्ति मार्ग के समर्थक होते हुए भी ज्ञानमार्ग के विरोधी नहीं हैं।

अष्टछाप के सर्व श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास एवं नंददास ने अपने भ्रमर गीतों में ज्ञान मार्ग और योग का जो उपहास किया है, वह उनके समय के उक्त उभय पंथों के विकृत स्वरूपों का है। वल्लभाचार्य जी द्वारा मर्यादा मार्ग के नाम से गृहीत ज्ञान मार्ग उनका लक्ष्य कदापि नहीं है।

पुष्टि संप्रदाय की 'सेवा' का अभिप्राय साधारण उपासना अथवा पूजा नहीं समझना चाहिये। साधारण पूजा में कर्मकांड की प्रधानता होती है, किंतु पुष्टि संप्रदाय की 'सेवा' भावना प्रधान है। इस संप्रदाय के प्रमुख वार्ताकार गो० गोकुलनाथ जी एवं गो० हरिराय जी ने भावना प्रधान ग्रंथों की रचना द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण किया है।

पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि—

सांसारिक दु.ख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए बल्लभाचार्य जी ने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि की व्यवस्था की है। इस सेवा के दो भेद हैं— एक क्रियात्मक और दूसरा भावनात्मक। क्रियात्मक सेवा तनुजा और वित्तजा दो प्रकार की होती है। तनुजा सेवा शरीर से और वित्तजा द्रव्य से की जाती है। इन दोनों प्रकार सेवाओं से जीव की अहंता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढ़ता होती है। भावनात्मक सेवा मानसी है। इसकी सिद्धि भी तनुजा-वित्तजा सेवा द्वारा एकादश इंद्रियों और मन के विनियोग होने के अनंतर ही हो सकती है। इस प्रकार पुष्टिमार्गीय सेवा में क्रियात्मक सेवा पर विशेष बल दिया गया है।

पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि के दो क्रम हैं--प्रथम प्रातःकाल से शयन पर्यंत की नित्य सेवा-विधि और द्वितीय वर्षोत्सव की सेवा-विधि। नित्य सेवा-विधि में वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है। इस सेवा के निम्न लिखित आठ समय निश्चित किये गये हैं--

१. मंगला, २. शृंगार, ३. ग्वाल, ४. राजभोग
५. उत्थापन, ६. भोग, ७. संध्या-आरती, ८. शयन

इस आठ समय की सेवा द्वारा प्रातःकाल से सायंकाल पर्यंत श्री कृष्ण की भक्ति में मन लगा रहता है। वर्षोत्सव की सेवा-विधि में श्री कृष्ण के नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव, षट् ऋतुओं के उत्सव, लोक-त्यौहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा-विधियों के तीन अंग मुख्य हैं— शृंगार, भोग और राग। प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों सांसारिक विषयों में फँसा हुआ है। इनसे छुटकारा पाने के लिए श्री बल्लभाचार्य जी ने इनको भगवान् की सेवा में लगा दिया है। उनका मत है कि इनको भगवत्सेवा में लगाने से ये व्यसन भी भगवत्‌रूप हो जावेंगे। इस प्रकार गृहस्थ में रहता हुआ भी प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार की सेवा-विधि से जीवन्मुक्त हो सकता है। यह सेवा-विधि यद्यपि श्री बल्लभाचार्य जी ने प्रचलित की थी, तथापि इसकी यथोचित व्यवस्था और इसके क्रियात्मक रूप से विस्तार करने का श्रेय गोसाईं विट्ठलनाथ जी को है। अष्टछाप कवियों का अधिकांश काव्य नित्य और वर्षोत्सव के कीर्तन रूप में ही कथित हुआ है।

पुष्टिमार्गीय सेव्य स्वरूप—

पुष्टिमार्ग में भगवान् श्री कृष्ण को परब्रह्म और परम आराध्य देव माना गया है। इस संप्रदाय के सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी साक्षात् परब्रह्म माने जाते हैं। इस मार्ग की मान्यता के अनुसार श्रीनाथ जी का प्राकट्य सं० १५३५ की वैशाख कृ० ११ को व्रज के अंतर्गत गोवर्धन ग्राम की गिरिराज पहाड़ी पर हुआ था। श्रीनाथ जी का स्वरूप श्री कृष्ण के गोवर्धन धारण करने के भाव का है, अतः श्रीनाथ जी को गोवर्धननाथ अथवा गोवर्धनधर भी कहा जाता है। वल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी के सेव्य स्वरूप श्री नवनीतप्रिय जी और उनके सेवकों के सेव्य अन्य सात स्वरूप भी संप्रदाय में मान्य हैं। ये सातों स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी के समय में उनके घर में ही पधरा दिये गये थे। गो० विट्ठलनाथ जी ने अपने अंतिम समय में अपने सातों पुत्रों में से प्रत्येक को एक-एक स्वरूप सेवा करने के लिए दिया था। ये सातों स्वरूप १. श्री मथुरेश जी, २. श्री विट्ठलनाथ जी, ३. श्री द्वारिकाधीश जी, ४. श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुलचंद्रमा जी, ६. श्री बालकृष्ण जी और ७. श्री मदन-मोहन जी हैं, जो अभी तक विट्ठलनाथ जी के वंशजों के अधिकार में हैं। ये सब सेव्य स्वरूप भूतल पर विराजमान श्री कृष्ण के साकार-रूप माने जाते हैं, इसीलिए इनको 'मूर्ति' न कह कर 'स्वरूप' कहा जाता है। इन स्वरूपों के अतिरिक्त पुष्टिमार्ग में यमुनाजी की भी बड़ी महिमा है। श्रीयमुनाजी पुष्टि शक्ति रूप और श्री कृष्ण में रति बढ़ाने वाली मानी गयी हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्ति—

गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धांत विष्णुस्वामी मत के अनुकूल है, किंतु उनका भक्ति मार्ग विष्णुस्वामी मत से स्वतंत्र एवं भिन्न है। विष्णुस्वामी संप्रदाय की भक्ति का स्वरूप सगुण एवं तामस है, किंतु वल्लभाचार्य जी ने प्रेमलक्षणा सगुण भक्ति का प्रचार किया था। सगुण भक्ति प्रधान विष्णुस्वामी संप्रदाय और निर्गुण भक्ति प्रधान पुष्टि संप्रदाय की एक-वाक्यता और उन दोनों का सामंजस्य करने के लिए उन्होंने अपने विशिष्ट 'सेवा मार्ग' का निर्माण किया था। साधन-भक्ति और सेवा मार्ग की इस विशिष्टता के कारण ही वल्लभाचार्य जी मूलतः विष्णुस्वामी संप्रदाय के अंतर्गत होते हुए भी वैष्णव धर्म की एक विशिष्ट शाखा के प्रवर्त्तक माने गये हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्ति में विशुद्ध प्रेम की प्रधानता है, इसीलिए इसे प्रेम-लक्षणा भक्ति कहते हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने विशुद्ध प्रेम को 'शुद्ध पुष्टि' बतलाया है। गोपियाँ विशुद्ध प्रेम की प्रतीक हैं, अतः उन्होंने गोपियों को गुरु मान कर उनके प्रेमात्मक साधनों को ही पुष्टि भक्ति के प्रमुख साधन माना है। वल्लभाचार्य जी ने गोपियों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर उनकी भक्ति-भावना के अनुसार ही पुष्टिमार्गीय भक्ति की व्यवस्था की है।

गोपियों की तीन श्रेणियाँ इस प्रकार हैं—व्रजांगनाएँ, २. कुमारिकाएँ और ३. गोपांगनाएँ। व्रजांगनाओं ने श्रीकृष्ण का बाल भाव से भजन किया था, अतः उनकी भक्ति वात्सल्य भावना की है। पुष्टि संप्रदाय की नित्य सेवा-विधि में भी वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है। कुमारिकाओं ने कात्यायनी व्रत आदि से श्री कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए भजन किया था, अतः उनकी भक्ति स्वकीय भाव की है। गोपांगनाओं ने लोक-वेद के भय से मुक्त होकर और सर्व धर्मों के त्याग पूर्वक श्री कृष्ण की प्राप्ति के लिए भजन किया था, अतः उनकी भक्ति परकीय भाव की है। इस प्रकार पुष्टि संप्रदाय में वात्सल्य भक्ति ही नहीं है, बल्कि सख्य, कांत–स्वकीय और परकीय–तथ, ब्रह्म भाव की भक्ति भी ग्राह्य है। अष्टछाप के काव्य में सभी प्रकार की भक्तियों के उदाहरण मिलते हैं।

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि पुष्टि संप्रदाय में केवल वात्सल्य भक्ति स्वीकृत है और अष्टछाप के काव्य में जो माधुर्य भक्ति के पद मिलते हैं, वे अन्य संप्रदायों से प्रभावित हैं; किंतु यह मत अप्रामाणिक है। पुष्टि संप्रदाय की भक्ति-भावना से पूर्णतया परिचय होने के कारण इस प्रकार का भ्रमात्क मत चल पड़ा है।

यद्यपि कांता भक्ति का आधार कुमारिकाएँ और गोपांगनाओं को बतलाया गया है, तथापि बाद में इसकी प्रधान पात्र 'राधा' मानी गयी है। पुष्टि संप्रदाय में अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह राधा का महत्व नहीं है, किंतु बल्लभाचार्य जी ने स्वरचित 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' और 'त्रिविध नामावली' में राधा का भी उल्लेख किया हैं। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के समय में पुष्टि संप्रदाय की भक्ति-भावना में राधा का महत्व बढ़ गया और उनको परब्रह्म श्री कृष्ण की 'सर्वभवन समर्थ रूपा' मुख्य शक्ति मान लिया गया। .. विट्ठलनाथ जी ने 'श्रृंगार रस मंडन' और 'स्वामिनी स्तोत्र' की रचनाओं .. स प्रकार के भक्ति भाव को प्रकट किया है।

ब्रह्म-संबंध अथवा आत्म-निवेदन—

पुष्टिमार्गीय भक्ति में ब्रह्म संबंध अथवा आत्म निवेदन का विशेष महत्व है। संसार की अहंता-ममता त्याग कर परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर दीनता पूर्वक उनका अनुग्रह प्राप्त करने को 'ब्रह्म संबंध' कहते हैं। यह पुष्टिमार्गीय दीक्षा है, जिसे प्राप्त करने पर साधक को एक विशिष्ट प्रकार के रहन-सहन और आचार-विचार का पालन करना पड़ता है।

इस पवित्र दीक्षा के संबंध में लोक में बड़ा भ्रम फैला हुआ है, किंतु यह सब अज्ञान के कारण है। वस्तुतः इस दीक्षा का अभिप्राय यह है कि जीव अविद्या के कारण परब्रह्म से अपना संबंध भूल गया है; वह सहस्रों वर्षों से परब्रह्म श्री कृष्ण का वियोग सहन करता हुआ जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हुआ है। गुरु उस विस्मृत संबंध की पुनः याद दिलाता है और श्रीकृष्ण के चरणों में दीक्षार्थी का आत्म-निवेदन अर्थात् आत्म-समर्पण कराता है। दीक्षार्थी भी भक्ति-भाव से अपने दोषों की निवृत्ति के लिए श्रीकृष्ण की शरण में जाता है। इस प्रकार संबंध-स्थापन, आत्म निवेदन और शरण-गमन इन तीनों के एकीकरण को 'ब्रह्म-संबंध' कहते हैं। इन तीनों अंशों को पृथक्-पृथक् समझ कर इस संस्कार पर आक्षेप करना भूल है।

श्री वल्लभाचार्य जी के प्रतिनिधि रूप से आचार्य जिस मंत्र से जीव का श्री कृष्ण के चरणों में आत्म-समर्पण कराता है, उसका अभिप्राय निम्न लिखित है—

"मैं कृष्ण की शरण में हूँ। सहस्रों वर्षों से मेरा श्री कृष्ण से वियोग हुआ है। वियोगजन्य ताप और क्लेश से मेरा आनंद तिरोहित हो गया है, अतः मैं भगवान् श्री कृष्ण को देह, इंद्रिय, प्राण, अंतःकरण और उनके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र, वित्त और आत्मा सब कुछ अर्पित करता हूँ। हे कृष्ण! मैं आपका दास हूँ, मैं आप का ही हूँ *।"

जो जीव इस प्रकार की भावना से भगवान् श्री कृष्ण की शरण में जाते हैं, उनको भगवान् भी किस प्रकार छोड़ सकते हैं! श्रीमद् भागवत के एकादश स्कंध में श्री कृष्ण ने कहा है—

* श्री कृष्णः शरणं मम। सहस्र परिवत्सरमित काल जात कृष्ण वियोग जनित-ताप क्लेशानंद तिरोभावोहं, भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागार पुत्रवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि, दासोहं कृष्ण तवास्मि॥

"जो व्यक्ति दारागार, पुत्राप्त, प्राण और वित्त सहित मेरी शरण में आता है, हे उद्धव ! मैं भी उसको किस प्रकार त्याग सकता हूँ‡ !"

उपर्युक्त वाक्यों को प्रमाण मान कर श्री बल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म संबंध अथवा आत्म-निवेदन की प्रणाली प्रचलित की थी, जो अब तक व्यवहार में आती है। यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश उसका दुरुपयोग करता है, वह बल्लभाचार्य जी के मत के विरुद्ध आचरण करता है।

जब इस मार्ग में अपना सर्वस्व समर्पण करने का विधान है, तब साधक को अपनी सर्वोत्तम और सर्वप्रिय वस्तु को भगवान् के चरणों में अर्पित करने में कदापि संकोच नहीं हो सकता। अधिकारी कृष्णदास द्वारा सुंदरी वेश्या को श्रीनाथ जी के अर्पित करने का भी यही रहस्य ज्ञात होता है*। इस प्रकार का आचरण साधन मार्ग की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त होने पर ही संभव है।

पुष्टिमार्गीय संन्यास-वैराग्य —

विष्णुस्वामी और बल्लभाचार्य दोनों ने ही अपने अंतिम समय में संन्यास ग्रहण किया था, किंतु उन दोनों के संन्यास के स्वरूप में कुछ भेद है। निवृत्ति एवं ज्ञान मार्ग के अनुगामियों में जो संन्यास और वैराग्य प्रचलित है, उससे तो पुष्टिमार्गीय संन्यास सर्वथा भिन्न है। बल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रंथ 'भक्तिवर्धिनी' और 'संन्यास निर्णय' में इसका विवेचन किया है।

"भक्तिवर्धिनी' में उनका कहना है कि घर में रह कर भक्ति का अधिकारी साधक वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करे; परंतु वह अपने तन, मन, धन से प्रभु की सेवा अवश्य करता रहे। इस रीति के अभ्यास से लौकिक विषयों से मन की आसक्ति हट जायगी और ईश्वर में उसका प्रेम लग जायगा। प्रभु में लग कर वे विषय अपने आप लुप्त हो जावेंगे। जब साधक की निर्लिप्त अवस्था हो जाय, तब भले ही गृह त्याग कर संन्यास ले ले। साथ में आचार्य जी का यह भी कहना है कि संन्यास लेकर साधु-संगति और प्रभु-सेवा ही में भक्त को रहना चाहिए। 'संन्यास निर्णय' ग्रंथ में भी उन्होंने

---

‡ ये दारागार पुत्राप्त प्राणान् वित्त मिमं परं।
हित्वामां शरणं यातः कथं तां स्त्यक्तुमुत्सहे ॥

* इसका विशेष विवरण आगामी पृष्ठों में कृष्णदास के वृतांत में देखिए।

भक्ति में संन्यास की अनावश्यकता बताई है। उनके मतानुसार यदि किसी प्रकार प्रभु-प्रेम-प्राप्ति में पुत्र-कलत्रादि के गृह-बंधन बाधक होते हों और किसी भी प्रकार घर में साधन नहीं बन पड़ते हों, तो संन्यास भी लिया जा सकता है, परंतु उसमें दंड-कमंडल और बाह्य वेश धारण करने की आवश्यकता नहीं है$ ।"

अष्टछाप कवियों में भी कई विरक्त थे और कई गृहस्थ, किंतु वे सब लौकिक विषयों के प्रति निर्लेप और अनासक्त भाव से श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करते थे। सूरदास आरंभ से ही विरक्त थे। परमानंददास और कृष्णदास जीवन पर्यंत अविवाहित रहे। गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और नंददास आरंभिक जीवन में गृहस्थ थे, किंतु बाद में विरक्त हो गये। कुंभनदास और चतुर्भुजदास जीवन पर्यंत गृहस्थ रहे। इस प्रकार ये आठों महानुभाव बिना वेश बदले हुए भी विरक्त भाव से सेवा-भक्ति करते थे।

पुष्टि संप्रदाय के मान्य ग्रंथ—

भारतीय धर्माचार्यों ने अपने मतों को प्रायः प्रस्थानत्रयी—१. उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और ३. गीता—पर आधारित किया है। इन ग्रंथों द्वारा सिद्ध होने पर ही कोई मत प्रामाणिक माना जा सकता था, इसलिए सभी प्रमुख धर्माचार्यों ने अपने सिद्धांतों के समर्थन के लिए उक्त ग्रंथों का भाष्य किया है। पुष्टि संप्रदाय में प्रस्थानत्रयी तो मान्य है ही, किंतु उसमें भागवत को भी आधार-ग्रंथ माना गया है। वास्तव में देखा जाय तो यह संप्रदाय भागवत पर ही विशेष रूप से आधारित है। यहाँ तक कि इस संप्रदाय के नामकरण की प्रेरणा भी भागवत से ही प्राप्त हुई है। अन्य वैष्णव आचार्योंकी तरह वल्लभाचार्य जी ने भागवत को विशेष महत्त्व दिया है। वे उसे भगवान् वेदव्यास की 'समाधि भाषा' कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता—में भागवत को भी सम्मिलित कर उसे प्रस्थानचतुष्टय नाम से संबोधित किया है। यह प्रस्थानचतुष्टय इस संप्रदाय के मान्य ग्रंथ हैं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके परवर्ती विद्वानों ने प्रस्थानचतुष्टय पर भाष्य और टीका-टिप्पणी द्वारा पुष्टि संप्रदाय के सिद्धांतों को पुष्ट किया है। वल्लभाचार्य जी कृत ब्रह्मसूत्र का 'अणुभाष्य', भागवत की 'सुबोधिनी' टीका

$ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ६६०

तथा उनकी अन्य रचनाएँ इस संप्रदाय के सर्वमान्य ग्रंथ हैं। गोसाईं विट्ठलनाथ कृत 'विद्वन्मंडन' भी सांप्रदायिक सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए प्रमुख ग्रंथ है, जिसके गूढ़ भावों को व्यक्त करने के लिए गो० पुरुषोत्तम जी ने 'सुवर्णसूत्र' की रचना की है।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र गो० गोकुलनाथ जी और उनके पौत्र श्री हरिराय जी भी इस संप्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् पुरुष हो गये हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा इस संप्रदाय के तात्विक और लौकिक पक्षों का स्पष्टीकरण एवं विवेचन किया है। उनके पश्चात् इस संप्रदाय के प्रमुख विद्वान् श्री गोपेश्वर जी एवं श्री पुरुषोत्तम जी ने अपने पांडित्यपूर्ण ग्रंथों और भाष्यों द्वारा पुष्टि संप्रदाय की अनुपम सेवा की है।

उपर्युक्त सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा के हैं। गो० गोकुलनाथ कृत व्रजभाषा गद्य की वार्ता पुस्तकें और उन पर श्री हरिराय जी कृत भावप्रकाश नामक टिप्पणी भी पुष्टि संप्रदाय की सर्वमान्य रचनाएँ हैं।

पुष्टि संप्रदाय का प्रचार—

महाप्रभु बल्लभाचार्य के पूर्ववर्त्ती वैष्णवाचार्यों के कारण भारत में वैष्णव धर्म के विभिन्न संप्रदायों की यथेष्ट उन्नति हुई थी, किंतु उनका प्रभाव क्षेत्र अधिकतर दक्षिण भारत था। उत्तर भारत में इन संप्रदायों का विशेष प्रभाव न होने के कारण वहाँ पर अवैष्णव एवं शांकर मतों का बोल बाला था।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' पर श्री हरिराय जी के भावप्रकाश में बाबा बेनु की एक वार्ता दी हुई है। इससे ज्ञात होता है कि बल्लभाचार्य जी के समय में काशी से प्रयाग तक के गाँवों में सर्वत्र देवी की पूजा होती थी। वहाँ पर वैष्णव देवताओं का कोई नाम भी नहीं जानता था*। उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में शैव, शाक्त और शांकर महानुयायियों का प्राबल्य था। बल्लभाचार्य जी को स्थान-स्थान पर उनसे शास्त्रार्थ करना पड़ा। उन्होंने तीन बार समस्त भारत की यात्राएँ कर अवैष्णव एवं मायावादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और उनको वैष्णव धर्म का अनुयायी बनाया।

आचार्य जी के समय में पूर्वीय भारत की जगदीशपुरी में जगन्नाथ जी और पश्चिमीय भारत की द्वारिकापुरी में रणछोड़ जी प्रमुख देव माने जाते

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) पृष्ठ ३७२

थे। मध्यभारत की मथुरापुरी में केशवदेव जी की प्रधानता थी। आस्तिक जन इन सुदूरवर्ती स्थानों की कष्टसाध्य यात्राएँ कर अपना अहोभाग्य मानते थे। बल्लभाचार्यजीने भी इन स्थानोंकी कईबार यात्राएँ कीं और वहाँ पर अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की लीला-भूमि ब्रज के अंतर्गत गोवर्धन को अपने संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र और श्रीनाथ जी को प्रधान देव निश्चित किया। पुष्टि संप्रदाय के कारण गोवर्धन भी भारत के प्रमुख धार्मिक स्थानों में समझा जाने लगा। आचार्य जी के समय की आस्तिक जनता में अज्ञान और अन्ध विश्वास इतना बढ़ा हुआ था कि वृद्ध जन जगन्नाथ जी के रथ के नीचे दब कर अथवा गंगा में डूब कर मरने में बड़ा पुण्य मानते थे†। बल्लभाचार्य जी ने अपने उपदेशों से इस प्रकार के अज्ञान को दूर किया। उन्होंने निम्न लिखित सूत्रों में अपने संप्रदाय की रूप-रेखा बतलाते हुए अपने सरल एवं सुगम मत की ओर जनता को आकर्षित किया--

एकं शास्त्रं देवकी-पुत्र-गीतं, एको देवो देवकी-पुत्र एव।
मंत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

उन्होंने सिद्धांत ग्रंथ गीता, आराध्य देव कृष्ण, मंत्र रूप कृष्ण का नाम और कर्त्तव्य कर्म कृष्ण-सेवा बतलाए हुए जनता में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्गों का सामंजस्य करते हुए प्रमाण चतुष्टय के आधार पर प्रेम लक्षणा भक्ति का महत्व बतलाया। उन्होंने कहा कि अहंता-ममता रूपी संसार से निवृत्ति, माहात्म्य ज्ञान पूर्वक भगवान् का साक्षात्कार और भगवत्लीला में प्रवेश—यही जीव का परम कर्तव्य है। इस सुगम मार्ग के अतिरिक्त अन्य दुर्गम मार्गों में भटकने से जीव का अकल्याण होता है।

बल्लभाचार्य जी के अद्भुत व्यक्तित्व, अपूर्व पांडित्य और सुगम मत के कारण भारत के धार्मिक जगत् में क्रांति की लहर सी दौड़ गयी! उन्होंने ऐसे सरल, रोचक, आकर्षक और युक्तियुक्त मत को जन-समुदाय के सन्मुख रखा कि राजा-रंक, पंडित-मूर्ख, गुणी-अगुणी, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सभी वर्गों के अगणित भ्रांत व्यक्तियों में वैष्णव धर्म का प्रचार हो गया। उन्होंने

† चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) पृष्ठ ५१५

अपने दार्शनिक सिद्धांत का नाम 'शुद्धाद्वैत' और भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त प्रेमलक्षणा भक्ति पर आधारित अपने सेवा-मार्ग का नाम 'पुष्टि संप्रदाय' रखा। आचार्य जी के समय में ही इस नवीन संप्रदाय का यथेष्ट प्रचार हो गया था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पश्चात् उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि संप्रदाय का और भी व्यापक प्रचार किया। उन्होंने भी अपने पिता की तरह अनेक यात्राएँ कर अगणित व्यक्तियों को अपना अनुगामी बनाया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना द्वारा अपने संप्रदाय के दार्शनिक पक्ष की पुष्टि की और ठाकुर जी के 'सेवा-मंडान' की यथोचित व्यवस्था और आकर्षक उत्सवों के प्रचलन द्वारा उसके लौकिक पक्ष को भी समुन्नत किया। आचार्य जी ने भगवच्चर्चा स्वरूप जिस भागवत-कथा का प्रचार किया था, गोसाईं जी के समय में उसकी और भी उन्नति हुई; बल्कि इसके साथ ही सांप्रादायिक एवं सैद्धांतिक ग्रंथों की व्याख्या का जो क्रम चला, वह भावुक भक्तों की धार्मिक भावना को जागृत एवं पुष्ट करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। इसके फल स्वरूप पुष्टि संप्रदाय का दिन प्रति दिन प्रभाव बढ़ने लगा।

इस संप्रदाय के शिष्यों की वित्तजा भक्ति के कारण बड़े व्ययसाध्य सेवा-विधान प्रचलित हो गये और मंदिरों का वैभव, उत्सवों की चमक-दमक, गान-वाद्य की रोचकता और भोग-शृंगार का आकर्षण सांप्रदायिक प्रचार के मुख्य साधन बन गये। इनके द्वारा आरंभ में पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार अवश्य हुआ, किंतु बाद में इनसे ही विषयी सेवकों की विषय-वासना को भी उत्तेजना मिली। यह ऐसी शोचनीय बात थी, जिसकी कल्पना आचार्य जी एवं गोसाईं जी ने स्वप्न में भी नहीं की थी।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी की सेवा-व्यवस्था की उन्नति के साथ ही साथ संप्रदाय के कवियों, गायनों, संगीतज्ञों, वाद्य-विशेषज्ञों, चित्रकारों, पाक शास्त्रियों एवं अन्य कलाकारों का भी संगठन किया और उनकी कलाओं को संप्रदाय की उन्नति और उसके प्रचार में लगा दिया। इस प्रकार उन्होंने मानव-जीवन की समस्त सत्य, शिव और सुंदर भावनाओं को भगवान् के अर्पित कराकर उनके सदुपयोग करने का मार्ग दिखलाया।

सांप्रदायिक मंदिरों में जिन नित्य और नैमित्तिक उत्सवों की व्यवस्था की गयी थी, उनमें गाये जाने के लिए भजन-कीर्तन के पदों की आवश्यकता होती थी। महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के समय में ही सूरदास आदि भक्त कवियों ने इस प्रकार के पदों की रचना आरंभ कर दी थी और उनके गायन द्वारा वे श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उस कार्य को और भी व्यवस्थित रूप से किया। उन्होंने "अष्टछाप" द्वारा सांप्रदायिक कवियों के काव्य को प्रोत्साहन दिया, जिसके कारण संप्रदाय के प्रचार में भी सहायता मिली।

अष्टछाप के कवियों का काव्य वास्तव में कीर्तन के पदों का संकलन है, जो अपने मोहक माधुर्य, कमनीय काव्य-कौशल और स्वाभाविक भक्ति-भाव के कारण आज तक अगणित रसिकजनों, साहित्य-प्रेमियों और भगवद्भक्तों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। पुष्टि संप्रदाय के प्रचार में अष्टछाप का आरंभ से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

द्वितीय परिच्छेद

अष्टछाप

★

१. अष्टछाप का स्थापना-काल और महत्व

स्थापना-काल—

गत परिच्छेद में लिखा जा चुका है कि महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के अनेक शिष्यों में ८४ शिष्य प्रमुख थे, जिनका वृत्तांत बाद में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में संकलित कर लिया गया। इसी प्रकार गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्यों में २५२ शिष्य मुख्य थे, जिनका वृत्तांत बाद में "दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में संकलित कर लिया गया। पुष्टि संप्रदाय की आचार्य-गद्दी पर बैठते ही गो० विट्ठलनाथ जी ने संप्रदाय को व्यवस्थित रूप से सर्वांगीण उन्नति करना आरंभ किया। अन्य कार्यों के अतिरिक्त उनका एक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यों की एक "अष्टछाप" स्थापित की।

अष्टछाप की स्थापना कब हुई, इसके विषय में सांप्रदायिक विद्वानों में कुछ मतभेद ज्ञात होता है। श्री कंठमणि शास्त्री के मतानुसार इसकी स्थापना सं० १५९८ के मार्गशीर्ष मास में हुई थी†, किंतु श्री द्वारिकादास परीख का मत है कि अष्टछाप की स्थापना का आरंभ सं० १६०२ में हुआ और उसकी पूर्ति सं० १६०७ में हुई*। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार की महत्वपूर्ण सांप्रदायिक व्यवस्था गो० विट्ठलनाथ जी द्वारा तभी हुई होगी, जब वे आचार्य गद्दी पर बैठ चुके होंगे। श्री कंठमणि शास्त्री अष्टछाप की स्थापना का काल सं० १५९८ लिखते हुए भी श्री गोपीनाथ जी का देहावसान सं० १६२० और इसके अनंतर विट्ठलनाथ जी का आचार्य होना मानते हैं‡, जो कि किसी प्रकार संभव ज्ञात नहीं होता। यदि अष्टछाप की

---

† 'काँकरौली का इतिहास' पृ० ७८

* 'ब्रजभारती' वर्ष ५, अंक १ में प्रकाशित "हमारे सूर" नामक लेख

‡ 'काँकरौली का इतिहास' पृ० ६०

स्थापना श्री गोपीनाथ जी के समय में हुई, तो आचार्य होने के कारण यह कार्य उनके द्वारा संपन्न होता, न कि गो० विट्ठलनाथ जी द्वारा । हम गत परिच्छेद में गोपीनाथ जी का देहावसान-काल सं० १५९९ सिद्ध कर चुके हैं, अतः हमारे मतानुसार अष्टछाप की स्थापना का संवत् १६०२ प्रामाणिक है ।

"प्राचीन वार्ता रहस्य" द्वितीय भाग में अष्टछाप का एक चित्र प्रकाशित हुआ है†, इसमें भी उसका स्थापना-काल सं० १६०२ छपा हुआ है । श्री कंठमणि शास्त्री ने उक्त पुस्तक का विद्वत्तापूर्ण 'वक्तव्य' लिखा है, जिसमें उन्होंने उक्त चित्र का भी उल्लेख किया है, किंतु अष्टछाप की स्थापना के काल पर अपना कोई मत प्रकट नहीं किया । इससे ज्ञात होता है कि शास्त्री जी भी अपने पूर्व मत के विरुद्ध इस संवत् को स्वीकार करते हैं । 'काँकरौली का इतिहास' सं० १९९६ में प्रकाशित हुआ, और 'प्राचीन वार्ता रहस्य' द्वितीय भाग सं० १९९८ में प्रकाशित हुआ है । चूँकि इन दोनों ग्रंथों में दिये हुए संवतों में कहीं-कहीं भारी अंतर है, इसीलिए शास्त्री जी ने अपने 'वक्तव्य' में स्पष्ट कर दिया है कि काँकरौली के इतिहास की अपेक्षा प्राचीन वार्ता रहस्य में दिए हुए संवतों को प्रामाणिक मानना चाहिए* । ऐसी दशा में अष्टछाप की स्थापना का संवत् १६०२ श्री कंठमणि शास्त्री को भी मान्य ज्ञात होता है ।

संप्रदायिक महत्व—

हिंदी साहित्य में अष्टछाप का महत्व उसके काव्य के कारण है, किंतु पुष्टि संप्रदाय में उसके महत्व का अन्य कारण भी है । पुष्टि संप्रदाय की मान्यता है कि अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के अंतरंग सखा हैं, जो उनकी नित्य लीला में सदैव उनके साथ रहते हैं । जब सं० १५३५ में श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ, तब ये सखा भी उनकी सेवा करने के लिए भूतल पर प्रकट हुए । इसीलिए संप्रदाय में वे अष्टछाप की अपेक्षा 'अष्टसखान' के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं ।

'अष्टसखान की वार्ता' पर श्री हरिराय जी ने जो 'भाव प्रकाश' नामक टिप्पणी लिखी है, उसमें उन्होंने अष्टसखाओं के सांप्रदायिक महत्व का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है । उनका मत है कि गिरिराज की तहलटी नित्य-लीला-

---

† पृ० २४७ के पूर्व

* प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, 'वक्तव्य' पृ० २०

भूमि है। यहाँ पर श्रीनाथ जी स्वामिनी जी सहित नित्य-लीला करते हैं और ये आठों सखा उनकी लीलाओं में अष्ट प्रहर उनके साथ रहते हैं। अष्टसखाओं के लीलात्मक स्वरूपों की दो प्रकार की स्थिति है। वे दिन में ठाकुर जी के सखा रूप से उनकी बन-लीला का सुख प्राप्त करते हैं और रात में स्वामिनी जी की सखी रूप से निकुंज-लीला का सुखानुभव करते हैं। इस प्रकार ये आठों महानुभाव ठाकुर जी के अंग रूप हैं, जो उनकी अंतरंग लीलाओं में अहर्निश सम्मिलित होकर लीला-रस का सुखानुभव करते रहते हैं।

गिरिराज नित्य-निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर जी की सदैव सेवा करते हैं। लौकिक लीला में वे भौतिक शरीर से इन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लौकिक लीला की समाप्ति पर वे अपने भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं। पुष्टि संप्रदाय की भावना के अनुसार अष्टछाप के लीलात्मक उभय स्वरूप, उनकी लीलासक्ति और उनके अधिकृत द्वारों का विवरण इस प्रकार है—

सं०	अष्टसखा	लीलात्मक स्वरूप	लीलासक्ति	अधिकृत द्वार
१.	कुंभनदास	अर्जुनसखा-विशाखा सखी	निकुंजलीला	आन्यौर
२.	सूरदास	कृष्णसखा-चंपकलतासखी	मानलीला	चंद्रसरोवर
३.	परमानंददास	तोकसखा-चंद्रभागासखी	बाललीला	सुरभीकुंड
४.	कृष्णदास	ऋषभसखा-ललितासखी	रासलीला	बिलछूकुंड
५.	गोविंदस्वामी	श्रीदामासखा-भामासखी	आँखमिचौनी	कदमखंडी
६.	छीतस्वामी	सुबल सखा-पद्मासखी	जन्मलीला	अप्सराकुंड
७.	चतभुंजदास	विशालसखा-विमलासखी	अन्नकूटलीला	रुद्रकुंड
८	नंददास	भोजसखा-चंद्ररेखासखी	किशोरलीला	मानसीगंगा

साहित्यिक महत्व—

पुष्टि संप्रदाय की उपर्युक्त भावना में अष्टछाप के साहित्यिक महत्व का स्थान गौण है, इसीलिए वार्ता में इसके संबंध में प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया है। हिंदी के साहित्यकारों का दृष्टिकोण दूसरा है। उन्होंने अष्टछाप का मूल्यांकन उसके साहित्यिक महत्व के कारण किया है। आजकल हिंदी साहित्य में अष्टछाप की जो चर्चा है वह उसके साहित्यिक महत्व के कारण ही है।

हिंदी के प्राचीन साहित्य की उन्नति से अष्टछाप का घनिष्ट संबंध है। गो० विट्ठलनाथ जी ने जिस समय अष्टछाप की स्थापना की थी, उस समय ब्रजभाषा साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था, किंतु उनके प्रश्रय के कारण सांप्रदायिक भक्तों में उसका व्यापक प्रचार हो गया। गो० विट्ठलनाथ ने अपने सामने ही यह व्यवस्था करदी थी कि अष्टछाप के कवियों के पदों का गायन पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में ठाकुरजी की झाँकी के समय प्रति दिन होता रहे। इसके कारण समस्त देश में जहाँ संप्रदाय के मंदिर और अनुयायी हैं, वहाँ अष्टछाप की काव्य-लहरी प्रति दिन अबाध गति से प्रवाहित होती रहती है। यह क्रम शताब्दियों से प्रचलित है और जब तक पुष्टि संप्रदाय है, तब तक प्रचलित रहेगा। इसके अनुकरण पर वैष्णव धर्म के अन्य कई संप्रदायों ने भी ब्रजभाषा काव्य को प्रश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घ काल तक ब्रजभाषा साहित्य की अतिशय उन्नति होती रही। सच बात तो यह है कि अष्टछाप ने ब्रजभाषा के पद्यात्मक भक्ति-साहित्य पर इतना व्यापक प्रभाव डाला है कि कई शताब्दियों के पश्चात् अब तक भी उसका महत्व अक्षुण्ण है।

ब्रजभाषा के गद्य साहित्य की उन्नति का श्रेय भी किसी अंश में अष्टछाप को दिया जा सकता है। यद्यपि अष्टछाप के महानुभावों ने स्वयं ब्रजभाषा गद्य में रचना नहीं की है, तथापि उनके प्रासंगिक चरित्र वार्ता रूप से ब्रजभाषा गद्य में रचित होने से प्रकारांतर से वे गद्य साहित्य की उन्नति के भी कारण हैं। श्री द्वारिकादास जी परीख ने अभी हाल में 'खटऋतु की वार्ता' नामक एक नवीन वार्ता-पुस्तकका प्रकाशन किया है। यह वार्ता अष्टछाप के कवि चतुर्भुज-दास द्वारा कथित कही जाती है, किंतु हमारे मतानुसार वह गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी की कृति ज्ञात होती है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, अष्टसखान की वार्ता, जिनमें अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत दिए हुए हैं, ब्रजभाषा के साहित्यिक गद्य की आरंभिक पुस्तकें हैं। श्री द्वारिकादास जी परीख ने लीला भावना वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आरंभ में ८६ वार्ता पुस्तकों की सूची दी है। इससे ज्ञात होता है कि पुष्टि संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा गद्य की अत्यधिक उन्नति हुई थी और उसका देश-व्यापी प्रचार हुआ था। वार्ता साहित्यके रूपमें हिंदी की ऐसी परिपुष्ट गद्य शैली के रहते हुए हिंदी साहित्य में खड़ी बोली का महत्व किस प्रकार बढ़ गया, यह एक ऐतिहासिक उलझन है, जिसका विवेचन यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। यहाँ लिखने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि पद्य और गद्य दोनों के क्षेत्र में अष्टछाप का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक है।

कलात्मक महत्व—

अष्टछाप की स्थापना का एक उद्देश्य पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में ठाकुर जी के नित्य और नैमित्तिक उत्सवों के लिए कीर्तन की उचित व्यवस्था करना भी था। कीर्तन में भिन्न-भिन्न राग-रागनियों के पद ताल-स्वर से गाये जाते हैं, इसलिए कीर्तनकार को संगीत शास्त्रानुसार गान-वाद्य का यथोचित ज्ञान होना आवश्यक है। अष्टछाप के आठों महानुभाव कवि होने के अतिरिक्त गान-वाद्य कलाओं के मर्मज्ञ और उनके अपूर्व ज्ञाता भी थे। उनके रचे हुए पद भिन्न-भिन्न राग-रागनियों में सधे हुए हैं और वे संगीत कला की कसौटी पर खरे उतरते हैं। अष्टछाप के कई महानुभाव तो अपने समय के इतने प्रसिद्ध कलाकार थे कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक उनकी कलाओं के रसास्वादन के लिए तरसते थे!

अष्टछाप का कलात्मक महत्व इतना अधिक है कि शताब्दियों तक देश के सर्वोच्च श्रेणी के कलाकारों में उसकी रचनाओं का एक छत्र राज्य रहा है। क्या हिंदू और क्या मुसलमान—सभी श्रेणियों के कुशल गायकों में अष्टछाप की रचनाओं का अभी तक प्रचार है। वास्तव में देखा जाय तो अष्टछाप की रचनाएँ इन गायकों के कारण ही अब तक बची हुई हैं, अन्यथा सुदीर्घ काल की प्रतिकूल परिस्थिति ने इनको नष्ट करने में कोई कमी नहीं की है। पुष्टि संप्रदाय में गाये जाने वाले अनेक कीर्तन-संग्रहों में, राग-रागनियों की अनेक पुस्तकों में और प्राचीन घरानों से संबंधित गायक-समाज में अष्टछाप की वे रचनाएँ सुरक्षित हैं, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं हैं। अष्टछाप की रचनाओं के संकलन के लिए इन साधनों के उपयोग की सदैव आवश्यकता रही है, और रहेगी।

संगीत कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं पर भी अष्टछाप का प्रभाव है। सूरदास आदि के पदों में नाना प्रकार के व्यंजनों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ये पद ठाकुरजी के राजभोग, छप्पन भोग अथवा अन्नकूट आदि के उत्सवों में गाये जाते हैं। इनके कारण अष्टछाप का पाक कला विषयक महत्व भी स्पष्ट है।

---

२. अष्टछाप और वार्ता साहित्य

अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत का आधार—

हमारे साहित्य में अष्टछाप का इतना महत्व होते हुए भी, इसके कवियों का जीवन-वृत्तांत अभी तक पूर्णतया ज्ञात नहीं है। अष्टछाप के कवियों ने अपने विषय में प्रायः कुछ भी नहीं लिखा है, अतः उनकी रचनाओं द्वारा उनका विशेष जीवन-वृत्तांत प्राप्त होने की आशा नहीं है। उनकी रचनाओं के अंतःसाक्ष्य और समसामयिक एवं परवर्ती रचयिताओं—नाभादास, प्रियादास आदि की रचनाओं के आधार पर जो बातें प्राप्त होती हैं, वे अत्यंत अपूर्ण होने के साथ ही साथ विवादग्रस्त भी हैं। केवल पुष्टि संप्रदाय का वार्ता साहित्य ही ऐसा आधार है, जिससे हमको अष्टछाप का सुविस्तृत जीवन-वृत्तांत ज्ञात होता है। वार्ताओं में उनका जो वृत्तांत दिया गया है, वह सांप्रदायिक सेवक और अनन्य भक्तके रूपमें है। इसके साथ ही वह सांप्रदायिक दृष्टिकोण से इस प्रकार लिखा गया है कि उसकी बहुत सी बातें आजकल के पाठकों को संदिग्ध और अविश्वसनीय सी ज्ञात होती हैं। जन्म, मृत्यु एवं जीवन-घटनाओं के कालक्रम तथा संवत्-तिथि आदि का उनमें नितांत अभाव है। आजकल के पाठकों के लिए वार्ता-साहित्य की सब से बड़ी कमी यह यह मालूम होती है कि इससे अष्टछाप के साहित्यिक महत्व पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है।

वास्तविक बात तो यह है कि अष्टछाप में सम्मिलित होने पर भी उन दिनों उन महात्माओं का जितना महत्व सांप्रदायिक भक्त होने के कारण था, उतना उनके साहित्यकार होने के कारण नहीं। आजकल हम लोगों का दृष्टिकोण दूसरा है। हम लोग अष्टछाप के महत्व का साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं और जब वार्ता साहित्य इस संबंध में मौन दिखलायी देता है, तब हमको इससे बड़ी निराशा होती है।

यह सब होने पर भी अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत के संबंध में हमारी जो कुछ जानकारी है, वह विशेष रूप से वार्ता साहित्य पर ही आधारित है; बल्कि यह कहना चाहिए कि अष्टछाप की जीवनी का मूल आधार पुष्टि संप्रदाय का वार्ता साहित्य ही है। जो विद्वान साहित्यकार वार्ता साहित्य को अप्रामाणिक मानते हैं, वे भी अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत के लिये उसका अनिवार्य रूप से उपयोग करते हैं।

अष्टछाप संबंधी वार्ताएँ —

पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता", "दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता" और "अष्टसखान की वार्ता" ऐसी रचनाएँ हैं, जिनमें अष्टछाप संबंधी वार्ताएँ दी हुई हैं। वैसे अन्य वार्ता-पुस्तकों में भी प्रसंग वश अष्टछाप के महानुभावों का कहीं-कहीं उल्लेख आ गया है, किंतु उपर्युक्त पुस्तकों में उनकी जीवन-घटनाएँ विशेष रूप से दी हुई हैं।

"चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्यों की कथाओं को संकलित किया गया है। इसकी अंतिम चार वार्ताएँ अष्टछाप से संबंधित हैं। इस पुस्तक की वार्ता संख्या ८१ में सूरदास, सं० ८२ में परमानंददास, सं० ८३ में कुंभनदास और सं० ८४ में कृष्णदास की जीवन-कथाएँ दी गयी हैं‡।

"दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता" में गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्यों की कथाओं को संकलित किया गया है। इसके आरंभ की चार वार्ताएँ अष्टछाप से संबंधित हैं। इस पुस्तक की वार्ता सं० १ में गोविंदस्वामी, सं० २ में छीतस्वामी, सं० ३ में चतुर्भुजदास और सं० ४ में नंददास की जीवन-कथाएँ दी गयी हैं*।

"अष्टसखान की वार्ता" में उपर्युक्त आठ वार्ताएँ पृथक् रूप से संकलित की गयी हैं। इस पुस्तक की वार्ताओं का क्रम इस प्रकार है†—

१. सूरदास, २. परमानंददास, ३. कुंभनदास, ४. कृष्णदास
५. छीतस्वामी, ६. गोविंदस्वामी, ७. चतुर्भुजदास, ८. नंददास

उपर्युक्त क्रम से ज्ञात होगा कि वह भी प्रायः चौरासी और दोसौ बावन वार्ताओं के जैसा ही है; अंतर केवल इतना है कि दोसौ बावन वार्ता में गोविंदस्वामी की वार्ता छीतस्वामी की वार्ता से पहिले दी हुई है, जब कि 'अष्टसखान की वार्ता' में छीतस्वामी की वार्ता पहले और गोविंदस्वामी की वार्ता बाद में दी गयी है।

---

‡ सं० १९६० में प्रकाशित डाकोर संस्करण के अनुसार।

* उपर्युक्त संस्करण के अनुसार।

† सं० १७५२ में लिखित और सिद्धपुर-पाटन में प्राप्त 'भावप्रकाश' युक्त प्रति के अनुसार।

वार्ताओं का महत्व और उनका अध्ययन—

उपर्युक्त वार्ता पुस्तकें ब्रजभाषा साहित्य के प्राचीन महाकवियों के जीवन वृत्तांत प्रकट करने के कारण तो महत्वपूर्ण हैं ही, किंतु इनका महत्व इसलिए और भी अधिक है कि ये ब्रजभाषा की आरंभिक गद्य रचनाएँ हैं। इनसे सत्रहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का रूप ज्ञात होता है। इन पुस्तकों में दी हुई वार्ताओं में उस समय की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति पर भी बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है, इसलिए इनका ऐतिहासिक महत्व भी कुछ कम नहीं है।

वार्ताओं के उपर्युक्त महत्व के कारण ही इनका प्रचार पुष्टि संप्रदाय के भक्तों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि अन्य संप्रदायों के साहित्यिक विद्वान भी इनके अध्ययन की आवश्यकता समझने लगे। इस आवश्यकता की पूर्ति में वार्ताओं के सुसंपादित संस्करणों का अभाव सबसे बड़ी बाधा थी, अतः विद्वानों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। वार्ता साहित्य का अध्ययन और इसका संपादन करने वाले विद्वानों को इसकी प्रामाणिकता के संबंध में कई प्रकार की शंकाएँ हुईं। सबसे बड़ी शंका तो वार्ताओं के रचयिता के संबंध में ही हुई। इन शंकाओं पर पक्ष एवं विपक्ष में यथेष्ट वाद-विवाद हो चुका है।

अष्टछाप संबंधी वार्ताओं के रचयिता—

'चौरासी' और 'दोसौ बावन' वार्ता पुस्तकों के रचयिता के संबंध में बहुत दिनों से विद्वानों में विवाद चला आ रहा है। साधारणतया ये वार्ताएँ गोसाईं विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी कृत मानी जाती हैं, किंतु पुष्टि संप्रदाय से संबंधित व्यक्तियों से इतर ऐसे अनेक अध्ययनशील व्यक्ति हैं, जो इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं।

हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सं० १९६० में डाकोर से प्रकाशित 'चौरासी' एवं 'दोसौ बावन' वार्ताओं के संस्करणों के आधार पर सन् १९२९ में "अष्टछाप" नामक एक छोटी सी पुस्तक का संकलन किया था। इस पुस्तक में अष्टछाप की वार्ताएँ मूल रूप में संकलित की गयी हैं। पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर "श्री गोकुलनाथ कृत अष्टछाप" छपा हुआ है। इस पुस्तक के 'वक्तव्य' में डा० वर्मा ने लिखा है—

अष्टछाप-परिचय

वार्ताओं के आरंभ कर्त्ता—

गो० गोकुलनाथजी

जन्म सं० १६०८] [देहावसान सं० १६९७

"गोकुलनाथ जी ने 'अष्टछाप' नाम से कोई पुस्तक नहीं लिखी है। प्रस्तुत पुस्तक गोकुलनाथ जी के नाम से प्रचलित '८४ वैष्णवन की वार्ता' तथा '२५२ वैष्णवन की वार्ता' शीर्षक ग्रंथों से अष्टछाप कवियों की जीवनियों का संग्रह मात्र है।"

इसी पुस्तक के पृष्ठ ११२ की टिप्पणी में उन्होंने लिखा है--

"चतुर्भुजदास की वार्ता में तथा 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में अन्य स्थलों पर भी गोकुलनाथ जी का नाम इस तरह आया है कि इस ग्रंथ के गोकुलनाथ कृत होने में संदेह होने लगता है। 'चौरासी वार्ता' में ऐसे उल्लेख नहीं मिलते।"

वार्ताओं के रचयिता और उनकी प्रामाणिकता के विषय में कितने ही विद्वानों ने शंकाएँ की हैं। इस संबंध में कुछ लिखने से पूर्व हम गो० गोकुल-नाथ जी और श्री हरिराय जी के संक्षिप्त जीवन वृत्तांत उपस्थित हैं। वार्ताओं के कर्त्ता और उनके संपादक के रूप में इन दोनों महानुभावों के नाम लिये जाते हैं। उनके जीवन वृत्तांत का परिचय प्राप्त होने पर वार्ताओं की प्रामाणिकता की जाँच करने में हमको अधिक सुविधा होगी।

वार्ताओं के कर्त्ता गो० गोकुलनाथ जी—

गो० गोकुलनाथ जी गोसाईं विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। उनका जन्म सं० १६०८ मार्गशीर्ष शु० ७ शुक्रवार को अड़ैल में हुआ था। उनका मूल नाम बल्लभ था, किंतु गोसाईं जी की धर्मपत्नी रुक्मिणी जी की परिचारिका कृष्णा दासी ने उनका नाम गोकुलनाथ रखा था। लोक में वे गोकुलनाथ जी के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

गोसाईं जी के अनंतर उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे, किंतु गोसाईं जी के सातों पुत्रों में गोकुलनाथ जी सबसे अधिक विद्वान, संप्रदाय के मर्मज्ञ और लोकप्रिय थे। श्री बल्लभाचार्य जी और गो० विट्ठलनाथ जी की तरह गोकुलनाथ जी ने भी पुष्टि संप्रदाय के प्रचार और उसकी गौरव-वृद्धि करने में प्रमुख भाग लिया था। उन्होंने वेद-शास्त्रादि का स्वाध्याय कर संप्रदाय के सिद्धांत ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था। उनको अपने पिता द्वारा सांप्रदायिक ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त हुई थी तथा अपने पिता के सेवक एवं अष्टछाप के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ गोविंदस्वामी द्वारा उनको भाषा-काव्य एवं संगीत का ज्ञान प्राप्त हुआ था।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी के देहावसान के पश्चात् सं० १६४२ से १६४५ तक उनके सातों पुत्र एक साथ रहते थे। सं० १६४५ के पश्चात् उन्होंने अपने-अपने सेव्य स्वरूपों और शिष्य-सेवकों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था करना आरंभ किया। उस समय गोकुलनाथ जी का महत्व और प्रभाव दिन दूना बढ़ने लगा। विट्ठलनाथ जी के सातों पुत्रों के कारण संप्रदाय में जिन सप्त गृहों अथवा सप्त पीठों की स्थापना हुई थी, उनमें गोकुलनाथ जी के वंशजों का चतुर्थ गृह कहलाता है। पुष्टि संप्रदाय के छै गृहों के सांप्रदायिक सिद्धांतों में कोई उल्लेखनीय भिन्नता नहीं है, किंतु गोकुलनाथ जी की गद्दी का सेवक-समुदाय, जो भड़ूची वैष्णवों के नाम से प्रसिद्ध है, अन्य गद्दियों की अपेक्षा कुछ सांप्रदायिक विचार-विभिन्नता रखता है।

ऐसी किंवदंती है कि जिस समय गो० गोकुलनाथ का जन्म हुआ था, उस समय उनके पिता गोसाईं विट्ठलनाथ जी ठाकुर-सेवा में लगे हुए थे। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनकर उनको ठाकुर जी की सेवा बीच में ही छोड़कर बाहर आना पड़ा। उस समय गोसाईं जी ने कहा था कि इस बालक के कारण ठाकुर जी की सेवा में बाधा पड़ी है, अतः इसका सेवक-समुदाय ठाकुरजी की स्वरूप-सेवा से वहिर्मुख रहेगा। जो कुछ भी हो, गोकुलनाथ जी की गद्दी के सेवक ठाकुर जी की स्वरूप-सेवा को न मान कर गोकुलनाथ जी की गद्दी को ही सर्वस्व मानते हैं।

गोकुलनाथ जी बड़े विद्वान पुरुष थे। अपने पांडित्य और सांप्रदायिक ज्ञान के कारण वे अपने पिता के जीवन-काल में ही संप्रदाय के व्याख्याता रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। वे सं० १६९७ तक जीवित रहे। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने ९० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की थी। अपने जीवन भर वे संप्रदाय के प्रचार और उसकी गौरव-वृद्धि करने में तत्पर रहे। उनके महत्वपूर्ण सांप्रदायिक कार्यों में एक घटना 'माला प्रसंग' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके कारण पुष्टि संप्रदाय ही नहीं, वल्कि समस्त वैष्णव संप्रदायों के गौरव की रक्षा हुई थी। यह घटना सं० १६७४ की है। उस समय बादशाह जहाँगीर आगरा से गुजरात जा रहा था। मार्ग में वह उज्जैन के एक तांत्रिक सिद्ध चिद्रूप की मलीन विद्या से अत्यंत प्रभावित हो गया। चिद्रूप वैष्णव धर्म का कट्टर विरोधी था। उसने जहाँगीर द्वारा वैष्णवों के चिह्न स्वरूप कंठी, माला, तिलकादि पर रोक लगवा दी। शाही आज्ञा के कारण आस्तिक वैष्णव अपने विशिष्ट धार्मिक चिह्नों के धारण करने में भयभीत होने लगे।

गोकुलनाथ जी ने बादशाह की इस अनुचित आज्ञा का ज़ोरदार विरोध किया, जिसके फल स्वरूप उनको गोकुल छोड़ कर सोरों में रहना पड़ा। अंत में वे ७० वर्ष की वृद्धावस्था में लंबी यात्रा करते हुए काश्मीर पहुँचे और वहाँ पर बादशाह से फरियाद की। सं०१६७७ की श्रावण कृ० ६ को गोकुलनाथ जी के प्रयत्न से जहाँगीर को अपनी आज्ञा वापिस लेनी पड़ी। गोकुलनाथ जी के कारण समस्त वैष्णव संप्रदायों की गौरव-रक्षा हुई, जिसके लिए सर्वत्र उनकी प्रशंसा होने लगी। इस विजय के कारण "जय जय श्री गोकुलेश!" कह कर समस्त वैष्णव जन उनका जय-जयकार करने लगे। यह ध्वनि अब तक संप्रदाय में प्रचलित है।

इस घटना का उल्लेख उस समय के फारसी ग्रंथों में नहीं मिलता है, किंतु गोकुलनाथ जी के सेवक गोपालदास ने सं० १६६६ में रचित 'मालोद्धार' काव्य में तथा कल्याण भट्ट ने सं० १६८५ से १६६३ तक रचे हुए ग्रंथ 'कल्लोल' में इस घटना का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है$ । ब्रजभाषा कवियों द्वारा उस समय रचे हुए कई छंदों में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है। श्री हरिराय जी ने स्वयं इस प्रसंग का इस प्रकार गायन किया है—

"जयति विट्ठल-सुवन, प्रगट बल्लभ वली,
प्रबल पन करा, तिलक-माल राखी।"

गोकुलनाथ जी अपने समय में इतने प्रसिद्ध हुए कि बल्लभाचार्य जी के अनंतर उनको भी संप्रदाय में 'महाप्रभु' अथवा 'प्रभुचरण' कहा जाने लगा। उन्होंने सांप्रदायिक प्रचार के अतिरिक्त कई ग्रंथों की रचना भी की है, जिनमें बल्लभाचार्य जी कृत षोड़श ग्रंथ की टीका और सुबोधिनी एवं वेणुगीत पर निबंध-रचना मुख्य हैं।

गोकुलनाथ जी सुप्रसिद्ध व्याख्याता और मार्मिक वक्ता भी थे। वे सिद्धांत ग्रंथों की व्याख्या और सुबोधिनी की कथा के अनंतर बल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी के सेवकों की जीवन-घटनाओं का कथन किया करते थे। अपने पितामह एवं पिता के महान् सेवकों की चरित्-चर्चा से उनका यह अभिप्राय था कि पुष्टि संप्रदाय का सेवक-समुदाय उनके आदर्श चरित्र और उनकी सांप्रदायिक अनन्य निष्ठा से शिक्षा ग्रहण करे और तदनुकूल आचरण करे।

$ वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २६६

अगला पेज चिपका हुआ है

वार्ताओं के संपादक और प्रचारक—

श्री हरिराय जी

जन्म सं० १६४७] [देहावसान सं० १७७२

गया। उसी समय वार्ताओं के प्रसंग की पूर्ति के लिए जहाँ-तहाँ गोकुलनाथ जी के नाम का भी समावेश किया गया, जो हरिराय जी ने अपनी ओर से किया था।

गोकुलनाथ जी दीर्घायु होने के कारण अपने तीनों बड़े भाइयों के देहावसान के बहुत दिनों बाद तक जीवित रहे। वे बहुत समय तक संप्रदाय के आचार्य और उसके व्यवस्थापक बने रहे, जिसके कारण वे अपने निजी भक्तों के अतिरिक्त संप्रदाय के सभी सेवकों के भी आदरणीय थे। उनके वचनामृत भी समान रूप से सबको मान्य थे।

पुष्टि संप्रदाय के एक प्रमुख विद्वान और आचार्य होने के कारण गोकुलनाथ जी का सांप्रादायिक महत्व तो है ही, किंतु वार्ताओं के कर्त्ता होने के कारण उनका साहित्यिक महत्व भी बहुत अधिक है। हिंदी गद्य साहित्य के विकास में पुष्टि संप्रदाय की वार्ता पुस्तकों का विशेष स्थान है, जिसके कारण गोकुलनाथ जी का नाम आदर पूर्वक लिया जाता है।

ऐसा ज्ञात होता है कि अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण अंतिम समय में उनके नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गयी थी। अंत में सं० १६९७ की फाल्गुन कृ० ९ को प्रायः ९० वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ था।

वार्ताओं के संपादक श्री हरिराय जी—

श्री हरिराय जी गो० विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र गोविंदराय जी के पौत्र और कल्याणराय जी के पुत्र थे। उनका जन्म सं० १६४७ की भाद्रपद कृ० ५ को हुआ था। वे गो० गोकुलनाथ जी के बड़े भाई के पौत्र होने के कारण उनके निकट संबंधी और शिष्य थे। आरंभ से ही हरिराय जी गोकुलनाथ जी के संपर्क में रहे, अतः वे उनके ग्रंथों के अभ्यासी और उनके संपादक एवं भाष्यकर्त्ता थे।

वे गोकुलनाथ जी द्वारा वचनामृत रूप से कही हुई मौखिक वार्ताओं के आदि संपादक और प्रचारक थे। वे संस्कृत और ब्रजभाषा के प्रकांड पंडित तथा गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी आदि कई भाषाओं के विद्वान थे। उन्होंने इन सब भाषाओं में गद्य-पद्यात्मक अनेक ग्रंथों की रचना की है। उनकी संस्कृत रचना 'शिक्षापत्र' प्रसिद्ध सांप्रादायिक ग्रंथ है। उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य वार्ता साहित्य का संकलन और संपादन है। उन्होंने

चौरासी और दोसौ बावन वार्ता-पुस्तकों के संपादन के अतिरिक्त निज वार्ता, घरू वार्ता, महाप्रभु जी की प्रागट्य वार्ता तथा भावना वाली अनेक वार्ता पुस्तकों की रचना भी की है। इस प्रकार वे ब्रजभाषा गद्य के बड़े भारी लेखक थे।

ब्रजभाषा गद्य-लेखक के रूप में जो श्रेय गो० गोकुलनाथ जी को दिया जाता है, वह वास्तव में हरिराय जी को देना चाहिये, क्यों कि वार्ता-पुस्तकों के यथार्थ रचयिता वे ही थे। खेद है इतने बड़े साहित्यकार होने पर भी हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनके महत्व का दिग्दर्शन नहीं कराया गया है। पं० रामचंद्र शुक्ल और डाक्टर श्यामसुंदरदास के सुप्रसिद्ध इतिहास ग्रंथों में उनका नामोल्लेख भी नहीं है और मिश्रबंधुओं एवं रसालजी के इतिहास ग्रंथों में उनका वर्णन अधूरी सूचना के साथ दिया गया है!

'मिश्रबंधु विनोद' में हरिरायजी का जीवन-वृत्तांत न लिखते हुए उनकी कुछ पुस्तकों का नामोल्लेख किया गया है। उक्त ग्रंथ में उनका रचना-काल सं० १६०७ लिखा गया है, जो अशुद्ध है। हरिराय जी का जन्म सं० १६४७ और देहावसान सं० १७७२ में हुआ था। यदि उन्होंने बीस वर्ष की आयु में ग्रंथ-रचना आरंभ की हो, तो उनका रचना-काल सं० १६६७ से १७७२ तक हो सकता है। रसाल जी ने 'भक्तिकाल में गद्य-रचना' शीर्षक के अंतर्गत गो० विट्ठलनाथ, नंददास और गोकुलनाथ जी के गद्य ग्रंथों का उल्लेख कर यह 'नोट' लिखा है—

"जान पड़ता है कि वार्ता लिखने की शैली सी चल पड़ी थी, क्यों कि इसी प्रकार की वार्ताएँ श्री हितहरिजी ने भी लिखी हैं। उक्त ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य में हैं* ।"

यहाँ पर 'हितहरि' से रसाल जी का अभिप्राय हरिराय से ही ज्ञात होता है। हरिराय जी ने अपनी रचनाएँ हरिराय, हरिधन, हरिदास, रसिक एवं रसिकराय आदि कई नामों से की हैं, अतः वे पुष्टि संप्रदाय के कुछ अध्ययनशील व्यक्तियों के अतिरिक्त जन-साधारण के लिए अपरचित से बने हुए हैं।

उन्होंने चौरासी एवं दोसौ बावन वार्ता-पुस्तकों के संपादन के अतिरिक्त उनके गूढ़ भावों को स्पष्ट करने के लिए उन पर 'भावप्रकाश' नामक टिप्पणी

---

* 'रसाल' कृत हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३७४

की भी रचना की है। इस 'भावप्रकाश' का सर्व प्रथम ज्ञान हिंदी संसार को अभी कुछ वर्ष पहले सं० १९९६ में हुआ, जब कांकरौली विद्या-विभाग द्वारा "प्राचीन वार्ता रहस्य" का प्रथम भाग छप कर प्रकाशित हुआ।

हरिराय जी ने कई बार यात्राएँ कर पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। उन्होंने वार्ताओं में वर्णित भक्तों के जीवन-वृत्तांत की विशेष रूप से खोज कर उसको विशेष सूचना के साथ अपने 'भावप्रकाश' में प्रकट किया है।

उनका आरंभिक जीवन गोकुल में व्यतीत हुआ और वे सं० १७२६ तक वहीं पर रहे। सं० १७२६ में औरंगजेब के उपद्रव के कारण जब पुष्टि संप्रदाय के सेव्य स्वरूप जतीपुरा और गोकुल से हटा कर हिंदू राजाओं के राज्यों में ले जाये गये, तब हरिराय जी भी श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ नाथद्वारा गये थे। उस समय तक वे चौरासी और दोसौ बावन वार्ताओं का संकलन कर चुके थे, किंतु संभवतः 'भावप्रकाश' की रचना तब तक नहीं हुई थी। हरिराय जी के शिष्य विट्ठलनाथ ने सं० १७२९ में 'संप्रदाय कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ में हरिराय जी की रचनाओं के नामोल्लेख में 'भावप्रकाश' का स्पष्ट कथन नहीं है, इससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्होंने अपने उत्तर जीवन में सं० १७२९ के बाद की थी।

'भावप्रकाश' द्वारा हिंदी में भाषा पुस्तकों पर टीकाएँ लिखने की नवीन पद्धति का प्रचार हुआ। संभवतः इसी के अनुकरण पर नाभाजी के 'भक्तमाल' पर सं० १७८० में प्रियादास ने पद्यात्मक टीका लिखी थी। इसके बाद केशव, विहारी आदि हिंदी के कितने ही कवियों की पुस्तकों पर गद्य-पद्यात्मक टीकाएँ लिखी गयीं। इन टीकाओं के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'भावप्रकाश' में जैसी पुष्ट गद्य-शैली का प्रयोग हुआ है, वैसी इनमें दिखलायी नहीं देती है। यहाँ तक कि बाद में व्रजभाषा गद्य का प्रचार ही रुक गया।

हरिराय जी ने १२५ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त कर सं० १७७२ में परम धाम को प्राप्त किया। वे सौ वर्ष से भी अधिक समय तक इस भूतल पर सांप्रदायिक प्रचार और साहित्य-सेवा करते रहे! अपने अनुपम महत्व के कारण बल्लभाचार्य जी एवं गोकुलनाथ जी की तरह हरिराय जी भी पुष्टि संप्रदाय में 'महाप्रभु' अथवा 'प्रभुचरण' के गौरवपूर्ण पद से विभूषित हैं।

वार्ताओं की प्रामाणिकता—

गत पृष्ठों में बतलाया जा चुका है कि अष्टछाप के चारित्रिक अनुसंधान के लिए पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य का उपयोग करना अनिवार्य है। जो विद्वान साहित्यकार इसकी प्रामाणिकता में संदेह करते हैं, वे भी अष्टछाप के चारित्रिक कथन के लिए इसी साहित्य की शरण में जाते हैं ! ऐसी दशा में प्रत्येक दृष्टिकोण से वार्ताओं की प्रामाणिकता पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

वार्ता साहित्य की अप्रामाणिकता पर हिंदी के धुरंधर विद्वानों के अब तक जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनका अवलोकन करने के उपरांत हमारा विनम्र मत है कि उक्त माननीय विद्वानों ने वार्ता साहित्य का अभी तक उचित अनुसंधान पूर्वक गंभीर अध्ययन नहीं किया है। अपर्याप्त ज्ञान और अधूरी सूचनाओं के आधार पर ही उन्होंने अपना मत निर्धारित किया है। यही कारण है कि उनका मत भ्रमात्मक हो गया है। हमने पक्षपात रहित होकर पिछले कई वर्षों से इस साहित्य की शोध की है। इस शोध के फल स्वरूप हम दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। अब वह समय आ गया है कि हिंदी के विद्वान साहित्यकार अपने भ्रम का निवारण कर इस साहित्य का परिश्रम पूर्वक अनुसंधान एवं अध्ययन करें। ऐसा करने पर उनको ऐसी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होगी, जो हिंदी साहित्य के इतिहास की शुद्धि एवं पूर्ति के लिए नितांत आवश्यक है।

अब हम अपनी शोध के आधार पर वार्ता साहित्य की प्रामाणिकता पर विचार करना चाहते हैं। वार्ता साहित्य में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मुख्य हैं। इनमें अधिकतर संदेह 'दोसौ बावन वार्ता' पर किया जाता है, यद्यपि श्री चंद्रबली पांडेय जैसे दो-एक विद्वान 'चौरासी वार्ता' को भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं ! हम पहले इन विद्वानों के तर्कों को उद्धृत कर पुनः अपना मन्तव्य उपस्थित करेंगे।

श्री चंद्रबली पांडेय ने "वैष्णवन की वार्ता" शीर्षक से एक लेख लिखा था, जो उनकी "विचार-विमर्श" नामक पुस्तक में पृष्ठ १०५ से १३७ तक छपा है। इस लेख में पांडेय जी ने जो तर्क उपस्थित किये हैं, उनका सारांश इस प्रकार है—

१—"वार्ताओं को गोकुलनाथ कृत कहना एक भ्रमात्मक परंपरा के पालन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।"

२—"क्या 'चौरासी' क्या 'दोसौ बावन' इनमें से कोई भी गोकुलनाथ कृत नहीं हैं। हाँ, उनसे प्रभावित अथवा उन पर आधारित अवश्य हैं।"

३—"नाभादास वा प्रियादास ने भी कहीं वार्ताओं का संकेत नहीं किया है। नाभादास के सामने यदि वार्ता की कोई पोथी होती, तो वे उसका उल्लेख अवश्य करते और यदि 'भक्तमाल' में कहीं उसका संकेत होता तो प्रियादास उसकी टीका अवश्य करते।"

४—"नागरीदास ने जो 'कलि वैराग्य बल्ली' में 'चौरासी भक्त' का उल्लेख कर दिया है, वह किसी 'चौरासी वार्ता' पर अवलंबित नहीं है, प्रत्युत उसका आधार प्रवाद है। यदि उस समय 'वैष्णवन की वार्ता' का अस्तित्व होता तो नागरीदास अवश्य उससे लाभ उठाते।"

उपर्युक्त तर्कों के अनंतर पांडेय जी स्वयं ही अपना समाधान इस प्रकार कर लेते हैं—

५—"प्रियादास और नागरीदास के प्रमाण पर यह सिद्ध हो जाने में अब क्या संदेह रहा कि वास्तव में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' प्रियादास की 'टीका' के उपरांत और नागरीदास की 'पद प्रसंगमाला' के अनंतर किसी समय लिखी व प्रचलित की गयी है।"

वार्ताओं की प्रामाणिकता पर संदेह करने वाले विद्वानों में दूसरे प्रमुख व्यक्ति डा० धीरेन्द्र वर्म्मा हैं। उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में लेख लिख कर 'दो-सौ बावन वार्ता' के गोकुलनाथ जी कृत होने में संदेह प्रकट किया है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि डा० वर्मा श्री चंद्रवली पांडेय के मत के विरुद्ध 'चौरासी वार्ता' के गोकुलनाथ जी कृत होने में संदेह नहीं करते हैं। उन्होंने स्पष्टरूप से लिखा है—

"चौरासी वार्ता में कोई ऐसे विशेष उल्लेख देखने में नहीं आते हैं, जो इसके गोकुलनाथ कृत होने में संदेह उत्पन्न करते हों, किंतु दोसौ बावन वार्ता में अनेक ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे इसका गोकुलनाथ कृत होना अत्यंत संदिग्ध हो जाता है‡।"

‡ हिंदुस्तानी पत्रिका सन् १९३२ ई०

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने दोसौ बावन वार्ता पर जो संदेह उपस्थित किया है, वह उनके मतानुसार निम्न लिखित कारणों पर आधारित है—

१—"इस वार्ता (२५२ वार्ता) में अनेक स्थलों पर गोकुलनाथ का नाम इस तरह पर आया है, जिस तरह कोई भी लेखक अपना नाम नहीं लिख सकता । इन उल्लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि कोई तीसरा व्यक्ति गोकुलनाथ के संबंध में लिख रहा है ।"

२—"ग्रंथ में औरंगजेब के मंदिर तुड़वाने का वर्णन है, जो सन् १६६६ (सं० १७२६) से पहले की बात नहीं हो सकती । गोकुलनाथ जी का समय १५५१ ई० से १६४७ ई० तक है । इस प्रकार गोकुलनाथ जी बाद की घटना से परिचित नहीं हो सकते । इसके अतिरिक्त एक और स्थान पर उसमें १६६६ की घटना तक का उल्लेख है ।"

३—"चौरासी एवं दोसौ बावन वार्ताओं के अनेक रूपों में भी बहुत अंतर है ।" "एक व्यक्ति अपनी दो रचनाओं में व्याकरण के इन छोटे-छोटे रूपों में इस तरह का भेद नहीं कर सकता ।"

श्री चंद्रवली पांडेय और डा० धीरेन्द्र वर्मा के अतिरिक्त पं० रामचंद्र शुक्ल जैसे धुरंधर विद्वान ने भी वार्ताओं पर अपना संदेह इस प्रकार प्रकट किया है—

"यह वार्ता (८४ वार्ता) यद्यपि बल्लभाचार्य जी के पौत्र गोकुलनाथ जी की लिखी कही जाती है, पर उनकी लिखी नहीं जान पड़ती ।...रंग ढंग से यह वार्ता गोकुलनाथ जी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है ।" "दोसौ बावन वैष्णवों की वार्ता तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है† ।"

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अन्य विद्वानों ने वार्ताओं पर और भी कई प्रकार की शंकाएँ की हैं । इस समय हिंदी साहित्य के शोधकों में एक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का भी है, जो उपर्युक्त वार्ताओं के रचियता के नाम और उनकी कुछ घटनाओं को ही शंका की दृष्टि से नहीं देखता, वरन् पुष्टि संप्रदाय के समग्र वार्ता साहित्य को अप्रामाणिक मानता है !

† हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १४०, ३५२

वार्ताओं को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों के तर्कों पर विचार करने के पूर्व हम वार्ताओं के प्रारंभ और उनके विकास का इतिहास बतलाना चाहते हैं, जिसके जान लेने पर पूर्वोक्त तर्कों का उत्तर स्वतः मिल जाता है।

कांकरौली के सरस्वती भंडार में १२८ प्रसंगों वाली एक हस्त लिखित वार्ता पुस्तक है, जिसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक किसी गोविंददास ब्राह्मण की प्रति से सं० १७४६ में लिपिबद्ध की गयी थी। इसी पुस्तक के एक उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि गोविंददास ब्राह्मण की वह प्रति श्री गोकुलनाथ जी के समय में लिखी गयी थी। इस पुस्तक के एक प्रसंग से वार्ता साहित्य के आरंभिक इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यह उद्धरण हमने अपने 'सूर-निर्णय' ग्रंथ में दिया है। यहाँ पर वह उद्धरण न देकर उससे निकलने वाले महत्वपूर्ण तथ्यों का ही उल्लेख किया जाता है—

"गो० विट्ठलनाथ जी के सेवक उज्जैन निवासी परम विद्वान कृष्ण भट्ट ने संप्रदाय में उस समय तक प्रचलित वार्ताओं को सर्व प्रथम लेखबद्ध किया था। वे उन वार्ताओं का स्वयं पाठ करते थे और आगत भगवदीय वैष्णवों में उनकी चर्चा करते थे। .. कृष्ण भट्ट द्वारा लेखबद्ध की गयी वार्ताओं की पोथी उनके अनंतर उनके पुत्र गोविंद भट्ट द्वारा श्री गोकुलनाथ जी को अर्पित की गयी। श्री गोकुलनाथ जी अपने अंतरंग सेवकों में उन वार्ताओं के दो-एक प्रसंगों की चर्चा प्रति दिन किया करते थे। इसके उपरांत वे उस प्रति को बड़ी सावधानी से ताले में बंद कर रख देते थे।... श्री गोकुलनाथ जी के पुत्र श्री विट्ठलेशराय ने अपने पिता से छिपा कर उक्त पोथी की प्रतिलिपि करवायी और उस प्रति के आधार पर फिर अनेक प्रतियाँ तैयार हुईं। इस प्रकार जिन वार्ताओं की चर्चा पहले संप्रदाय के अंतरंग व्यक्तियों तक ही सीमित थी, वह बाद में संप्रदाय के सामान्य भक्तों में भी प्रचलित हुई †।"

उपर्युक्त तथ्यों से विदित होता है कि गोकुलनाथ जी के अंतिम समय-विक्रम की १७ वीं शताब्दी के अंत-तक वार्ताओं का ज्ञान कतिपय विश्वसनीय अंतरंग व्यक्तियों के अतिरिक्त पुष्टि संप्रदाय के सामान्य सेवकों को भी नहीं था।

† सूर-निर्णय, पृ० १६

ऐसी दशा में नाभादास अथवा प्रियादास जैसे पुष्टि संप्रदाय से इतर व्यक्तियों की रचनाओं में वार्ताओं का उल्लेख न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उक्त लेखकों को वार्ताओं का परिचय न होने से यह कैसे कहा जा सकता है कि वार्ताओं की रचना उक्त लेखकों की कृतियों के पश्चात् की है! वार्ताओं की रचना के समय आजकल की सी छापे की सुविधा नहीं थी, और न वह युग आजकल की सी अन्य वैज्ञानिक सुविधाओं का ही था। उस समय किसी भी रचना का विस्तृत प्रचार होना साधारण बात नहीं थी। आजकल इस प्रकार की सुविधाएँ होने पर भी अनेक धार्मिक ग्रंथ अब भी छिपे पड़े हैं। व्रज में आज भी ऐसे संप्रदाय हैं, जो अपनी अनेक कृतियों को सामान्य व्यक्तियों से छिपाये हुए हैं और जिनमें से कुछ का परिचय उन विद्वान आलोचकों को भी नहीं है! ऐसा होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि इन कृतियों की रचना प्राचीन नहीं है। पूर्वोक्त उद्धरण तथा अन्य उल्लेखों से यह सिद्ध है कि गो० गोकुलनाथ जी अपने कतिपय वचनामृतों को अत्यंत गोपनीय रखते थे।

महाप्रभु जी के समय से ही यह प्रथा चली आ रही थी कि पुष्टि संप्रदाय के आचार्य सार्वजनिक रूप से कथा कहने के अतिरिक्त अपने अंतरंग सेवकों के साथ एकांत गोष्ठी भी किया करते थे। उस समय वे महत्वपूर्ण वार्ताएँ करते थे। उदाहरण के लिए बल्लभाचार्य जी दामोदरदास हरसानी से, विट्ठलनाथ जी चाचा हरिवंश आदि से, गोकुलनाथ जी कल्याण भट्ट आदि से और हरिराय जी हरजीवनदास प्रभृति से इस प्रकार की एकांत गोष्ठियाँ किया करते थे।

उन एकांत गोष्ठियों में जो वार्ताएँ होती थीं, उनका महत्व सुबोधिनी आदि की कथा से भी अधिक समझा जाता था और उनके सुनने का सौभाग्य कतिपय अंतरंग व्यक्तियों को ही प्राप्त होता था। निम्न लिखित उद्धरण से उन वार्ताओं का महत्त्व ज्ञात हो सकेगा—

"सो एक दिन श्री गोकुलनाथ जी चौरासी वैष्णवन की वार्ता करत कल्याणभट्ट आदि वैष्णवन के संग रसमग्न होइ गये, सो श्री सुबोधिनी जी की कथा कहन की सुधि नांही, सो अर्धरात्रि होइ गई। तब एक वैष्णव ने श्री गोकुलनाथ जी सों बिनती करी, जो महाराजाधिराज! आज कथा कब कहोगे? अर्धरात्रि गई। तब

श्रीमुख तें श्री गोकुलनाथ जी ने कही जो आज कथा को फल कहत हैं। वैष्णवन की वार्ता में सगरो फल जानियो। वैष्णव उपरांत और कछु पदारथ नांही हैं।"

गोकुलनाथ जी अपने अंतरंग सेवक कल्याण भट्ट आदि के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से उक्त वार्ताओं को किस प्रकार गुप्त रखते थे, इसकी जानकारी के लिए उनका एक वचनामृत देखिये—

"तब श्री गोकुलनाथ जी कल्याण भट्ट के ऊपर बहोत प्रसन्न भये तब श्री गोकुलनाथ जी कल्याण भट्ट प्रति आज्ञा कीए, जो यह वार्ता और के आगे कहिवे की नाहीं है, तुम भगवद्भक्त हो और तुमको पुष्टिमार्ग की रीति सुनिवे में अत्यंत प्रीति है, तातें तुमसों कहत हूँ सो मन लगाय के सुनियो तथा हृदय में धारण करियो* ।"

जब संयोगवश गुप्त वार्ताएँ भी लिपि-प्रतिलिपि के क्रम से प्रकट हो गयीं, तब गोकुलनाथ जी के आदेशानुसार हरिराय जी ने उनके संकलन, संपादन और लेखन की व्यवस्था की। उन्होंने गोकुलनाथ जी के निरीक्षण में संकलित वार्ताओं को क्रमबद्ध किया और आचार्य जी एवं गोसाईं जी के सेवकों के अनुसार उनका वर्गीकरण किया। यद्यपि यह कार्य हरिराय जी ने किया था, तथापि गोकुलनाथ जी के मूल वचन होने के कारण वे क्रमबद्ध वार्ताएँ भी गोकुलनाथ जी रचित ही मानी गयीं और उन्हीं के नाम से उनका लोक में प्रचार हुआ। इन वार्ताओं की जो प्राचीन से प्राचीन प्रतियाँ मिलती हैं, उन पर भी रचयिता के रूप में गोकुलनाथ जी के नाम का ही उल्लेख मिलता है।

गोकुलनाथ जी के देहावसान के बहुत दिनों बाद हरिराय जी ने उन वार्ताओं का विशदीकरण किया। उस समय तक उन्होंने अपने अनुभव से जो अन्य सूचनाएँ एकत्रित की थीं, उनका भी उक्त वार्ताओं में उन्होंने समावेश कर दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोकुलनाथ जी के कथनों की पूर्ति और उनके गूढ़ भावों के स्पष्टीकरण के लिए अपनी ओर से 'भाव' नामक टिप्पणियाँ भी जोड़ दी थीं। इस प्रकार वार्ताओं का बृहद् संस्करण

---

† चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) पृ० २

* गोकुलनाथ जी कृत '२४ वचनामृत'

प्रस्तुत हुआ, जो 'लीला भावना वाली' अथवा हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' सहित वार्ताओं के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर यह फिर स्मरण रखना चाहिए कि जो रचनाएँ गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे उक्त दोनों महानुभावों के प्रवचन मात्र हैं, जिन्हें वे कथा-प्रसंग अथवा एकांत गोष्ठियों में कहा करते थे। उनके लेखन का कार्य इसके लिए नियत अन्य व्यक्ति किया करते थे, जैसा कि वार्ताओं में प्राप्त निम्न लिखित उल्लेखों से ज्ञात होगा—

"अब चौरासी वैष्णवन की वार्ता श्री गोकुलनाथ जी प्रगट किये, ताको भाव श्री हरिराय जी कहत हैं सो लिख्यते* ।"

"अब श्री आचार्य जी के चौरासी वैष्णवन की वार्तानि में गूढ़ आशय श्री गोकुलनाथ जी कहे हैं तहाँ श्री हरिराय जी कछुक भाव प्रगट करत हैं, पुष्टमार्गीय वैष्णवन के जनाइवे के अर्थ† ।"

वार्ताओं के रचयिता के विषय में शंका करते हुए यह कहा जाता है कि उनमें रचयिता का नाम इस प्रकार आदर पूर्वक लिखा मिलता है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने लिए नहीं लिख सकता। वार्ताओं के लेखन-प्रबंध संबंधी पूर्वोक्त स्पष्टीकरण के उपरांत इस प्रकार की शंका के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है।

हमने वार्ताओं के जिन विभिन्न रूपों का अब तक उल्लेख किया है, उन सबको भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न समय में लिपिबद्ध किया है और यह लिपि-प्रतिलिपि का क्रम गोकुलनाथ जी के समय से अब तक प्रचलित है। प्रत्येक लेखक ने अपनी विद्या-बुद्धि और रुचि के अनुसार वार्ताओं की भाषा और उनके प्रसंगों में भी कुछ लौट-फेर किया है। इस प्रकार न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ भिन्न-भिन्न समय की वार्ता पुस्तकें अत्यधिक संख्या में सर्वत्र प्राप्त होती हैं, किंतु उनके रचयिता के रूप में गोकुलनाथ जी और हरिराय जी के नाम सब पर लिखे हुए मिलते हैं। इन विभिन्न प्रतियों में व्याकरण संबंधी भिन्नता अथवा किसी गुजराती लेखक की प्रति की गुजराती शैली देख कर इन

---

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) पृ० १

† " " " " " पृ० ३

वार्ताओं को गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की रचना समझना उचित नहीं है। चौरासी वार्ता के संबंध में पं० रामचंद्र जी शुक्ल का यह कथन —"रंग ढंग से यह वार्ता गोकुलनाथ जी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।"—इसलिए भी यथार्थ नहीं है कि उसमें गोकुलनाथ जी की अपेक्षा गोसाईं जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी की अधिक प्रशंसा मिलती है। यदि यह वार्ता गोकुलनाथ जी के किसी शिष्य की रचना होती, तब उसमें ऐसा होना संभव नहीं था, क्यों कि गोकुलनाथ जी के सेवक अपने गुरु से बढ़ कर किसी को भी नहीं मानते हैं।

'दोसौ बावन वार्ता' में गोकुलनाथ जी के बाद की कुछ घटनाओं के मिलने से भी बड़ा भ्रम पैदा हो गया है। हम पहले लिख चुके हैं कि गोकुलनाथ जी कथित वार्ताओं में प्रसंग की पूर्ति और भावों की स्पष्टता के लिए हरिराय जी ने अपने अनुभव के आधार पर अनेक बातें वार्ताओं की टिप्पणी स्वरूप अपनी ओर से जोड दी थीं। ये टिप्पणियाँ 'भावप्रकाश' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो गोकुलनाथ जी के मूल वचनों से भिन्न और हरिराय जी कृत हैं। इनको गोकुलनाथ जी कथित समझना ठीक नहीं है। हरिराय जी सं० १७७२ तक विद्यमान थे, अतः औरंगजेब द्वारा मंदिर तोड़ने की घटना उनके समय में घटित हुई थी। दोसौ बावन वार्ताओं में औरंगजेब के मंदिर तोड़ने अथवा इसी प्रकार की अन्य घटनाओं के समावेश का कारण यह है कि उन्हें हरिरायजी ने अपने भावप्रकाश रूप से व्यक्त किया है। हरिराय जी के बाद के लेखकों की असावधानी से वार्ता और भावप्रकाश का कहीं-कहीं पर मिश्रण हो गया है, जिसके कारण हरिराय जी द्वारा व्यक्त गोकुलनाथ जी के बाद की घटनाएँ भी गोकुलनाथ जी द्वारा कही हुई समझ ली जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि वार्ता संबंधी अनेक शंकाओं का कारण यह है कि उनको इसी रूप में गोकुलनाथजी द्वारा लिखा हुआ मान लिया जाता है। यदि हम यह मान कर चलें कि वार्ताओं का मूल स्वरूप गोकुलनाथ जी कथित होने पर भी उसे वास्तविक रूप में हरिराय जी ने गोकुलनाथ जी के देहावसान के कम से कम ४०-५० वर्ष पश्चात् प्रस्तुत किया है और अपने प्रवचनों में उसका विशदीकरण किया है तथा गोकुलनाथ जी एवं हरिराय जी के वे प्रवचन स्वयं उनके लिखे हुए न होकर इस कार्य के लिए नियत विभिन्न लेखकों के तत्काल लिखे हुए हैं, तब वार्ता साहित्य के आलोचकों की बहुत सी शंकाओं का स्वतः समाधान हो जाता है।

यहाँ पर एक शंका यह हो सकती है कि उन प्रवचनों को तत्काल लिखा हुआ न मान कर ऐसे व्यक्ति की रचना ही क्यों न माना जाय, जिसने गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी के प्रवचनों को सुनकर बाद में उन्हें लिख लिया हो ! इस संदेह का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है ––

"इस संदेह में उपस्थित की गयी बात को मान लेने में भाषा और समय की दृष्टि से दो आपत्तियाँ आ सकती हैं । भाषा की दृष्टि से इस बात को मानने में यह आपत्ति आती है कि श्री हरिराय जी के वचनों को किसी व्यक्ति द्वारा अपने ढंग से लिखा मानने पर श्री हरिराय जी की निश्चित मानी हुई भाषा में विभेद और वैषम्य होना स्वाभाविक है, किंतु इस ग्रंथ में कहीं भी यह दोष नहीं दिखायी देता है । समय की दृष्टि से यह आपत्ति आ सकती है कि इस ग्रंथ की भाषा के समान ही श्री हरिराय जी के अन्य अनेक भावनाओं के वृहद ग्रंथों की भी भाषाएँ मिलती हैं, अतः उन सब ग्रंथों का लेखक अतीव दीर्घजीवी और श्री हरिराय जी के निरंतर निकट रहने वाला भी होना चाहिए, जो सर्वथा असंभव प्रतीत होता है । श्री हरिराय जी के प्राप्त इतिहास में भी ऐसा कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता है; अतः यही मानना उचित है कि श्री हरिराय जी की इच्छा और आज्ञा के अनुसार समय-समय पर उपस्थित योग्य व्यक्तियों द्वारा विविध वार्ताओं की विविध व्याख्याओं को लिख लिया जाता था और श्री हरिराय जी द्वारा उनका अवलोकन होकर उन भावों के अधिकारियों में उनका प्रचार होता रहता था* ।"

हमारा निश्चित मत है कि पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य का भली भाँति अध्ययन और सुसंपादित रूप से प्रकाशन होने पर कोई भी विद्वान उसको शंका की दृष्टि से नहीं देख सकता । श्री द्वारिकादास जी परीख, श्री कंठमणि जी शास्त्री, डा० दीनदयाल जी गुप्त आदि जिन विद्वानों ने वार्ता साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है, वे सब इसको प्रामाणिक मानते हैं । श्री द्वारिकादास जी परीख ने इस साहित्य के अध्ययन, संपादन और प्रकाशन में अत्यधिक श्रम किया है, जिसके कारण वे वार्ता साहित्य के विशेषज्ञ माने जाते हैं । उन्होंने इसकी प्रामाणिकता के संबंध में जो अनेक तर्क उपस्थित किये हैं, उनमें से कुछ वार्ता साहित्य के आलोचकों के विचारार्थ आगे दिये जाते हैं—

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) ग्रंथ–परिचय, पृ० २२

१--वार्ताओं की सर्वत्र प्राप्त प्राचीन प्रतियों पर भी "श्री गोकुलनाथ जी रचित", "श्री हरिराय जी कृत" शब्द लिखे मिलते हैं, अतः इन दोनों महानुभावों के अतिरिक्त वार्ताओं के रचयिता रूप में किसी तीसरे व्यक्ति का नाम नहीं लिया जा सकता।

२—चौरासी वार्ता की प्राप्त प्रतियों में सं० १६६७ के चैत्र शु० ५ की लिखी हुई प्रति सब से प्राचीन है, जो कांकरौली विद्या-विभाग में सुरक्षित है। यह प्रति श्री गोकुलनाथ जी के देहावसान के ११ महीने पूर्व उनकी विद्यमानता में गोकुल में लिखी गयी थी। इस प्रतिकी प्रामाणिकता निश्चित है, अतः चौरासी वार्ता की प्राचीनता भी असंदिग्ध है। इस प्रति से सिद्ध होता है कि वार्ताएँ सं० १६६७ तक लिखित रूप में अवश्य प्रसिद्ध हो चुकी थीं।

३—वार्ताओं पर गोकुलनाथ जी के सम सामयिक और उनके शिष्य हरिराय जी का "भावप्रकाश" प्राप्त है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली बात यह है कि वार्ताओं की रचना "भावप्रकाश" से पहले हो चुकी थी। भावप्रकाश की रचना का अनुमान सं० १७२६ के बाद और सं० १७५० से पूर्व किया गया है। सं० १७५२ की लिखी हुई चौरासी और अष्टसखान की वार्ता की भावना संयुक्त प्रति पाटन से प्राप्त हो चुकी है। इससे ज्ञात होता है कि कम से कम सं० १७५२ तक 'भावप्रकाश' की रचना अवश्य हो चुकी थी। दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि वार्ताओं की रचना हरिराय जी के आदरणीय किसी आचार्य वंशज विद्वान महानुभाव द्वारा ही हुई है, जिनके गूढ़ भावों के स्पष्टीकरण के लिए हरिराय जी जैसे विद्वान को श्रम करना पड़ा। यदि उनकी रचना किसी साधारण वैष्णव द्वारा हुई होती, तो उन पर हरिराय जी को इतना श्रम करने की आवश्यकता नहीं होती।

४—वार्ताओं पर वल्लभ वंशीय गोस्वामी वर्ग और पुष्टि संप्रदाय के समस्त वैष्णवगण गुरु वाक्य के समान श्रद्धा रखते हैं। यदि उनकी रचना किसी साधारण वैष्णव द्वारा हुई होती, तो ऐसा संभव नहीं था।

५—वार्ताओं में संप्रदाय की उस रहस्यपूर्ण सेवा-प्रणाली और वल्लभ कुल के घर की उन अप्रसिद्ध रीति-रिवाजों का उल्लेख हुआ है, जो आचार्य वंशज किसी गोस्वामी के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के लिये अज्ञात हैं। इससे भी सिद्ध है कि उनकी रचना किसी साधारण व्यक्ति द्वारा न होकर वल्लभ-कुलोत्पन्न किसी विद्वान आचार्य द्वारा हुई है।

६--श्री गोकुलनाथ जी के सम सामयिक श्री देवकीनंदन कृत "प्रभु चरित्र चिंतामणि" में वार्ताओं का उल्लेख है और श्रीनाथ भट्ट द्वारा सं० १७२७ के लगभग रचा हुआ चौरासी वार्ता का 'संस्कृतमणिमाला' नामक संस्कृत अनुवाद भी प्राप्त है। इन दोनों ग्रंथों के कारण वार्ताओं की प्राचीनता और उनका महत्व स्वयं सिद्ध है।

७--हरिराय जी के शिष्य विठ्ठलनाथ भट्ट ने सं० १७२९ में "संप्रदाय कल्पद्रुम" नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें गोकुलनाथ जी के रचे हुए ग्रंथों में वार्ताओं का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

"वचनामृत चौबीस किय, दैवीजन सुखदान।
वल्लभ विट्ठल वारता, प्रगट कीन नृप मान ॥"

उपर्युक्त दोहा से चौरासी और दोसौ बावन वार्ताओं का संकेत मिलता है।

'चौरासी वार्ता' की गोकुलनाथ जी के समय की लिखी हुई प्राचीन प्रति प्राप्त है और उस पर सं० १७५२ में लिखा हुआ 'भावप्रकाश' भी प्राप्त है, किंतु 'दोसौ बावन वार्ता' की मूल अथवा भावप्रकाश वाली इतनी प्राचीन प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। वार्ताओं की प्रामाणिकता के संबंध में जितनी शंकाएँ दोसौ बावन वार्ता पर की गयी हैं, उतनी चौरासी वार्ता पर नहीं, इसलिए दोसौ बावन वार्ता की प्राचीन प्रति उसकी प्रामाणिकता के लिए आवश्यक है। कहते हैं कि दोसौ बावन वार्ता की भावना युक्त प्राचीन प्रतियाँ कई स्थानों में सुरक्षित हैं, किंतु वे हमारे देखने में नहीं आयीं। सं० १७५२ में लिखी हुई भावप्रकाश युक्त "अष्टसखान की वार्ता" की प्राप्ति से ऐसा अनुमान होता है कि दोसौ बावन वार्ता पर भी हरिराय जी ने 'भावप्रकाश' किया होगा। जहाँ तक अष्टछाप विषयक दोसौ बावन वार्ताओं का संबंध है, उन पर 'अष्टसखान की वार्ता' के कारण हरिराय जी का भाव प्रकाश उपलब्ध ही है।

क्या वार्ताओं का निर्भ्रांत रूप से उपयोग हो सकता है ?

उपर्युक्त विवेचन से वार्ताओं की प्राचीनता और प्रामाणिकता के अतिरिक्त उनका गोकुलनाथ जी एवं हरिराय जी द्वारा रचित होना भी सिद्ध होता है। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होना चाहिए कि अष्टछाप की जीवन-घटनाओं के संबंध में वार्ताओं का निर्भ्रांत रूप से उपयोग हो

सकता है या नहीं ? गोकुलनाथ जी का जन्म सं० १६०८ में होने के कारण अष्टछाप के कई महानुभावों से उनका व्यक्तिगत परिचय होगा और कई महानुभावों की आँखों देखी जीवन-घटनाएँ उन्होंने विश्वसनीय व्यक्तियों से सुनी होंगी, इसलिए उनके समय में लिखी हुई चौरासी वार्ता की घटनाओं को उसी रूप में स्वीकार करने में बाधा नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार हरिराय जी द्वारा खोज और विश्वसनीय साधनों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर लिखित 'भावप्रकाश' की घटनाओं को स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए; किंतु अष्टछाप के जीवन वृत्तांत के लिए वार्ताएँ और भावप्रकाश को प्रधान आधार मानते हुए भी उनमें उल्लिखित समस्त बातों को निर्भ्रांत रूप से स्वीकार करने में हम भी असमर्थ हैं।

वार्ताओं को प्राचीन और गोकुलनाथ जी द्वारा कथित एवं हरिराय जी द्वारा संपादित मानते हुए भी उनकी सांप्रदायिक एवं भावनायुक्त शैली के कारण आजकल के वैज्ञानिक युग में उनको इसी रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमको यह कहने में भी कोई संकोच नहीं है कि गोकुलनाथ जी एवं हरिराय जी दोनों का अभिप्राय इन वार्ताओं द्वारा पुष्टि संप्रदाय के आचार्यों और उनके भक्तों के महत्व की वृद्धि करना एवं उनकी जीवन-घटनाओं को इस रूप में उपस्थित करना था कि संप्रदाय के सेवक उनकी ओर आकर्षित होकर तदनुकूल आचरण करने की चेष्टा करें। ऐसी दशा में कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण एवं चमत्कार युक्त बातों का सम्मिलित हो जाना भी सर्वथा संभव है। चौरासी वार्ता की प्राचीन प्रतियों की प्राप्ति के कारण वल्लभाचार्य जी के सेवकों की जीवन-घटनाएँ मूल रूप में भी उपलब्ध हैं, किंतु दोसौ बावन वार्ता की वैसी ही प्राचीन प्रति के अभाव में हम विट्ठलनाथ जी के सेवकों की जीवन-घटनाओं के लिए हरिराय जी कृत भावप्रकाश युक्त "अष्टसखान की वार्ता" पर ही निर्भर हैं। हरिराय जी ने अपने भावप्रकाश की रचना अष्टछाप के जीवन-काल से कम से कम सौ वर्ष पश्चात् की थी, इसलिए उनकी कुछ बातें भ्रमात्मक भी हो सकती हैं।

यद्यपि हमने अष्टछाप के जीवन-वृत्तांत के लिए चौरासी वार्ता और अष्टसखान की वार्ता को प्रधान आधार माना है, तथापि उनकी सभी बातें हमने स्वीकार नहीं की हैं। आजकल के वैज्ञानिक युग में जो बातें बुद्धिगम्य नहीं हैं, अथवा जो अन्य साधनों से अप्रामाणिक सिद्ध हो गयी हैं, उन बातों को हमने एक दम छोड़ दिया है।

३. अष्टछाप का क्रम

वार्ताओं में निश्चित क्रम का अभाव—

गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि अष्टछाप में स्थापित महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के चार सेवकों की वार्ताएँ 'चौरासी वार्ता' के अंत में और गो० विट्ठलनाथ जी के चार सेवकों की वार्ताएँ 'दोसौ बावन वार्ता' के आरंभ में संकलित की गयी हैं। यही आठों वार्ताएँ जीवन-वृत्तांत के कुछ न्यूनाधिक अंतर के साथ 'अष्टसखान की वार्ता' में भी दी हुई हैं। इन वार्ताओं में अष्टछाप के आठों महानुभावों का क्रम साधारण अंतर के अतिरिक्त प्रायः एक सा ही है। वल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी के सेवकों के मूल वर्गीकरण के अतिरिक्त इस क्रम का कोई विशिष्ट उद्देश्य ज्ञात नहीं होता है। इन वार्ताओं का क्रम सांप्रदायिक महत्व, रचना-सौन्दर्य अथवा आयुक्रम के अनुसार हो सकता था, किंतु उनमें ऐसा कोई भी विचार नहीं रखा गया है। हम जानते हैं कि वार्ताओं में साहित्यिक महत्व अथवा आयुक्रम पर दृष्टि न रख कर सांप्रदायिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है, किंतु उनके क्रम में सांप्रदायिक महत्व के तारतम्य की बात भी दिखलायी नहीं देती है।

अष्टछाप संबंधी सभी वार्ताओं में सूरदास की वार्ता को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सांप्रदायिक भावना, रचना-सौन्दर्य एवं वयक्रम—सभी दृष्टियों से सूरदास अष्टछाप के मुकुटमणि है, किंतु किसी भी दृष्टि से उनकी वार्ता को प्रथम स्थान देने पर उसकी संगति प्रचलित वार्ताओं में दिए हुए अन्य महानुभावों के क्रम से नहीं हो पाती। हम आगामी पृष्ठों में अष्टछाप के जीवन-वृतांत को लिखते समय उसे किसी निश्चित क्रम से देना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि यह क्रम किस आधार पर निर्धारित किया जावे?

निश्चित क्रम की बाधाएँ—

हिंदी के अन्य साहित्यकारों के समान हम भी अष्टछाप के सांप्रदायिक रूप की अपेक्षा उसके साहित्यक रूप को अधिक महत्व देते हैं। हमारी दृष्टि में वे पुष्टि संप्रदाय के अनन्य सेवक होने की अपेक्षा हिंदी भक्ति-साहित्य के आरंभिक कवि होने के कारण अधिक आदरणीय हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार इस पुस्तक में उनका क्रम उनकी रचनाओं के साहित्यिक महत्व के कारण

होना उचित है, किंतु इसमें यह बाधा है कि अष्टछाप की सभी रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यिक दृष्टिकोण के अनुसार क्रम निर्धारित करते समय अष्टछाप के किसी महानुभाव के साथ उचित न्याय न होने की भी संभावना है। फिर इस क्रम में महाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठलनाथ के सेवकों का पृथक् वर्गीकरण न रह सकेगा, जिसके कारण वह बेमेल संगठन सा ज्ञात होगा।

आयुक्रम ही सुविधाजनक है—

इन बातों पर विचार करने से आयुक्रम के अनुसार ही अष्टछाप के क्रम निर्धारित करने में सुविधा ज्ञात होती है, किंतु इसमें भी एक बाधा यह है कि अष्टछाप के सभी महानुभावों के जन्म-संवत् निर्भ्रांत रूप से अभी निश्चित नहीं हो पाये हैं। फिर भी इस क्रम की सुविधा को देखते हुए अधिकांश विद्वानों के मत और अपनी शोध द्वारा प्रामाणिक साधनों से निश्चित किये हुए जन्म-संवतों को स्वीकार कर हमने आयुक्रम के अनुसार ही अष्टछाप का क्रम निश्चित किया है।

आयुक्रम के अनुसार हमारे मत से अष्टछाप में सर्वप्रथम नाम कुंभनदास का आता है। अष्टछाप के मुकुटमणि होने के कारण सूरदास का सर्वप्रथम उल्लेख होना उचित था, किंतु आयुक्रम के अनुसार उनको कुंभनदास के बाद ही रखना होगा। सूरदास अष्टछाप के अन्य समस्त कवियों में वयोवृद्ध होने पर भी कुंभनदास से आयु में दस वर्ष छोटे थे। कुछ विद्वानों ने कुंभनदास और सूरदास को एक ही संवत् में उत्पन्न हुआ मान कर उनको समान वय का भी लिखा है, किंतु प्रामाणिक साधनों से सूरदास की अपेक्षा कुंभनदास आयु में बड़े सिद्ध होते हैं, इसलिए अष्टछाप में उनको प्रथम स्थान दिया गया है। कुंभनदास के बाद सूरदास, उनके बाद परमानंददास और कृष्णदास, उनके भी बाद गोविंदस्वामी को स्थान देने में आयुक्रम के अनुसार कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास के जन्म-संवत निश्चय करने में विद्वानों में मतभेद है, किंतु अपनी शोध द्वारा निश्चित किये हुए जन्म संवतों के आधार पर हमने उनका भी क्रम निर्धारित किया है।

अष्टछाप के संक्षिप्त परिचय के लिए हम एक कोष्टक दे रहे हैं। उसके जीवन-वृत्तांत, काव्य-संग्रह और अन्य बातों का विस्तार पूर्वक वर्णन आगामी पृष्ठों में किया जावेगा।

अष्टछाप का कोष्टक

[स्थापना का आरंभ सं० १६०२, उसकी पूर्ति सं० १६०७]

सं०	नाम	दीक्षा-गुरु	जन्म संवत्	जाति	अष्टछाप की स्थापना के समय आयु	स्थायी निवास	देहावसान संवत्
१.	कुंभनदास	श्री वल्लभाचार्य	सं० १५२५	गौरवा क्षत्रिय	७७ वर्ष	जमुनावतौ	सं० १६४०
२.	सूरदास	,,	सं० १५३५	सारस्वत ब्राह्मण	६७ वर्ष	परासौली	सं० १६४०
३.	परमानंददास	,,	सं० १५५०	कान्यकुब्ज ब्राह्मण	५२ वर्ष	सुरभीकुंड	सं० १६४१
४.	कृष्णदास	,,	सं० १५५३	कुनबी कायस्थ	४६ वर्ष	बिलछूकुंड	सं० १६३६
५.	गोविंदस्वामी	श्री विट्ठलनाथ	सं० १५६२	सनाढ्य ब्राह्मण	४० वर्ष	कदमखंडी	सं० १६४२
६.	छीतस्वामी	,,	सं० १५७३	मथुरिया चौबे	२६ वर्ष	पूछरी	सं० १६४२
७.	चतुर्भुजदास	,,	सं० १५८७	गौरवा क्षत्रिय	१५ वर्ष	जमुनावतौ	सं० १६४२
८.	नंददास	,,	सं० १५९०	सनाढ्य ब्राह्मण	१२ वर्ष†	मानसीगंगा	सं० १६४०

† अष्टछाप की स्थापना के आरंभ में नंददास नहीं थे। वे संवत् १६०७ में पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हुए; तभी उनको सम्मिलित कर अष्टछाप की भी पूर्ति की गयी। उस समय उनकी आयु १७ वर्ष की थी।
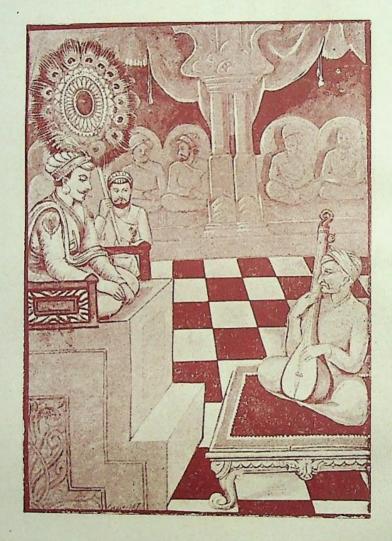
फतहपुर सीकरी में अकबर के सन्मुख अनिच्छा पूर्वक गाते हुए,—

कुंभनदास

जन्म सं० १५२५] [देहावसान सं० १६४०

अष्टछाप-परिचय

पुष्टि संप्रदाय के संस्थापक :

महाप्रभु बल्लभाचार्य जी

जन्म सं० १५३५ :: देहावसान सं० १५८७

तृतीय परिच्छेद

अष्टछाप के कवि

★

१. कुंभनदास

[सं० १५२५ से सं १६४०]

जीवन-सामग्री और उसकी आलोचना—

कुंभनदास का जीवन-वृत्तांत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता‡" और "अष्ट सखान की वार्ता" में क्रमशः वार्ता सं० ८४ और सं० ३ में दिया हुआ है। इन वार्ताओं में उनके निवास स्थान और उनकी जाति का तो उल्लेख हुआ है, किंतु उनके पूर्वज, कुटुंबी एवं माता-पिता का कोई विवरण नहीं दिया गया है। 'भाव संग्रह' में उनके पिता का नाम भगवानदास और 'श्रीनाथजी के प्राकट्य की वार्ता' में उनके चाचा का नाम धरमदास लिखा मिलता है। धरमदास के विषय में बतलाया गया है कि वह एक भक्त जन था। बाल्यावस्था में कुंभनदास इसके साथ रहा करते थे, अतः अपने आरंभिक जीवन में ही वे भगवद्भक्त हो गये थे।

वार्ता में उनके जन्म संवत् का उल्लेख नहीं है। मिश्रबंधु, शुक्लजी एवं रसाल जी के इतिहास ग्रंथों में भी उनके जन्म, मरण अथवा उनके जीवन की किसी घटना विशेष का कोई संवत् नहीं दिया गया है। डा० श्यामसुंदर दास ने उनका जन्म-संवत् १५२५ लिखा है*। यही संवत् श्री द्वारिकादास परीख एवं डा० दीनदयाल गुप्त को भी मान्य है†। इस संवत् का आधार "श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता" है, जिसमें लिखा है कि श्रीनाथजी के प्राकट्य के समय कुंभनदास की आयु दस वर्ष की थी। श्रीनाथ जी एवं वल्लभाचार्य जी का प्राकट्य काल सं० १५३५ निश्चित हो चुका है, अतः कुंभनदास का जन्म संवत् भी इस आधार पर १५२५ निश्चित होता है।

---

‡ डाकोर संस्करण।

* हिंदी साहित्य पृ० १६४

† प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वि०भाग,ऐतिहासिक विवरण पृ० ८,गुज०भाग पृ०६६

वार्ता में महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के अतिरिक्त कुंभनदास के आरंभिक जीवन से संबंध रखने वाली किसी घटना विशेष का उल्लेख नहीं है। वार्ता से ज्ञात होता है कि पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व ही उनको काव्य-रचना और गायन कला का ज्ञान था। यह ज्ञान उनको किस प्रकार प्राप्त हुआ, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद वे पदों की रचना और उनके गायन द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। उन्होंने बाल-लीला के पदों की रचना न कर युगल-लीला विषयक मधुर भक्ति के पदों का गायन किया है।

वार्ता से ज्ञात होता है कि वे एक साधारण कृषक थे, जो अपनी कृषि की आय से अपने बड़े कुटुंब का पालन किया करते थे। उनके सात पुत्र थे और सातों पुत्रों की स्त्रियाँ थीं। इनके अतिरिक्त उनकी एक विधवा भतीजी भी उनके साथ रहती थी। इस प्रकार साधारण आय और विपुल कुटुंब के कारण उनको द्रव्य का सदैव संकोच रहता था, किंतु वे परम संतोषी स्वभाव के व्यक्ति थे।

कुंभनदास के जीवन-वृत्तांत में अकबर और मानसिंह से मिलने की घटनाओं का विशेष महत्त्व है। इन घटनाओं से उनके संतोषी और निर्लोभी स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। ये घटनाएँ उनके उत्तर-जीवन से संबंध रखती हैं, किंतु वार्ता में उनका आरंभ में ही कथन किया गया है। इतिहास से सिद्ध है कि अकबर ने फतहपुर सीकरी में अपना दरबार सं० १६३८ में किया था, उसी समय उसने कुंभनदास की प्रसिद्धि सुनकर उनको फतहपुर सीकरी में बुलाया होगा। उस समय कुंभनदास की आयु ११३ वर्ष के लगभग थी। वार्ता से ज्ञात होता है कि वे बादशाह की भेजी हुई सवारी पर न बैठ कर पैदल ही फतहपुर सीकरी गये थे ! ११३ वर्ष की अति वृद्धावस्था में अपने ग्राम जमुनावतों से इतनी दूर पैदल जाना कहाँ तक संभव है, यह विचारणीय है; किंतु उस काल के महापुरुषों की जीवनी-शक्ति और उनके पुरुषार्थ का विचार कर ही इस घटना की सत्यता में विश्वास करना पड़ता है।

फतहपुर सीकरी वाली घटना से उनका सं० १६३८ तक जीवित रहना माना जा सकता है। वार्ता से ज्ञात होता है कि वे सूरदास के देहावसान के समय (सं० १६४० के लगभग) उपस्थित थे। परमानंददास के देहावसान (सं १६४१ के लगभग) और गो० विट्ठलनाथ के तिरोधान (सं० १६४२) के समय उनकी उपस्थिति का उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए उनका देहावसान सं० १६४० में सूरदास के बाद मानना उचित है।

जीवनी

जन्म और संक्षिप्त परिचय—

कुंभनदास का जन्म सं० १५२५ की कार्तिक कृ० ११ को गोवर्धन के निकटवर्ती जमुनावतौ नामक ग्राम में हुआ था। कहते हैं किसी काल में यमुना नदी का प्रवाह इस गाँव के पास था, इसीलिए इसका नाम 'जमुनावतौ' पड़ गया है, किंतु आजकल यमुना नदी यहाँ से बहुत दूर हो गयी है। परासौली गाँव के पास उनकी थोड़ी सी पैतृक भूमि थी। उसी पर खेती कर वे अपने कुटुंब का पालन करते थे।

कुंभनदास गौरवा क्षत्रिय† थे। उनके पिता और अन्य कुटुंबी जन क्या कार्य करते थे, इसके विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता, किंतु अनुमानतः वेभी साधारण कृषक होंगे और खेती-बाड़ी का काम करते होंगे। उनके एक चाचा का नाम धरमदास था। वे बड़े भक्तजन थे। कुंभनदास के आरंभिक जीवन पर अपने चाचा का विशेष प्रभाव पड़ा था। कुंभनदास की आरंभ से ही काव्य-रचना और संगीत की ओर रुचि थी, इससे अनुमान होता है कि वे अपने अवकास के समय में भगवद्भक्ति के पद बनाकर गाया करते होंगे।

पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा—

सं० १५५० के लगभग जब महाप्रभु बल्लभाचार्य अपनी प्रथम यात्रा करते हुए गोवर्धन में गये, तब बहुत से ब्रजवासी उनके शिष्य हो गये। कुंभनदास सं० १५५६ के लगभग उनके सेवक हुए थे। इस प्रकार वे भी बल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। इससे पूर्व सं० १५३५ में गोवर्धन में श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य हुआ था। ब्रजवासियों में इस स्वरूप के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बल्लभाचार्य जी ने एक छोटा सा मंदिर बनवा कर श्रीनाथ जी को उसमें पधरा दिया। कुंभनदास, सद्दू पांडे और रामदास चौहान प्रभृति ब्रजवासी गण श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा बड़ी भक्ति-भाव से करने लगे। रामदास चौहान सेवा-पूजा की व्यवस्था देखते थे और कुंभनदास नित्य नये पदों की रचना द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। सूरदास के आगमन के पूर्व कुंभनदास ही श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करते थे।

---

† 'मिश्रबंधु विनोद' में उनको गौरवा ब्राह्मण लिखा गया है, जो ठीक नहीं है। गौरवा ठाकुर होते हैं, ब्राह्मण नहीं।

प्रसिद्धि और जीवन-चर्या—

सं० १६०२ में जब गो० विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमें कुंभनदास और उनके पुत्र चतुर्भुजदास को भी सम्मिलित किया गया। कुंभनदास की भक्ति-भावना और उनके पद-लालित्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गयी थी, इसलिए अनेक महात्माओं के अतिरिक्त राजा-महाराजा भी उनके दर्शन की इच्छा रखते थे। वार्ता से ज्ञात होता है कि राधावल्लभीय संप्रदाय के संस्थापक श्री हित हरिवंश जी तथा वृंदावन के कुछ अन्य महात्माओं का भी उनसे साक्षात्कार हुआ था।

उनकी काफी बड़ी गृहस्थी थी—सात पुत्र थे, उनकी स्त्रियाँ थीं और भी घर के आदमी थे, किंतु आय का साधन वही थोड़ी सी खेती थी। खेती से जो कुछ मिलता था, उसी से वे किसी प्रकार अपने गृहस्थ का पालन करते थे। यह महात्मा जीवन भर निर्धन रहे, किंतु किसी के सामने हाथ पसारना तो क्या, किसी के सन्मान पूर्वक दिए हुए द्रव्य को भी इन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया!

संतोष और निर्लोभता—

सं० १६२० के लगभग राजा मानसिंह व्रज में आये थे। वे मथुरा वृंदावन होकर गोवर्धन भी गये। वहाँ मानसीगंगा के ऊपर उन्होंने अपना डेरा लगवाया। वे गोवर्धन में हरदेव जी के दर्शन कर श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ जतीपुरा आये। वहाँ पर श्रीनाथ जी के राज-भोग के दर्शन कर वे अत्यंत आनंदित हुए। ठाकुर जी के आगे कीर्तन हो रहा था। वीणा और मृदंग के साथ कुंभनदास बड़े भक्तिभाव से पदों का गायन कर रहे थे। राजा मानसिंह उनके गायन से इतने प्रसन्न हुए कि दूसरे दिन प्रातःकाल उनसे मिलने के लिए उनके ग्राम जमुनावतौ में गये। उन्होंने कुंभनदास को बहुत सा द्रव्य देना चाहा, किंतु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे श्रीनाथ जी की सेवा छोड़ कर कहीं जाने को भी तैयार नहीं होते थे, चाहें वहाँ जाने से उनको कितना ही लाभ क्यों न हो।

एक बार सं० १६३१ के लगभग गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारिकापुरी की यात्रा को जा रहे थे। वे कुंभनदास को इसलिए अपने साथ ले जाना चाहते थे कि वहाँ के वैष्णव भक्तों की दी हुई भेंट से उनका अर्थ कष्ट दूर हो जावेगा। उन्होंने कुंभनदास को अपने साथ यात्रा में चलने का आदेश दिया। गोसाईं जी

की आज्ञा जान कर वे उनके साथ चल तो दिये, किंतु उनका मन श्रीनाथ जी में लगा रहा। यात्रा का पहला पड़ाव श्रीनाथ जी के मंदिर से कुछ दूर अप्सराकुंड पर ही डाला गया। कुंभनदास श्रीनाथ जी के विरह में विह्वल होने लगे। उन्होंने नेत्रों में आँसू भर कर निम्न लिखित पद का गायन किया-

केते दिन ह्वै जु गये बिन देखें।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन, कछुक उठति मुख रेखें॥
वह सोभा, वह काँति वदन की, कोटिक चंद विसेखें।
वह चितवन, वह हास्य मनोहर, वह नटवर बपु भेषें॥
स्यामसुँदर सँग मिल खेलन की, आवत जिये अमेखें।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन, जीवन जन्म अलेखें॥

विट्ठलनाथ जी ने कुंभनदास की यह दशा देख कर उनसे कहा— "श्रीनाथ जी का कुछ समय का वियोग भी तुमको युगों के समान असह्य हो रहा है! तुम्हारी यात्रा तो हो चुकी, अपने घर जाओ।"

अकबर से भेंट—

कुंभनदास सच्चे भक्त और त्यागी महात्मा थे। वे सांसारिक प्रलोभन और लौकिक ख्याति से दूर रह कर श्रीनाथ जी की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते थे। एक समय किसी गायक को उनके एक पद सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ। उसने वही पद फतहपुर सीकरी में अकबर बादशाह को गाकर सुनाया। अकबर उस पद की रचना-माधुरी पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसके रचयिता से मिलने की इच्छा प्रकट की। निदान कुछ सैनिक घोड़ा और पालकी लेकर कुंभनदास को बुलाने के लिए उनके गाँव जमुनावतौ में आये। कुंभनदास उस समय अपनी खेती पर परासौली गये थे। बादशाह के सैनिक उनको खोजते हुए वहीं पर पहुँच गये। कुंभनदास को देख कर उन्होंने उनसे बादशाह के पास चलने की प्रार्थना की। बादशाह के निमंत्रण पर उनको बड़ा आश्चर्य और वहाँ जाने के विचार में बड़ा क्लेश हुआ।

उन्होंने सैनिकों से कहा—"भैया! मैं एक साधारण कृषक हूँ। खेती द्वारा अपने गृहस्थ का पालन करता हूँ। इससे समय मिलने पर श्रीनाथ जी की सेवा करता हूँ। मुझे बादशाह से कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिए मेरा वहाँ जाना बेकार है।" सैनिकों ने कहा— "महाराज! बादशाह आपसे मिलने

के लिए बड़े उत्सुक हैं। हमको यह आज्ञा मिली है कि हम आपको उनके पास ले जावें। आपकी सवारी के लिए घोड़ा और पालकी उपस्थित हैं। जिस पर आपकी इच्छा हो सवार होकर हमारे साथ चलिए।"

कुंभनदास ने सोचा कि बादशाह के आदेश का अवश्य पालन किया जावेगा। मैं इच्छा से नहीं जाऊँगा, तो मुझको अनिच्छा पूर्वक वहाँ जाना पड़ेगा। यही सोचकर उन्होंने सैनिकों से कहा—"अच्छा बाबा! तुम्हारे बादशाह की ऐसी ही इच्छा है तो मैं श्रीनाथजी के दर्शन कर तुम्हारे साथ चलता हूँ। घोड़ा–पालकी पर तो मैं कभी चढ़ा नहीं, और न चढ़ना चाहता हूँ। मैं तुम्हारे साथ पैदल चलूँगा।"

निदान कुंभनदास बादशाह के सैनिकों के साथ पैदल चल कर गोवर्धन से फतहपुर सीकरी पहुँचे। बादशाह ने उनका बड़ा सत्कार किया, किंतु श्रीनाथ जी के दर्शनों से वंचित होने के कारण उनका मन अत्यंत खिन्न था। अकबर ने उनसे कहा—"कुंभनदास जी! आप बड़े सुंदर पदों की रचना करते हैं; कोई नवीन पद सुनाइये।"

कुंभनदास का मन तो खिन्न था ही, उन्होंने बादशाह की अप्रसन्नता का विचार न कर निम्न लिखित पद गाया—

> भक्तन कौ कहा सीकरी काम।
> आवत जात पन्हैयां टूटीं, बिसर गयौ हरिनाम॥
> जाकौ मुख देखैं दुख लागै, ताकों कान परी परनाम।
> 'कुंभनदास' लाल गिरधर बिन, यह सब झूठौ धाम॥

सहृदय बादशाह उस निर्लोभी और सच्चे भक्त की स्पष्टवादिता से रुष्ट नहीं हुआ। उसने आदर पूर्वक उनको उनके घर पहुँचवा दिया। जब कुंभनदास ने श्रीनाथ जी के पुनः दर्शन किये, तब कहीं उनकी खिन्नता दूर हुई। ऐसा अनुमान है कि कुंभनदास की अकबर से भेंट सं० १६३८ के लगभग हुई थी। उस समय वे प्रायः ११३ वर्ष के वृद्ध थे!

अनासक्त गृहस्थ जीवन—

कुंभनदास के सात पुत्र थे। उनमें सब से छोटे चतुर्भुजदास थे, जो स्वयं अष्टछाप के एक कवि थे। सात पुत्रों के होते हुए भी कुंभनदास किसी के पूछने पर अपने डेढ़ पुत्र बतलाते थे। वे कहते थे कि एक पुत्र तो चतुर्भुजदास

है, जो श्रीनाथ जी की सेवा भी करता है और उनका गुण-गान भी करता है। अन्य पुत्र कृष्णदास है, जो श्रीनाथ जी की गायों की रखवाली कर उनकी सेवा करता है, किंतु उनका गुण-गान नहीं करता। शेष पाँच न श्रीनाथ जी की सेवा करते हैं और न उनका गुण-गान ही, इसलिए उनका होना और न होना बराबर है।

श्रीनाथ जी की गायों की देखभाल और उनको बन में चराने का काम कुंभनदास का पुत्र कृष्णदास करता था। एक बार बन से गायों की वापिसी में कुछ विलंब होगया। सायंकाल के अंधकार में एक सिंह ने गिरिराज की गुफा में से निकल कर एक गाय पर आक्रमण किया। गाय की रक्षा के लिए कृष्णदास सिंह पर टूट पड़ा। सिंह ने गाय को छोड़ कर कृष्णदास का काम तमाम कर दिया। अपने पुत्र की इस प्रकार मृत्यु का समाचार जब कुंभनदास ने सुना, तो उन्होंने श्रीनाथ जी की गायों की रक्षा के निमित्त अपने पुत्र की मृत्यु को सार्थक समझा। इस प्रकार कुंभनदास गृहस्थ में रहते हुए भी उसकी ममता में कभी नहीं फँसे। वे एकनिष्ट भाव से जीवन भर श्रीनाथ जी की भक्ति करते रहे।

देहावसान—

कुंभनदास का नियम था कि वे प्रति दिन अपने ग्राम से श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ आते थे और उनका कीर्तन करते थे। इसी नियम के अनुसार वे श्रीनाथ जी की सेवा के अनंतर घर वापिस जाते हुए आन्यौर के निकटवर्ती संकर्षण कुंड पर ठहर गये और घर जाने में अपने को अशक्त पाने लगे। उनके पुत्र चतुर्भुजदास ने उनको जमुनावतौ गाँव में ले जाना चाहा, किंतु उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा—"अब घर पर चलकर क्या करना है, कुछ समय बाद तो देह ही छूटने वाली है।" 'अष्टसखान की वार्ता' में लिखा है कि श्रीनाथ जी के राजभोग के अनंतर गो० विट्ठलनाथ जी की उपस्थिति में उन्होंने अपने नश्वर शरीर को छोड़ कर लीला धाम में प्रवेश किया। कुंभनदास ने ११५ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त कर सं० १६४० के लगभग इस संसार को छोड़ा था।

काव्य-रचना—

उनका रचा हुआ कोई विशेष ग्रंथ प्रसिद्ध नहीं है, किंतु कीर्तन-संग्रहों में उनके स्फुट पद यथेष्ट संख्या में मिलते हैं। कांकरौली विद्या-विभाग में उनके प्रायः २०० पद संगृहीत हैं। डा० श्यामसुंदरदास ने उनकी 'दानलीला' और 'पदावली' पुस्तकों का उल्लेख किया है, संभव है वे उनके तत्संबंधी स्फुट पदों के संग्रह हों। श्रीरामचंद्र जी शुक्ल ने उनकी काव्य-रचना के विषय में लिखा है---

"इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला‡।"

कुंभनदास के काव्य का विषय श्री कृष्ण की बाल-लीला लिखना ठीक नहीं है। अष्टछाप में वही एक ऐसे कवि थे, जिन्होंने बाल-लीला की अपेक्षा युगल-लीला के पदों का गायन किया है। वार्ता में उनके संबंध में लिखा है—

"सो कुंभनदास सगरे कीर्तन युगल स्वरूप संबंधी कीये। सो बधाई, पलना, बाल-लीला गाई नाहीं†।"

पुष्टि संप्रदाय की सेवा-विधि में बाल भाव की प्रधानता देख कर आजकल के बहुत से विद्वानों की यह धारणा हो गयी है कि बल्लभाचार्य जी के मत में वात्सल्य भक्ति ही ग्राह्य है। इस संप्रदाय के कवियों के काव्य में जो माधुर्य भक्ति दिखलायी देती है, वह बाद में अन्य संप्रदायों के प्रभाव से आयी है। इस धारणा का खंडन कुंभनदास के काव्य के अध्ययन से हो जाता है। कुंभनदास बल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। वे जिस समय आचार्य जी की शरण में आये थे, तब भी उन्होंने किशोर लीला के पद का ही गायन किया था। इसे सुन कर आचार्य जी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—

"कुंभनदास! निकुंज-लीला संबंधी रस कौ अनुभव भयौ। .... तिहारे बड़े भाग्य हैं। जो प्रथम प्रभु तुमकों प्रमेय बल कौ अनुभव बताये, तासों तुम सदा हरि रस में मगन रहोगे*।"

वास्तविक बात यह है कि बल्लभाचार्य जी ने वात्सल्य के अतिरिक्त सख्य और माधुर्य भक्ति का भी उपदेश दिया था, जिसके कारण अष्टछाप के काव्य में भक्ति के सभी प्रकार दिखलायी देते हैं। कुंभनदास की आसक्ति निकुंज-लीला में थी, अतः उनके काव्य में माधुर्य भक्ति सूचक दान-मान आदि के पद अधिक संख्या में मिलते हैं। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उनकी कविता मध्यम श्रेणी की है, किंतु उसमें माधुर्य भक्ति की प्रचुरता है। हिंदी के इतिहास ग्रंथों में उनका कविता-काल सं० १६०६ लिखा गया है, किंतु वह सं० १५५६ के लगभग है, जब कि वे पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होकर श्रीनाथ जी का कीर्तन करने लगे थे।

---

‡ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १५४

† चौरासी वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' पृ० ६२ * वही पृ० ६१

काव्य-संग्रह

रूप-वर्णन—

बनी राधा-गिरिधर की जोरी।
मनहुँ परस्पर कोटि मदन-रति की सुंदरता चोरी॥
नौतन स्याम नंदनंदन, वृषभानु-सुता नव गोरी।
मनहुँ परस्पर बदन चंद कौं पिवत चकोर-चकोरी॥
'कुंभनदास' प्रभु रसिक लाल, बहु विधि वर रसिक निहोरी।
मनहुँ परस्पर बढ्यौ रंग अति, उपजी प्रीति न थोरी॥ १॥

*

तेरे नैंन चंचल बदन कमल पर, मनौं जुग खंजन करत कलोल।
कुंचित अलक मनौं रस लंपट चलि आए मधुपनि के टोल॥
कहा कहौं अँग-अंग की सोभा, खुभी न परसत चारु कपोल।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, देखत बाढ़ै मनज अमोल॥२॥

*

तेरे सिर कुसुम बिथुर रह्यौ भामिन, सोभा देत मानौं नभ निसि तारे।
स्याम अलक छुटि रही री बदन पर, चंद्र छिप्यौ मानौं बादर कारे॥
मुकत–माल मानौं मानसरोवर, कुच चकवा दोऊ न्यारे-न्यारे।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, बस कीन्हे नंदलाल पियारे॥३॥

*

सरद सरोवर सुभग अंग में, बदन कमल चारु फूल्यौ री माई।
ता ऊपर बैठे जुग खंजन, मत्त भये मानौं करत लराई।
कुंचित केस सुदेस सखी री! मधुपन की माला जुरि आई।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, लालन है युवतिन सुखदाई॥४॥

*

सखी री! जिनि वा सरोवर जाहि।
अपने रस कौ तजि चक्रवाकी बिछुरि चलति मुख चाहि॥
सकुचत कमल अकाल पाइ कै, अलि व्याकुल दुख दाहि।
तेरे सहज आननै है गति, यह अपराध कहि काहि॥
यह अदभुत सरि रच्यौ विधाता, सरस रूप अनुसाहि।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिधर सागर, देखत उमगत ताहि॥२॥

प्रगटी नागरि रूप-निधान ।
देखि सखी बूझति ही परस्पर, नहिं त्रिभुवन महँ आन ॥
उपमा कों जे-जे कहियत हैं, ते जू भईं निरमान ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर, यह जोरी सहज समान ॥६॥

★

स्याम सुभग तन सोभित छींटें, नीकी लागीं चंदन की ।
मंडित सुरँग अबीर कुमकुमा अरु सुदेस रज बंदन की ।।
'कुंभनदास' मदन तन मन, बलिहार कियौ नँदनंदन की ।
गिरिधरलाल रची विधि मानों, जुवती जन मन फंदन की ।।७॥

★

नंदनंदन नवल कुँवर ब्रज बरसौ, भाग साँवा बदन ओप,
निरखि सखी नैंननि मन हरत री ।
स्याम-सेत अति सुअच्छ, बंक चपल चितवनि सों,
मनहुँ सरद-कमल ऊपर खंजन द्वै लरत री ॥
अलकावलि मधुप पाँति, अँग-अँग छवि कहि न जाति,
निरखति सुंदर जु बदन के पाँयन परत री ।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिधरन, स्याम रूप सोंहिनी सों,
देव-भूमि पाताल जुवती सहज ही बस करत री॥८॥

★

काहे बाँधति नाइनैं छूटे केस ।
ससि मुख पर घन-धारा छूटी, कछु जु चली उर देस ।।
अंग-अंग यह सोभा कहा कहूँ, निसि जागि आई औरहिं बेस ।
'कुंभनदास' अति ओप से ओप भई, गोवरधन-धर मिले ब्रज-जुवति नरेस।।९॥

★

सुंदर सत्ता की सीवाँ नैंन ।
परम स्वच्छ चपल अनियारे, सहज लजावत मैंन ।।
कमल-मीन-मृग खग आधीनहिं, तजि अपने सुख-चैंन ।
निरखि सबनि सखि, एक अंस पर सब सुख के ये दैंन ।।
जब अपने रस गूढ़ भाव करि, कछुक जनावत सैंन ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, जुवतिन मन हरि ऐंन ॥१०॥

रूपासक्ति—

रूप देखि नैंननि पलक लागें नहीं।
गोवरधन-धर अंग-अंग प्रति जहाँ ही परति दृष्टि रहति तहीं ।।
कहा कहौं कछु कहत न आवौ, चोरयौ मन माँगिवे दही।
'कुंभनदास' प्रभु के मिलन को, सुंदरि बात सखीनु सों कही ।।११।।

*

नैंन भरि देखौ नंदकुमार।
ता दिन तें सब भूलि गई हौं, बिसरयौ पन परवार ।।
बिन देखे हौं बिकल भई हौं, अंग-अंग सब हारि।
ताते सुधि है सांवरि मूरति की, लोचन भरि-भरि वारि ।।
रूप-रासि पैमित नहीं मानौं, कैसे मिलै लौ कन्हाई।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, मिलियै बहुर री माई ।।१२।।

*

नैंननि टकटकी लागि रही।
नख सिख अंग लाल गिरिधर के देखत रूप बही ।।
प्रातकाल घर तें उठि सुंदरि जाति ही बेचन मही।
ह्वै गई भेंट स्यामसुंदर सों, अधभर पथ बिच ही ।।
घर-व्यौहार सकल सुधि भूली, ग्वालिन मनसिज दही।
'कुंभनदास' प्रभु प्रीति बिचारी, रसिक कंचुकी गही ।।१३।।

*

देखो री माई ! कैसी है ग्वालनि उलटी रई मथनिया बिलोवै।
बिनु नैंनी कर चंचल पुनि-पुनि नवनीतै टकटोवै ।।
निरखि स्वरूप चोहटि चित लाग्यौ, एकै टक गिरिधर-मुख जोवै।
'कुंभनदास' चितै रही अकबक, औरें भाजन धोवै ।।१४।।

*

कबहूँ देखि हौं इन नैंननु।
सुंदर स्याम मनोहरि मूरत अंग-अंग सुख दैननु ।।
वृंदावन बिहार दिन दिन प्रति, गोपवृंद सँग लैननु।
हँसि-हँसि हरषि पतौवन पावन, बाँटि-बाँटि पय फैननु ।।
'कुंभनदास' किते दिन बीते, किये रैंन सुख सैंननु।
अब गिरिधर बिन निसि अरु बासर, मन न रहत क्यों चैननु ।।१५।।

आवत मोहन मन जु हरयौ हौ ।
हौं गृह आपने सचु सौं बैठी, निरखि बदन अरबरा बिसरयौ हौ ॥
रूप–निधान रसिक नँदनंदन, निरखि बदन धीरज न धरयौ हौ ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर अँग-अँग प्रेम-पियूष भरयौ हौ ॥१६॥

★

मेरे जिय तब ही तें परत न कल, जब तें देख्यौ रूप स्याम ।
अंग-अंग की सोभा बरनि न जाई मोपै,माई प्रगटति अलि कोटि काम ।
'कुंभनदास'प्रभु बन गमनत ही,सकल नैंन भरि देख्यौ रूप अभिराम ।
गिरवर-धर तन मन हरि लीयौ, रहि न सकौं कलप सम जात जाम ॥१७॥

★

प्रेमासक्ति—

जुरी रति नैननि नैन मिलाईं ।
दूर ही भए स्यामघन सुंदर, चले दै सैंन बुलाई ॥
जब तें दृष्टि परे नँदनंदन, गृह अँगना न सुहाई ।
अति आतुर मन भयौ मिलन कौं, छिनु छिनु कलप बिहाई ॥
सजि सिंगार चली मृगनैनी, सबकी दृष्टि चुराई ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर मिली, कुंज भवन में छाई ॥१८॥

★

डोलत फूली सी तू कहा री ।
मृगनैनी देखियत है आजु, मुख डहडहौ भारी ॥
कंचुकी पीत लाल लहँगा पर, बनी हैं रँगमगी सारी ।
नूपुर झुनझुनात कटि मेखल, पलक चलन छवि न्यारी ॥
काजर, तिलक दियौ नीकी विधि, रचि-रचि माँग सँवारी ।
'कुंभनदास' गिरिधर सौं नयौ रँग, जानी बात तिहारी ॥१९॥

★

तू तौ नंद-भवन आवन के कारन, कौन-कौन मिस ठानति ।
नागर वृथा काज की बातें, कैसी कैसी बानति ॥
भोरहिं तें साँझहिं लौं चितवत, बारंबार पयानति ।
परम चतुर विद्या संपूरन, साँचे उत्तर ठानति ॥
रह्यौ न परै भवन ऐकौ छिनु, बरज्यौ कह्यौ न मानति ।
'कुंभनदास' लालगिरिधर सौं, मन अटक्यौ हू जानति ॥२०॥

कहा नंद कैं तू आवत जात।
यह भेदहिं हौं जानत नाहिंन, कहो री कवन ग्वालि तोहि नात ।।
साँझ सवारे हौं सोई देखत, हौं ना जानौं क्यों रैन विहात।
अब तौ काज सकल बिसराए, अहपति तें नाहिंन सकुचात ॥
मदनमोहन सों तेरो मन उरझ्यौ, गृह नहिं चेत न होत किंहि भाँति।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर कों, रूप नैन पीवत न अघात ॥२१॥

★

तेरौ मन गिरिधर बिना न रहैगौ ।
बोलेंगे मुरली की धुनि सुनि, तुव तन मदन दहैगौ ॥
जानौंगी तब मानौंगी आली ! प्रेम प्रवाह बहैगौ ।
'कुंभनदास' गोवरधन-धर नित उठतहिं कान कहैगौ ॥२२॥

★

हनि ढोटा हौं डहकी माई ।
चितवनि में कछु टौना कीनौं, मोहन मंत्र पढ़ाई ।।
विकल भई मन लोने डोलति, बिनु देखै न रहाई ।
बाट-घाट, पुर, बन-विथिन में, लोक कहै बौराई ।।
मगन भई मन स्याम-सिंधु में, खोजत ही में हिराई ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर बात कही समुझाई ॥२३॥

★

जो पै चोंप मिलन की होय ।
तौ क्यों रहै ताहि बिनु देखें लाख करौ किन कोय ।।
जो यह विरह परसपर व्यापै जो कछु जीवन बनै ।
लोक-लाज कुल की मरजादा एकौ चित्त न गनै ।।
'कुंभनदास' प्रभु जाय तन लागी और न कछू सुहाय ।
गिरिधरलाल तोहि बिनु देखै, छिन-छिन कलप बिहाय ॥२४॥

★

हिलगिन कठिन है या मन की ।
जाके लिऐं देखि मेरी सजनी, लाज गई सब तन की ॥
धर्म जाउ अरु हँसौ लोग सब, अरु आवहु कुल गारी ।
सो क्यों रहै ताहि बिन देखै, जो जाकौ हितकारी ॥
रस लुब्धक छिन निमिष न छाँड़त, ज्यों अधीन मृग गानैं ।
'कुंभनदास' सनेह परम श्री गोवरधन-धर जानैं ॥२५॥

बतियाँ तेरी ये जिय भावत ।
तब ही लौं सुख गिरधरन छबीले, जौलौं रह्यौ सुनावत ।।
तबही तें जिय चटपटी लागत, जब ही छिनु घर आवत ।
एक तें एक पढ़ी बन बोलत, चैन न क्यों हूँ पावत ।।
बारंबार यह चरचा सीखी, और न जियहिं सुहावत ।
'कुंभनदास' प्रभु अति आतुर चित, प्रेम पयोधि रहावत ।।२६।।

★

मिले की फूलि नैना ही कहे देत तेरे ।
स्यामसुंदर मुख चुंबन परसे, नाँचत मुदित अनेरे ।।
नंदनंदन पै गये चाहत हैं, मारग स्रवननु घेरे ।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिधर रस भरे, करत चहूँ दिसि फेरे ।।२७।।

★

परम भावते जिय के हो मोहन, नैननि आगे तें जिन टरहु ।
तौलों जीऊँ, जौलों देखों बार-बार,पाँ लागों चित्त अनत न धरहु ।।
तन सुख चैन तौहिलों प्यारे, जौलों लैलै आँकों भरहु ।
रसिकन माँझि रसिक नंदनंदन, तुम पिय मेरे सकल दुख हरहु ।।
आवहु जाहु रहहु घर मेरे, स्याम मनोहर संक न करहु ।
'कुंभनदास' तुव गोवरधन-धर, तुम अरि-गंजन काते डरहु ।।२८।।

★

तुम नीके दुहि जानत गैया ।
चलिऐ कुँवर रसिक मनमोहन, लगौं तिहारे पैयाँ ।।
तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया ।
निकटहि है यह खरिक हमारौ, नागर ले हुँ बलैया ।।
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँटयौ सुँदरैया ।
'कुंभनदास' प्रभु मान लई रति, गिरि-गोवरधन-रैया ।। २९ ।।

★

मेरी सारी भीजत है जे नई ।
अबही प्रथम पहरि हौं आई, पिता वृषभान दई ।।
अपनौ पीत पट मोहि उढ़ावौ, वर्षा उदित भई ।
भीजि स्याम ! जाइगौ यह रंग,बहु विधि चित्र ठई ।।
देउँ कहा घर जायै ऊतर, डरपत हूँ अब ई ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, मुदित उछंग लई ।।३०।।

आजु माई ! आँगन ही झर लायौ ।
स्याम घटा जो उठी चहुँ दिसि में, दामिनि अंबर छायौ ॥
रस की बूंद परत धरनी पर, ब्रज-जन प्रेम बढ़ायौ ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर लै उछँग हिये लगायौ ॥३१॥

*

जगाई माई ! बोल-बोल इन मोर ।
बरसत मेह अँधियारी चौमासे की, कैसे करौं नंदकिसोर ॥
सेज अकेली और दामिनि दमकत, घन गरजें चहुँ ओर ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर मेरौ मन नाँहिनै कोर ॥३२॥

*

उत्सव संबंधी—

बैठे लाल फूलन के चौबारे ।
कुंतल, बकुल, मालती, चंपा, कितकी नवल निवारे ॥
जाही, जुही, केवरौ, कुंजी, रायबेलि महँकारे ।
मंद समीर, कीर अति कूँजत, मधुपन करत झकारे ॥
राधारमन रंग भरे क्रीड़त, नाँचत मोर पखारे ।
'कुंभनदास' गिरिधर की छवि पर कोटिक मन्मथ वारे ॥३३॥

*

हिंडोरे माई झूलत नवल किसोर ।
ललिता, चंपकलता, विसाखा देत हैं प्रेम झकोर ॥
जैसिय रितु पावस सुखदायिनि, मंद-मंद घनघोर ।
तैसिय गान करति ब्रज-सुंदरि, निरखि-निरखि पिय ओर ॥
कोटि-कोटि दंपति छबि निरखति, होत सबन मन मोर ।
'कुंभनदास' श्री गोवरधन-धर प्रीति निवाहन ओर ॥३४॥

*

हिंडोरे माई झूलति हैं ब्रजनारी ।
सावन मास फुही थोरी-थोरी, तैसिय भूमि हरियारी ॥
नव बन, नव घन, नव चातक पिक, नवल कसूमी सारी ।
नवल किसोर वाम अंग सोभित, नव वृषभान दुलारी ॥
विद्रुम खंभ, जटित नग पटुली, डांड़ी सरस सँवारी ।
'कुंभनदास' प्रभु मधुरे झोटा, देत लाल गिरिधारी ॥३५॥

मोहन झूलत बढ्यौ आनंद ।
एक ओर वृषभाननंदिनी, एक ओर ब्रजचंद ॥
ललिता विसाखा दै रहीं झोटा,कर गहि कंचन डोल ।
निरखि-निरखि प्रीतम पिय प्यारी, विहँसि कहत मृदु बोल ॥
उड़त गुलाल कुमकुमा केसरि, परसत चारु कपोल ।
छिरकत तरुनी मदनगुपालहिं, आनँद उदक कलोल ॥
कहा कहौं रस बढ्यौ परस्पर, त्रिभुवन बरनि न जाई ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर की, बानिक पर बलि जाई ॥३६॥

★

जुवतिन संग खेलत फागु हरी ।
बालक वृंद करत कोलाहल सुनत न कान परी ॥
बाजत ढफ मृदंग बाँसुरी किन्नर सुर कोमल री ।
तिनहूँ मिले रसिक नँदनंदन मुरली अधर धरी ॥
कुमकुम वारि अरगजा विविधहिं सुगंध मिलाय करी ।
पिचकारीन परसपर छिरकत अति आमोद भरी ॥
टूटत हार, चीर फाटत गिर, जहाँ-तहाँ टरनि टरी ।
काहू नहिं सम्हार क्रीड़ा–रस सब तन सुधि बिसरी ॥
अति आनंद मगन नहीं जानत बीतत जाय घरी ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर सब सुखदानि बरी ॥३७॥

★

अवधि अषाढ़ घाम ग्रीषम रितु, अब बरषा रितु आई जू ॥
लै सिर डला चली गोपीजन, मारग अति अकुलाई जू ।
गिरिवरधर आतुर उठि आये, छाक उरे उतराई जू ॥
मंडल जोर सब जेंवन बैठे, ग्वाल मंडली बुलाई जू ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, जेंवत रुचि उपजाई जू ॥३८॥

★

मोहन जैंमत हैं जिनि जाहु तिवारी ।
सिंहपौर तें फिरि-फिरि आवत, बरजी हैं सौ बारी ॥
रोहिनि आदि निकसि ठाड़ी भईं, दै-दै आड़ मुख-सारी ।
तुम तरुनी ऐसी मदमाती, ऐसी देखन हारी ॥
गरजत लरजत प्रति उत्तर दै, कोऊ बजावत तारी ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, अब ही बैठे हैं थारी ॥३९॥

लीला संबंधी—

आई रितु चहुँ-दिसि फूले द्रुम-कानन,
कोकिला-समूह मिलि गावन बसंतहिँ ।
मधुप गुंजरत, मिल सप्त-सुर,
भयौ है हुलास तन-मन सब जंतहिँ ॥
मुदित रसिक जन उँमगि भरे हैं,
नहिँ पावत मनमथ-सुख अंतहिँ ।
'कुंभनदास' स्वामिनि बेगहिं चलि,
यह समयैं मिलि गिरिधर नव कंतहिँ ॥४०॥

*

खेल बसंत सबै ब्रज-सुंदरि, तजि अभिमान चलीं वृंदावन ।
सुंदरता की रासि किसोरी, नव सत साज सिँगार सुभग तन ॥
गहि तिहिं ठौर देखि ऊँचे द्रुम, लता प्रकाशित, गुंजत अलिगन ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर सों, मिलि है कुमरि राधे हुलसत मन ॥४१॥

*

अंग दुराय चलिऐ संग मेरे ।
करि मुख मौन, अधर ओट दै, दसन दामिनी चमकत तेरे ॥
तजि नूपुर अति छुद्र घंटिका, नाद सुनत खग मृग सब घेरे ।
'कुंभनदास'स्वामिनि बेगहि चलि,निपट निकट गिरिधरनके नेरे ॥४२॥

*

गाय खिलावत स्याम सुजान ।
कूँकैं ग्वाल टेरि दै हो-हो, बाजत बेंनु, विषान ॥
कियौ सिँगार धेंनु सगरिन कौं, को करि सकै बखान ।
फिर-फिर फिरत पूँछ उन्नत कै, करि-करि सूधे कान ॥
पाँइ पैजनी, म्हेंदी राजति, पींठि पुरट के पान ।
'कुंभनदास' खेलि गिरिधर पै,जिहि विधि उठी उठान ॥४३॥

*

यातैं तू भावत मदन गोपालै ।
सारंग राग सरस अलापति, सुघर मिलत एक तालै ॥
अति ही अनागति औंघर आनत, सप्तक कंठ मरालै ।
गावत अलापत सुरत संच मिलि, किंकिनी कूंजित जालै ॥
'कुंभनदास' प्रभु रसिक सिरोमनि, सोहति रति पति बालै ।
गावत हस्तक भेद दिखावत, गोवरधन-धर लालै ॥४४॥

साँझहिं साचे बोल तिहारे।
रजनी अनत जागि नँदनंदन, आये हो निपट सवारे॥
आतुर भये नील पट ओढ़े, पियरे बसन बिसारे।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर भले बचन प्रतिपारे॥४५॥

★

ऐसी बातन लालन क्यों मन मानै।
उतरु बनाय-बनाय तासों कहिऐ, जो यह न जानै॥
रति के चिह्न प्रगट देखियत हैं, कैसैंक दुरत दुराने।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, हो तुम खरे सयाने॥४६॥

★

आज देखिऐ बदन डहडही प्यारी, रँगमगे नैना तेरे रंग भरे।
मानहुँ सरद कमल ऊपर उन्मद युगल खंजन लरे॥
रसिक सिरोमनि लाल सु सीतल, कमल कर उर धरे।
'कुंभनदास' कहि काहे न फूले, गिरिधर पिय सब दुख हरे॥४७॥

★

काहे तें आज ये बिथुरीं प्यारी, क्यों न बाँधहिं अलक।
भौंह कमान, नैन रतनारे, मानों न लागीए पलक॥
रति-रस सुख की फूलि जनावति, मद गयंद की चाल चलक।
'कुंभनदास' मिली गिरिधर कों, मानों कोटि चंद की झलक॥४८॥

★

जानी मैं आजु मिली प्यारे सों, तैं अपुनौ भावतौ ही री कियौ।
सकल रैनि रति-रस रंग खेलत, पलक सौं पलक न लागन दियौ॥
कंठ लागि, भुजा दै सिराहने, रसिक लाल कौ अधर सुधारस पियौ।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिवरधर कों, अंक भरि भेंटि जुड़ायौ हियौ॥४९॥

★

अब दिन रात पहार से भये।
तब तें निघटति नाहिंन, जब तें हरि मधुपुरी गये॥
यह जानिऐं विधाता जुग सम, कीने जाम नये।
जागत जाग विहाग न जाने, ऐसे प्रीति ठये॥
ब्रजवासी अति परम दीन भये, व्याकुल सोच लये।
प्रान दुखित उन जलरुह गन के, दारुन हेम पये॥
'कुंभनदास' बिछुरति नँदनंदन, बहुत संताप कये।
अब गिरिधर बिन रहत निरंतर, नौतन नीर छये॥५०॥

रास-विलास रंग भरि नाँचत नवलकिसोर नवलकिसोरी ।
एकहि बैस रूप सम एकहि, गिरिधर स्याम राधिका गोरी ॥
नव पट पीत, अरुन नव भूषन, नव किंकिनि की धुनि कटि थोरी ।
सकल सिंगार अनूप बिराजत सोभा त्रिभुवन चोरी ॥
तान, मान, बंधान सप्त सुर, विधना रची है सुंदर जोरी ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, सुरति केलि कंचुकी तोरी ॥ ५१ ॥

*

कृष्न तरनि-तनया तीर रास-मंडल रच्यौ,
अधर केल मुरलिका वेणु बाजैं ।
जुवती जन जूथ संग, निर्तत अनेक रंग,
निरखि अभिमान तजि काम लाजैं ॥
स्याम तन पीत कौसेय सुभ पद नखनि,
चंद्रिका सकल कलिमल-हर भुव भ्राजैं ।
ललिता अवतंस संभु धनुष लोचन चपल,
चितवनि मानों मदन-बान साजैं ॥
मुखर मंजीर, कटि-किंकिनी कुनित रव,
वचन गंभीर जनु मेघ गाजैं ।
दास 'कुंभनदास' कुंभ दास हरिदास वर्य,
धरनि नख-सिख स्वरूप अदभुत विराजैं ॥५२॥

*

गावत गिरधरन संग, परम मुदित रास रंग,
उरपति रयमान लेत नागर-नागरी ।
स री ग म प ध नि ग म प ध नि उघत कल सब्द,
सुरन लाग डाट लेत ताल अति उजागरी ॥
चर्वित तांबूल देत, ध्रुव ताल गति लेत, गिड़ि-गिड़िता,
गिड़ि-गिड़िता, तता थुंग थेई अलाग लागरी ।
सुरति केलि बन बिलास, बलि-बलि-बलि 'कुंभनदास',
श्री राधावर नंदनँदन वर सुहाग री ॥५३।

*

बिलगु जिन मानौं री कोउ हरि कौ ।
भोरहिं आवत नाँच नचावत खात दही घर-घर कौ ॥
प्यारौ प्रान दीजै जो पइयै नागर नंद-महरि कौ ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर रसिक राधिका-वर कौ ॥५४॥

दान-लीला—

हमारौ दान दैरी गुजरेटी ।
आवत-जात चोरि दधि बेचन, आजु अचानक भेटी ।।
अति सतराति, कहा करि हौ तुम, बड़े गोप की बेटी ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, भुज ओढ़नी लपेटी ।।४४।।

★

आजु दधि देख्यौ तेरौ चाखि ।
कहि धौं मोल किते बेचैगी, सत्य वचन मुख भाखि ।।
जो तू कहै सोई हौं देहौं, संग सखा सब साखि ।
जो न पत्यायि ग्वालिनी हमकों, कंठसिरी लै राखि ।।
सँग लै चले घर दाम दैन कौं, तबहिं अनायौ लाखि ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, सर्वसु दियौ तताखि ।।४६।।

★

सुंदर साँवरे कछु कीनों ।
नैंन दुवार के अंतर गवने, मन-मानिक हरि लीनों ।।
मारग जात सखी मोपै तें, छीनि कुँवन दधि पीयौ ।
बदन चूंमि मुसिकाय छबीलौ, गहि पकर्यौ मेरौ हीयौ ।।
बार-बार पछितात सखी हौं, संग ही क्यों न गई यौं ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु, पल न परत मोपै जीयौ ।।४७।।

★

मथिनियाँ आन उतारि धरी ।
दान अटपटौ माँगत ढोटा, दोऊ कर जोरि खरी ।।
जब नंदलाल चीर गहि झटक्यौ, मन में बहुत डरी ।
'कुंभनदास' प्रभु दधि बेचन की, बिरियाँ जात टरी ।।४८।।

★

अरी हम दान लैहैं, रस गोरस को, यही हमारौ काज ।
हम दानी तिहुँ लोक के, चारों जुग में राज ।।
बहौत दिनन की गई अछूती, दान हमारौ भाज ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, वृंदावन में गाज ।।४९।।
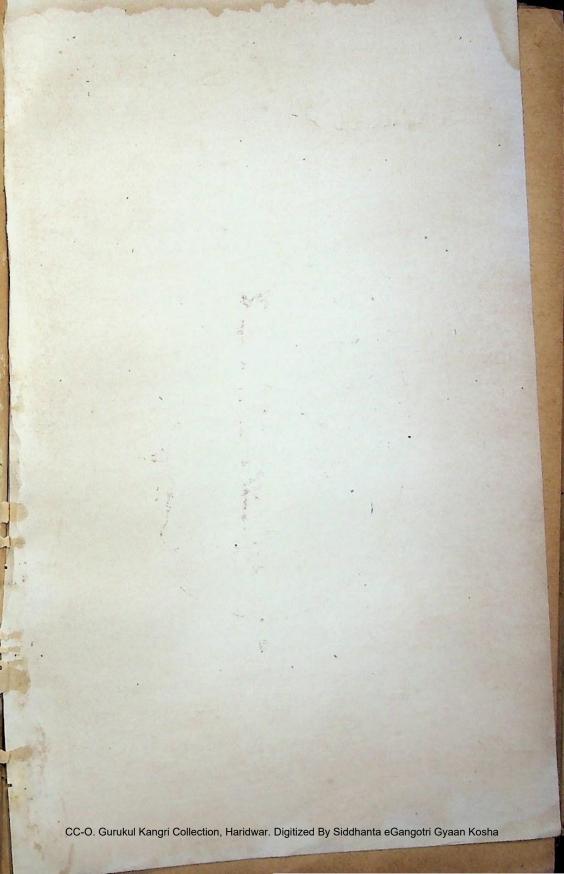
सूरदास

जन्म सं० १५३५ ::: देहावसान सं० १६४०

२. सूरदास

[सं० १५३५ से सं० १६४० तक]

★

जीवन-सामग्री और लोचना—

सूरदास अष्टछाप के आठों कवियों में ही नहीं; बल्कि व्रजभाषा के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। उनकी रचनाएँ उनके जीवन-काल से अब तक भगवद्भक्तों और साहित्यानुरागी रसिकों को अपूर्व आनंद दे रही हैं। हिंदी में कृष्ण-काव्य के आरंभ करने का श्रेय सुप्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति को है, किंतु उसका पूर्ण विकास सूरदास की कविता में ही दिखलायी देता है। सूरदास के बाद कृष्ण–काव्य का इतना व्यापक प्रचार हुआ कि कई शताब्दियों तक अगणित कवियों की सवश्रेष्ठ कविताएँ इसी विषय पर बनती रहीं।

हमारे साहित्य में सूरदास का इतना महत्व होते हुए भी उनका जीवन-वृत्तांत अभी तक प्रायः अंधकार में ही है! इधर कुछ वर्षों से सूरदास के काव्य का विशेष रूप से अध्ययन हो रहा है, और उनके जीवन वृत्तांत की भी खोज हो रही है। कई सुयोग्य विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन कर अंतःसाक्ष्य एवं वहिःसाक्ष्यों के आधार पर इस महाकवि के जीवन पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है; किंतु उनकी खोज अभी अधूरी है, अतः यह सर्व सम्मत और निर्भ्रांत नहीं कही जा सकती।

सूरदास के जीवन-वृत्त की खोज के लिए उनकी रचनाओं से प्राप्त अधूरी सूचनाओं, पुष्टि संप्रदाय की पुस्तकों, सम सामयिक कवियों की रचनाओं एवं परंपरागत मान्यताओं और जन–श्रुतियों का आधार लिया जाता है। इस बिखरी हुई सामग्री का संकलन कर इसके अनुशीलन के उपरांत भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जो बातें निश्चित की हैं, वे स्वयं एक दूसरी से भिन्न हैं, अतः उनके आधार पर सुरदास का सर्व सम्मत जीवन वृत्तांत लिखना अत्यंत कठिन है। हमने स्वयं सूरदास विषयक प्रचलित एवं अप्रचलित सामग्री का अध्ययन किया है, जिसके फल स्वरूप हमने अपना 'सूर–निर्णय' ग्रंथ प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ में सूरदास संबंधी दुर्लभ सामग्री की परीक्षा

कर यथासंभव इस महाकवि की जीवन घटनाओं पर निर्णयात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर भी हम अपने उसी अध्ययन के आधार पर सूर-सामग्री की आलोचना करेंगे।

सूरदास की जीवन-सामग्री में प्रथम स्थान 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' और भावना युक्त 'अष्टसखान की वार्ता' को देना चाहिए। इन दोनों ग्रंथों से सूरदास का जितना जीवन-वृत्तांत ज्ञात होता है, उसका दशांश अन्य साधनों को एकत्रित करने पर भी नहीं होता। यह वृत्तांत 'चौरासी वार्ता में वार्ता सं० ८१ में और 'अष्टसखान की वार्ता' में वार्ता सं० १ में दिया हुआ है।

सूरदास के जीवन वृत्तांत के लिए मूल "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" की प्रामाणिकता निश्चित है, किंतु इससे उनके पूर्वज, माता-पिता, जन्म स्थान, जाति आदि पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। वार्ता में तिथियों का नितांत अभाव होने के कारण इसके द्वारा सूरदासके जन्म, मरण एवं जीवन-संबंधी अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का काल-निर्णय करने में भी सहायता प्राप्त नहीं होती है।

'चौरासी वार्ता' में सूरदास की कथा का आरंभ उस समय से होता है, जब वे आगरा-मथुरा के बीच 'गऊघाट' नामक स्थान पर रहा करते थे। वहीं पर एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का आगमन हुआ था। सूरदास उनके सेवक होकर पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो गये। उसी समय से उनके जीवन का क्रम ही बदल गया। उन्होंने वल्लभाचार्य जी के आदेशानुसार श्रीनाथ जी के कीर्तन स्वरूप जिन सहस्रों पदों की रचना है, उन्हीं के कारण सूरदास का इतना महत्व है।

गऊघाट पर रहने से पूर्व के जीवन-वृत्तांत की कड़ी श्री हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' में मिलायी है। भावप्रकाश युक्त चौरासी वैष्णवन की वार्ता* हिंदी में पहली बार अभी छप कर प्रकाशित हुई है। इसमें सूरदास के आरंभिक जीवन का उल्लेख करते हुए उनका जन्म-स्थान दिल्ली के पास 'सीहीं' नामक ग्राम बतलाया गया है। इसी ग्रंथ से ज्ञात होता है कि सूरदास का जन्म एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे अपने पिता के चतुर्थ पुत्र थे और जन्म से ही अंधे पैदा हुए थे। वे बाल्यावस्था में विरक्त होकर घर से निकल गये और अपने जन्म स्थान से चार कोस दूर एक ग्राम के बाहर तालाब के किनारे पर पीपल के वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। उसी स्थान पर वे अठारह वर्ष की अवस्था तक रहे। इसके बाद वे मथुरा होते हुए 'गऊघाट' पर आ गये, जहाँ वे वल्लभाचार्य जी के आगमन तक रहे।

* अग्रवाल प्रेस, मथुरा से प्रकाशित लीला भावना वाली "चौरासी वैष्णवन की वार्ता"

उपर्युक्त विवरण से सूरदास के जन्म-स्थान, आरंभिक जीवन और उनकी जाति आदि का ज्ञान हो जाता है। हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' की रचना सूरदास के देहावसान के कम से कम सौ वर्ष बाद की थी। उस समय तक उनके संबंध की बहुत सी बातें लोगों की जानकारी में नहीं रही होंगी। दूसरी बात यह है कि भक्तों और साधुओं की मंडली में उनके भक्ति-भाव का ही महत्व होता है, उनके लौकिक जीवन-वृत्तांत के जानने की ओर उनकी रुचि नहीं होती, इसलिए सूरदास के समय में और इसके बाद भी उनके पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व के जीवन-वृत्तांत की ओर संबंधित व्यक्तियों की उदासीनता स्वाभाविक है। 'भावप्रकाश' की रचना के पूर्व हरिराय जी को सूरदास के जीवन-वृत्तांत की खोज करनी पड़ी होगी और इस संबंध की जो कुछ सामग्री एवं सूचनाएँ वे प्राप्त कर सके होंगे, उनका उन्होंने उल्लेख कर दिया होगा। ऐसी दशा में उनके द्वारा प्राप्त सूचनाओं की कुछ बातें भ्रमात्मक भी हो सकती हैं, अतः 'भावप्रकाश' को प्रामाणिक मानने पर भी इसके विवरण की पुष्टि अन्य साधनों से भी होना आवश्यक है।

सबसे प्रथम सूरदास के वंश और उनकी जाति का प्रश्न विचारणीय है। इस संबंध में "साहित्य-लहरी" के निम्न लिखित ११८वें पद का मुख्यांश प्रायः सभी इतिहासकारों ने उद्धृत किया है—

प्रथम ही प्रथु-जाग तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप ॥
× ×
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन ॥
× ×
तासु बंस अनूप भौ हरचंद अति विख्यात ॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यौ ता सुत बीर।
पुत्र जनमे सात वाके महा भट गंभीर ॥
× ×
भयौ सातौ नाम सूरजचंद मंद निकाम ॥
सो समर करि साहि सों, सब गये विधि के लोक।
रह्यौ सूरजचंद दृग तें हीन भरि-भरि सोक ॥
× ×
प्रबल दच्छिन विप्र-कुल तें शत्रु ह्वै है नास ।

पूर्वोक्त पद से सूरदास की वंश-परंपरा पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है, किंतु इसके कथन की पुष्टि अंतःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्यों से नहीं होती। इसके साथ ही इसमें इतिहास विरुद्ध कथन भी प्राप्त होता है, इसलिए हमारे मतानुसार 'साहित्य-लहरी' सूरदास की प्रामाणिक रचना होते हुए भी इसका यह पद प्रक्षिप्त ज्ञात होता है। हम निम्न कारणों से इस पदको अप्रामाणिक मानते हैं–

(१) सूरदास ने अपने संबंध में कहीं पर भी इतना स्पष्ट कथन नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपनी वंश-परंपरा और जाति के प्रति उदासीनता ही प्रकट की है, अतः इस प्रकार की रचना सूरदास द्वारा संभव नहीं है।

(२) साहित्य लहरी की रचना के प्रायः सौ वर्ष पश्चात् हरिराय जी ने अपने 'भावप्रकाश' का कथन किया है। यदि उनके समय में यह पद साहित्य लहरी में होता, तब वे उसी के अनुसार सूरदास के वंश आदि का कथन करते। हरिराय जी के कथन के विरुद्ध होने के कारण भी इस पद की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

(३) साहित्य लहरी के सभी पद दृष्टिकूट शैली के हैं, यहाँ तक कि इसका रचना-काल विषयक संख्या १०९ का पद भी दृष्टिकूट है। ऐसी दशा में समस्त ग्रंथ की शैली के विरुद्ध इस पद का दृष्टिकूट न होना भी इसे अप्रामाणिक सिद्ध करता है।

(४) इस पद में पेशवाओं के उल्लेख के कारण हिंदी के इतिहासकारों ने भी इसे प्रक्षिप्त माना है। जो विद्वान इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हुए 'दक्षिण के विप्रकुल' का अभिप्राय पेशवाओं की अपेक्षा वल्लभाचार्य जी से बतलाते हैं, उनका कथन इस लिए उचित नहीं है कि इस पद में सूरदास के भौतिक जीवन का उल्लेख किया गया है, अतः इसका अर्थ भी भौतिक ही करना चाहिए। समस्त पद का भौतिक और केवल एक पंक्ति का आध्यात्मिक अर्थ करना असंगत है।

(५) इस पद में गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा सूरदास को अष्टछाप में स्थापित करने का उल्लेख किया गया है, किंतु 'साहित्य-लहरी' की रचना के कई वर्ष पश्चात् विट्ठलनाथ जी को 'गोसाईं' कहा जाने लगा था*, अतः पुष्टि संप्रदाय के इतिहास के अनुसार भी यह पद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

---

† सूर-सौरभ, प्रथम भाग पृ० २०

* सूर- निर्णय, पृ० ६

उपर्युक्त कारणों से सिद्ध होता है कि 'साहित्य–लहरी' का यह पद प्रामाणिक नहीं है, अतः सूरदास के जीवन-वृत्तांत के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। हमारा मत है कि 'साहित्य–लहरी' की रचना के अनेक वर्षों बाद किसी ब्रह्मभट्ट कवि ने इसकी रचना कर इसे 'साहित्य-लहरी' में सम्मिलित कर दिया है। डा० दीनदयाल गुप्त भी हमारे इस मत का समर्थन करते हैं—

"ज्ञात होता है कि यह पद सरदार कवि तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र जी से पहले 'साहित्य-लहरी' के किसी टीकाकार अथवा लिपिकार ने मिलाया था‡।"

उपर्युक्त पद के अप्रामाणिक सिद्ध हो जाने पर अन्य ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं है, जिससे सूरदास का प्रामाणिक वंश-परिचय प्राप्त हो सके। सूरदास की रचनाओं के अंतःसाक्ष्य, उनके समकालीन एवं परवर्ती कवियों की रचनाओं के वहिःसाक्ष्य से भी इस संबंध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' में अनेक प्राचीन महात्माओं का जीवन-वृत्तांत दिया गया है, किंतु इसमें भी सूरदास के काव्य की ही प्रशंसा की गयी है; उनके जीवन-वृत्तांत पर प्रकाश नहीं डाला गया है। हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' से केवल यह ज्ञात होता है कि वे एक निर्धन ब्राह्मण के पुत्र थे और अपने चार भाइयों में वे सबसे छोटे थे।

हरिराय जी ने उनके पिता के नाम का कथन नहीं किया है। शिवसिंह सेंगर और डा० ग्रियर्सन ने अकबर के एक दरबारी गायक रामदास को सूरदास का पिता बतलाया है। उनके अनुकरण पर और भी कई लेखकों ने सूरदास के पिता का नाम रामदास लिखा है, किंतु अब यह मत भ्रमात्मक सिद्ध हो गया है। 'आईने अकबरी' में अकबर के दरबारी गवैयों की सूची में ग्वालियर निवासी बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास का नामोल्लेख मिलता है, किंतु उन दोनों पिता-पुत्र का हमारे सूरदास से कोई संबंध सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब तक की उपलब्ध सामग्री से सूरदास की वंश परंपरा, उनके पूर्वजों के नाम, यहाँ तक कि उनके पिता और भाइयों के नामों पर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

---

‡ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ६२

सूरदास की जाति के विषय में दो मत हैं। पहला मत उन विद्वान साहित्यकारों का है, जो 'साहित्य-लहरी' के पद को अप्रामाणिक मान कर 'चौरासी वार्ता', 'भक्तमाल' की टीका और मियाँसिंह कृत 'भक्तविनोद के आधार पर उनको ब्राह्मण मानते हैं। दूसरे मत के समर्थक, जो संख्या में बहुत कम हैं, उक्त पद को प्रामाणिक मान कर सूरदास को भाट मानते हैं। श्री मुंशीराम शर्मा उक्त पद को प्रामाणिक मानते हुए भी सूरदास को भाट नहीं मानते, बल्कि उनको ब्राह्मण ही मानते हैं*। श्री चंद्रबली पांडे सूरसागर का निम्न लिखित पद उद्धृत कर सूरदास के जाट होने की भी संभावना प्रकट करते हैं† —

हरिजू ! हौं यातें दुख-पात्र ।
श्री गिरिधरन-चरन-रतिना भई, तजि विषया रस मात्र ।
× ×
हृदय कुचील काम-भू-तृषना-जल-कलिमल है पात्र ।
ऐसे कुमति जाट सूरज कों, प्रभु बिन कोउ न घात्र ॥

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरदास के ढाढ़ी वाले पदों के अंतःसाक्ष्य से उनके ढाढ़ी जातीय होने की संभावना पर भी विचार किया है‡।

ऐसी दशा में सूरदास ब्राह्मण थे, अथवा भाट, जाट या ढाढ़ी-इस पर विचार करना आवश्यक है। 'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचय वाले पद की अप्रामाणिकता के कारण उनको भाट मानने का कोई कारण नहीं है। सूरसागर के जिस पद के अंतःसाक्ष्य से उनके जाट जातीय होने की कल्पना की जा सकती है, वह हमारे मतानुसार प्रक्षिप्त है§, अतः उनके जाट होने की भी संभावना नहीं है। ढाढ़ी वाले पदों के अंतःसाक्ष्य से उनके ढाढ़ी जातीय होने की संभावना नितांत हास्यास्पद है। ऐसे ढाढ़ी के अनेक पद अष्टछाप के उन कवियों की रचना में भी मिलते हैं, जो निश्चय पूर्वक ढाढ़ी जाति के नहीं थे*, अतः उन पदों के कारण सूरदास को ढाढ़ी जाति का नहीं कहा जा सकता है।

---

* सूर-सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ६, १३, ३२

† सम्मेलन पत्रिका, पौष सं० २००२

‡ सूरदास, पृ० ४६

§ सूर-निर्णय, पृ० १३

* सूर-निर्णय, पृ० ५८

अब केवल उनके ब्राह्मण होने की संभावना पर विचार करना है। हरिराय जी ने उनको सारस्वत ब्राह्मण लिखा है। उनके कथन की पुष्टि बाह्य साक्ष्यों से भी होती है। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के षष्ठ पुत्र गो० यदुनाथ जी ने सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण बतलाया है—

"ततोऽअर्कलपुरे समागताः। तत्राऽऽवासः कृतः।
ततो व्रजसमागमने सारस्वत सूरदासोऽनुगृहीतः† ।"

गो० गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण लिखा है—

श्री बल्लभ प्रभु लाड़िले, सीहीं–सर जलजात।
सारसुती दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात* ॥

गो० यदुनाथ जी का समय सं० १६१५ से १६६० तक है और प्राणनाथ कवि गो० गोकुलनाथ का समकालीन है, अतः उपर्युक्त दोनों बहिः साक्ष्य प्राचीन एवं प्रामाणिक हैं, अतः हमारे मतानुसार सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण ही मानना चाहिए।

सूर संबंधी अनेक जन-श्रुतियों में उनके अंधे होने की बात अत्यधिक प्रसिद्ध है। सूरदास की रचनाओं के अंतःसाक्ष्य, अन्य कवियों की रचनाओं के बहिःसाक्ष्य और परंपरागत मान्यता से सूरदास का नेत्रहीन होना ज्ञात होता है। प्रश्न केवल यह है कि वे जन्मांध थे अथवा बाद में अंधे हुए थे। हिंदी साहित्य के प्रायः सभी आधुनिक विद्वान सूर-काव्य की पूर्णता के कारण सूर की जन्मांधता में विश्वास नहीं करते हैं। उनका मत है कि सूरदास की कविता में रंगों का यथावत वर्णन, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की स्वाभाविकता आदि ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका कथन आँखों से देखे बिना केवल सुनी-सुनायी बातों के आधार पर होना असंभव है; अतः सूरदास जन्मांध नहीं थे, वे वृद्धावस्था अथवा अन्य किसी कारण से बाद में अंधे हुए होंगे।

आधुनिक विद्वानों का उपर्युक्त तर्क केवल अनुमान पर आधारित है, वरना उनके पास इस संबंध में कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। इसके विरुद्ध

† बल्लभ दिग्विजय, पृ० ५०

* अष्टसखामृत

हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' में सूरदास को स्पष्ट रूप से जन्मांध लिखा गया है। भावप्रकाश के कथन की पुष्टि अन्य वहिःसाक्ष्यों से ही नहीं होती है, बल्कि सूरदास की रचनाओं के अंतःसाक्ष्यों से भी होती है§। डा० दीनदयाल गुप्त सूरदास की जन्मांधता के संबंध में भावप्रकाश एवं अन्य बाह्य साक्ष्यों से प्रभावित होते हुए भी सूरदास को वृद्धावस्था की अपेक्षा बाल्यावस्था में नेत्र हीन होना मानते हैं‡, जो कि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। ऐसी दशा में यदि हम यह मान लें कि सूरदास जैसे अंतःदर्शी महात्मा और असाधारण प्रतिभाशाली कवि नेत्रहीन होते हुए भी इस प्रकार की रचना करने की क्षमता रखते थे, तब हमारे पास उनकी जन्मांधता के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है। सूर संबंधी उपलब्ध सामग्री के गंभीर के अध्ययन के उपरांत हमारे मतानुसार सूरदास जन्मांध ही सिद्ध होते हैं।

सूरदास के गृहस्थ जीवन के विषय में भी विद्वानों में कुछ मत भेद है। वप्रकाश' में बाल्यावस्था में ही उनके विरक्त हो जाने का उल्लेख किया गया है, किंतु सूरदास की रचनाओं के अंतःसाक्ष्य से 'सूर-सौरभ'-कार का अनुमान है कि वे अपने आरंभिक जीवन में गृहस्थ रहे होंगे। सूरदास के गृहस्थ होने का समर्थन किसी भी साधन से नहीं होता, इसलिए 'भावप्रकाश' के लेखानुसार हमारा भी यह मत है कि वे छोटी अवस्था में ही विरक्त हो जाने के कारण कभी गृहस्थी नहीं रहे और जीवन पर्यंत सांसारिक झंझटों से दूर रह कर काव्य-रचना द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन और भगवद्-भजन करते रहे। 'भक्तमाल' की टीका से भी इसी मत की पुष्टि होती है।

अब सूरदास की जन्म-तिथि और उनके जीवन संबंधी अन्य घटनाओं के काल-क्रम पर विचार करना चाहिए। सूरदास की समस्त रचनाओं में केवल 'साहित्य-लहरी' के १०९ वें पद¶ में उसका रचना-काल और 'सूरसारावली'

§ सूर-निर्णय, पृ० ६१ से ७६ तक

‡ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० २०२

¶ मुनि पुनि रसन के रस लेख
दसन गौरीनंद कौ लिखि सुबल संबत् पेख ॥
नंदनंदन मास, छै तें हीन तृतिया, बार—
नंदनंदन–जनम तें है बान, सुख- आगार ॥
तृतिय रीछ, सुकर्म योग विचार सूर नवीन।
नंदनंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन ॥

के १००३ वें छंद* में उनकी आयु का निर्देश हुआ है। इन दो सूचनाओं के आधार पर समस्त इतिहास लेखकों तथा सूर-समीक्षकों ने उनके जीवन की तिथियाँ निश्चित करने की चेष्टा की है। 'साहित्य-लहरी' के 'रसन' शब्द का अर्थ लगाने में विद्वानों का मतभेद है। कुछ लोग इसका अर्थ शून्य (०), कुछ एक (१) और कुछ दो (२) लगाते हैं। इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतानुसार सं० १६०७, १६१७ और १६२७ बतलाया गया है। 'सूरसारावली' से ज्ञात ६७ वर्ष की आयु की सूचना पर अधिकांश विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ की रचना के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की थी। उनका यह भी अनुमान है कि 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' प्रायः एक ही समय की रचनाएँ हैं, जो 'सूरसागर' की समाप्ति के बाद की हैं। 'मिश्रबंधु' तथा शुक्लजी जैसे उद्‌भट इतिहासकार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६०७ और उस समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष मान कर उनका जन्म स० १६४० के लगभग मानते हैं। प्रो० मुंशीराम शर्मा 'रसन' का अर्थ (२) लगाकर 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६२७ मानते हैं। इसकी पुष्टि में उनका कथन है कि पद में प्रयुक्त 'सुबल' का पर्यायवाची 'वृषभ' संवत् १६२७ में ही पड़ा था‡। इसका खंडन करते हुए श्री महावीर सिंह गहलोत 'साहित्य-लहरी' का रचना काल सं० १६१७ मानते हैं। उनका मत है कि 'सुबल' संवत् मानने का कोई सुदृढ़ आधार होना चाहिए। 'साहित्य-लहरी' के पद में उसकी समाप्ति के दिन वैशाख की अक्षय तृतिया, रविवार, कृतिका नक्षत्र और सुकर्म योग लिखा गया है। यह दिन गणित करने पर सं० १६०७ अथवा १६२७ की अपेक्षा सं० १६१७ में ही आता है। इसलिए पद में प्रयुक्त 'रसन' शब्द का अर्थ एक (१) कर 'साहित्य-लहरी' का रचना काल सं० १६१७ ही मानना चाहिये† ।

इस प्रकार 'साहित्य लहरी' का रचना-काल सं० १६१७ मान लेने पर भी 'सूर-सारावली' द्वारा प्राप्त ६७ वर्ष की सूचना के विषय में अभी विचार करने की आवश्यकता रह जाती है। यदि 'साहित्य-लहरी' और 'सूर-सारावली'

* गुरु-प्रसाद होत यह दरसन सरसठि बरस प्रवीन।

‡ सूर सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ८

† संमेलन पत्रिका', पौष २००२ का लेख 'साहित्य-लहरी का रचना-काल'

की रचनाएँ एक ही समय की मानी जावें, तब सूरदास का जन्म संवत् (१६१७-६७) १५५० निकलता है, किंतु उनको एक ही समय की रचनाएँ मानने के लिए अनुमान के अतिरिक्त कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। ऐसी दशा में उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर सूरदास का जन्म संवत् निर्धारित नहीं किया जा सकता। जिन इतिहासकारों ने इन सूचनाओं के आधार पर सूरदास का जन्म-संवत् १५४० माना है, उन्होंने भी उसको निश्चित रूप से स्वीकार नहीं किया है। जब इन इतिहासकारों की मान्यता के आधार ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गये, तब उस आनुमानिक जन्म-संवत् की सिद्धि के लिए कोई अन्य कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। हमको पुष्टि संप्रदाय की मान्यताओं के आधार पर ही सूरदास की जन्म-तिथि निश्चित करनी चाहिये।

पुष्टि संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि सूरदास श्री वल्लभाचार्य जी से आयु में दस दिन छोटे थे†। आचार्य जी की जन्म तिथि सं० १५३५ की वैशाख कृ० ११ निश्चित है, अतः सूरदास की जन्म तिथि सं० १५३५ की वैशाख शु० ५ हुई। उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि इस पद से भी होती है—

प्रगटे भक्त सिरोमनि राय।
माधव सुक्ला पंचमि ऊपर छट्ट अधिक सुखदाय॥
संवत पंद्रहा पेंतीस वर्षे 'कृष्ण' सखा प्रकटाय।
करि हैं लीला फेरि अधिक सुख मन मनोरथ पाय॥
श्री वल्लभ, श्री विट्ठल, श्री जी रूप एक दरसाय।
'रसिकदास' मन आस पूरन ह्वै सूरदास सुख आय‡॥

वल्लभ संप्रदायकी सेवा-विधि के कालक्रमानुसार 'सूरसारावली' का रचना-काल संवत् १६०२ ज्ञात होता है। उस समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की थी। १६०२ में से ६७ कम कर देने से १५३५ शेष रहते हैं, अतः अंतःसाक्ष्य से भी सूरदास का जन्म संवत् १५३५ सिद्ध होता है।

---

† १. "सो सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून तें दस दिन छोटे होते।"
—"भावसंग्रह"

२. "सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्राकट्य भयौ है, तब इनकौ जन्म भयौ है। सो आचार्य जी सों ये दिन दस छोटे होते।"
—"निज वार्ता"

‡ 'व्रजभारती', वैशाख सं० १९९९

डा० दीनदयाल गुप्त ने इस विषय की खोज करते हुए नाथद्वारे का अपना अनुभव इस प्रकार बतलाया है—

"श्रीनाथ द्वारे में सूरदास का जन्मोत्सव भी श्री वल्लभाचार्य जी के जन्म दिन वैसाख वदी ११ के बाद वैसाख सुदी ५ को मनाया जाता है। सूर के इस जन्म दिवस का मनाने का उत्सव संप्रदाय में नया नहीं है, यह परंपरा बहुत प्राचीन है* ।"

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से सूरदास की जन्म तिथि संवत् १५३५ की वैशाख शु० ५ सिद्ध होती है। हिंदी के इतिहास ग्रंथों में सूरदास का जन्म संवत् १५४० लिखा गया है, जिसके अब संशोधन की आवश्यकता है।

सूरदास के शरणागति-काल के विषय में भी कुछ भ्रम फैला हुआ है। "श्रीनाथ जी की प्रागट्य-वार्ता" की मुद्रित प्रति में सूरदास का शरण-काल संवत् १५७७ छपा हुआ है, जो भ्रमात्मक है। इसी के आधार पर हिंदी के कुछ विद्वानों ने भी सूरदास का शरण-काल संवत् १५७७ लिख दिया है। वल्लभ संप्रदाय के इतिहास से विदित है कि श्रीनाथजी का मंदिर संवत् १५७६ में पूर्णतया बन कर तैयार हुआ था। श्री वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को अपनी शरण में लेते ही उनको श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तनिया नियत कर दिया था, अतः मंदिर-निर्माण के संवत् की संगति मिलाते हुए श्रीनाथ जी की प्रागट्य-वार्ता में सूरदास का शरण काल संवत् १५७७ मान लिया गया प्रतीत होता है।

जहाँ वल्लभ संप्रदाय के इतिहास में श्रीनाथ जी के मंदिर की निर्माण-पूर्ति का संवत् १५७६ ज्ञात होता है, वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उस मंदिर का अधिकांश भाग सं० १५६४ में ही बन गया था। इसके बाद द्रव्याभाव के कारण निर्माण-कार्य रुक गया और फिर बहुत दिनों बाद पुनः आरंभ होने पर वह सं० १५७६ में पूर्ण हुआ। सं० १५६४ में भी मंदिर ऐसी स्थिति हो गया था कि उसमें ठाकुरजी को पधरा दिया जाय। निदान श्री वल्लभाचार्य जी ने उसी संवत् में श्रीनाथ जी को उक्त मंदिर में विराजमान कर दिया था। गो० यदुनाथ जी कृत "वल्लभ दिग्विजय" से ज्ञात होता है कि सूरदास को शरण में लेने के उपरांत वल्लभाचार्य जी व्रज से अड़ैल गये थे, तभी उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म हुआ था। गोपीनाथ जी की

* अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० २१२

जन्म तिथि सं० १५६८ की आश्विन कृ० १२ है, अतः सूरदास का शरण काल इससे कुछ महीने पूर्व सं० १५६७ ही होना चाहिए।

श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ जी के जन्मोत्सव पर सूरदास ने बधाई के पद का गायन किया था। इससे सिद्ध है कि वे सं० १५७२ से पहले ही पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हो चुके थे। यदि श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्ता में लिखा हुआ संवत् १५७७ प्रामाणिक माना जाय, तब सं० १५७२ में उनका गाया हुआ बधाई का पद किस प्रकार उपलब्ध हो सकता था, अतः सभी प्रमाणों से सूरदास का शरण-काल सं० १५६७ सिद्ध होता है।

वार्ता में सूरदास का अकबर और तुलसीदास से मिलने का भी उल्लेख किया गया है। यह भेंट किन संवतों में हुई, इसके विषय में कुछ मत भेद है। डा० दीनदयाल गुप्त के मतानुसार अकबर से सूरदास की भेंट मथुरा में सं० १६३६ के लगभग हुई थी§, किंतु हमारे मतानुसार यह भेंट सं० १६२३ में होना संभव है। पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि सं० १६२३ में गो० विट्ठलनाथ जी की अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को कुछ समय के लिए गोवर्धन से मथुरा ले गये थे। उस समय सूरदास भी श्रीनाथ जी के साथ मथुरा गये थे और वहाँ पर वे २ माह और २२ दिन तक रहे। सं० १६२३ में अकबर का मथुरा जाना इतिहास प्रसिद्ध है, अतः उसी समय उसकी सूरदास से भेंट होना भी संभव है। यदि डा० दीनदयाल गुप्त द्वारा लिखा हुआ संवत् १६३६ प्रामाणिक माना जाय, तब उस संवत् में सूरदास का मथुरा में रहना प्रामाणित नहीं होता है, अतः अकबर सूरदास की भेंट का संवत् १६२३ ही उपयुक्त ज्ञात होता है।

वार्ता से प्रकट है कि तुलसीदास अपने छोटे भाई नंददास से मिलने के लिए व्रज में गये थे, उसी समय उनकी परासौली में सूरदास से भी भेंट हुई थी। 'मूल गुसाईं चरित' में लिखा है कि संवत् १६१६ में गो० गोकुलनाथ जी ने सूरदास को कृष्ण रंग में डुबोकर तुलसीदास से मिलने के लिए भेजा था और वे चित्रकूट में उनसे मिले थे¶। 'मूल गुसाईं चरित' की अन्य बातों की तरह सूर-तुलसी-मिलन की यह कथा भी मन गढंत है। संवत् १६१६ में गोकुलनाथ जी प्रायः ८ वर्ष के बालक थे, उस अवस्था में उनके द्वारा सूरदास

§ अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, पृ० २१८

¶ मूल गुसाईं चरित, पृ० २९, ३०

का भेजा जाना असंभव है । फिर पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के पश्चात सूरदास का ब्रज के बाहर कहीं जाने का प्रमाण भी नहीं मिलता है । ऐसी दशा में ८१ वर्ष की वृद्धावस्था में श्रीनाथ जी की सेवा छोड़ कर उनका चित्रकूट जैसे सुदूर स्थान में जाना किस प्रकार संभव हो सकता है ! वार्ता और गोकुलनाथ जी के वचनामृतों से प्रकट है कि जिस समय तुलसीदास ब्रज में गये थे, उस समय गोकुल में विट्ठलनाथ जी के पंचम पुत्र रघुनाथ जी का विवाह हो रहा था* । विवाह के समय रघुनाथ जी की आयु १५ वर्ष की थी† । रघुनाथ जी का जन्म सं० १६११ में हुआ था*, अतः उनका विवाह सं० १६२६ में हुआ होगा । यही संवत् तुलसीदास जी के ब्रज-गमन का भी सिद्ध होता है, अतः सूर–तुलसी मिलन का काल सं० १६२६ और स्थान गोवर्धन के निकटवर्ती परासोली ग्राम निश्चित है ।

सूरदास के देहावसान काल के संबंध में भी बड़ा भ्रम फैला हुआ है । हिंदी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने उनके देहावसान का समय सं० १६२० लिखा है । कांकरोली के इतिहास में भी यही संवत् लिखा गया है, किंतु नवीन शोध के फल स्वरूप अब यह संवत् अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है ।

वार्ता से ज्ञात होता है कि सूरदास का देहावसान परासोली में गो० विट्ठलनाथ जी की उपस्थिति में हुआ था । सांप्रदायिक इतिहास से प्रकट है कि सं० १६१६ से १६२१ तक गोसाईं जी ब्रज से अनुपस्थित थे । सं० १६२० में वे दुर्गावती की राजधानी गढ़ा में थे । यदि सूरदास के देहावसान का समय सं० १६२० माना जाय, तब उस समय ब्रज में गोसाईं जी की उपस्थिति कैसे मानी जावेगी !

गो० विट्ठलनाथ जी के स्थायी ब्रज-वास का समय सं० १६२८ के लगभग है । उस समय तक सूरदास का जीवित रहना प्रमाणित है । वार्ता से ज्ञात होता है कि उस समय सूरदास श्रीनाथ जी के कीर्तन से अवकाश मिलने पर कभी-कभी गोकुल में नवनीतप्रिय जी के दर्शनार्थ जाया करते थे । वार्ता से यह भली भाँति सिद्ध है कि सूरदास के निधन के समय गो० विट्ठलनाथ जी

* वार्ता साहित्य मीमांसा (गुजराती) पृ० ६

† गोकुलनाथ जी के वचनामृत की हस्तलिखित प्रति

* श्री बल्लभ-वंशवृक्ष

उपस्थित थे। गोसाईं जी का निधन-संवत् १६४२ है, अतः सूरदास का देहावसान सं० १६२८ के पश्चात् और सं० १६४२ के पूर्व होना ही संभव है। सूरदास के कुछ पदों के अंतःसाक्ष्य से उनकी विद्यमानता सं० १६४० की माघ शु० २ तक ज्ञात होती है*, अतः सूरदास का निधन संवत् १६४० ही प्रामाणिक सिद्ध होता है।

पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के पूर्व सूरदास के धार्मिक विचार क्या थे और वे किस संप्रदाय के अनुयायी थे, इस विषय में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती है। सूरसागर के आरंभिक विनय के पद उनके द्वारा उसी समय के रचे हुए कहे जाते हैं। इन पदों से किसी विशिष्ट सांप्रदायिक भावना का बोध नहीं होता है। 'सूरसारावली' के प्रमाणानुसार† कुछ विद्वान उनका उस समय शैव होना मानते हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि वे श्री शंकराचार्य के अद्वैत मतानुयायी थे। सूरदास की रचनाओं में कहीं-कहीं पर राधा और वृंदावन का इतना महत्व स्थापित किया गया है, जो आधुनिक विद्वानों के मतानुसार पुष्टि संप्रदाय और श्री बल्लभाचार्य जी के सिद्धांतों के अनुकूल नहीं है, किंतु उसका मेल श्री निंबार्काचार्य अथवा स्वामी हरिदास के धार्मिक सिद्धांतों से हो जाता है। इसी के आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान है कि श्री बल्लभाचार्य जी के शिष्य होने से पहले वे श्री निंबार्काचार्य अथवा स्वामी हरिदास के अनुयायी होंगे। श्री मुंशीराम शर्मा ने स्पष्ट रूप से उनको स्वामी हरिदास द्वारा दीक्षित होना लिखा है*। उनका अनुमान है कि आरंभ में वे शैव थे और ४०-४५ वर्ष की आयु तक गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे। "शैव संप्रदाय के विधान उन्हें संतुष्ट न कर सके और आचार्य बल्लभ से भेंट करने के पूर्व ही वे गृहस्थ और शैव संप्रदाय दोनों का परित्याग कर चुके थे।" श्री बल्लभाचार्य के शिष्य होने से पहले वे स्वामी हरिदास के शिष्य होकर वैष्णव धर्म में दीक्षित थे और विरक्त होकर भगवद्भक्ति में लीन रहा करते थे$

---

* सूर-निर्णय, पृ० १००

† गुरु-प्रसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रवीन।
सिव-विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥

* सूर सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ४१ की टिप्पणी

$ „ „ पृ० ३९, ४०

पुष्टि संप्रदाय की भक्ति-भावना से पूर्णतया परिचित न होने के कारण सूरदास के राधा विषयक काव्य से उपर्युक्त अनुमान लगाये गये हैं। हम गत पृष्ठों में बतला चुके हैं कि वात्सल्य एवं सख्य भक्ति की तरह कांता भक्ति भी वल्लभाचार्य जी को मान्य थी। इसलिए सूरदास के माधुर्य भक्ति के पद भी अन्य संप्रदायों की अपेक्षा पुष्टि संप्रदाय के कारण ही हैं। बारंबार संप्रदाय परिवर्तन के अनुमान से सूरदास के चरित्र की दुर्बलता और उनके विचारों की अपरिपक्वता प्रकट होती है, जिसकी पुष्टि उनकी जीवन-घटनाओं के अध्ययन से नहीं होती। हमारे मतानुसार सूरदास पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व किसी संप्रदाय विशेष के अनुयायी नहीं थे। वे साधारण संतों की तरह विरक्त भाव से रहा करते थे।

खोज रिपोर्टों और इतिहास ग्रंथों में सूरदास कथित प्रायः २५ ग्रंथों का नामोल्लेख किया गया है, किंतु उनमें से अनेक ग्रंथ स्वतंत्र रचनाएँ न होकर सूरसागर के अंतर्गत हैं। हमारे मतानुसार सूरदास की मुख्य रचनाएँ सूरसागर, सूर-सारावली और साहित्य-लहरी हैं। इनके अतिरिक्त सूर-साठी, सूर-पच्चीसी और सेवा-फल भी उनकी छोटी-छोटी स्वतंत्र रचनाएँ हैं। सूरदास के नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रंथ—भागवत-भाषा, सूरसागर-सार, सूर-रामायण, मान लीला, दान लीला, गोवर्धन लीला, भँवर गीत, ब्याहलो, सूर-शतक आदि—सूरसागर के अंतर्गत एवं उसके अंग रूप हैं।

अब तक सूर-सारावली और साहित्य-लहरी सूरदास की रचनाएँ मानी जाती थीं, किंतु अब कुछ विद्वान इनको सूरदास की रचनाएँ नहीं मानते हैं। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर और सूर-सारावली की रचना-शैली में २७ अंतर स्थापित कर इन दोनों ग्रंथों को एक कवि की रचना न मानते हुए सूर-सारावली के सूरदास कृत होने में संदेह प्रकट किया है*। इसी प्रकार उन्होंने साहित्य-लहरी के सूरदास कृत होने में भी शंका प्रकट की है†।

हमारे मतानुसार सूर-सारावली श्री वल्लभाचार्य जी कृत 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के आधार पर रची हुई सूरदास की स्वतंत्र सैद्धांतिक रचना है। भाव, भाषा और विषय के विचार से सूरसागर और सूर-सारावली में अंतर

* सूरदास, पृ० ८३

† सूरदास, पृ० ८७, ६३

बतलाना ठीक नहीं है, बल्कि इन दोनों में अद्भुत साम्य दिखलायी देता है। सारावली में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जो भाषा और भावों की दृष्टि से सूरसागर एवं सूरसागर की अन्य रचनाओं से मिलते हैं† ।

गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध भक्त कवि दयाराम ने संवत् १८८० में सूर-सारावली का गुजराती अनुवाद किया था। इस अनुवाद में सूर-सारावली का वही रूप प्राप्त है, जो आज-काल उपलब्ध है। यहाँ तक कि उसके छंदों का क्रम और उनकी संख्या भी वही है। इससे ज्ञात होता है कि सूर-सारावली इसी रूप में उस समय भी प्राप्त थी और इसकी प्रसिद्धि सुदूर गुजरात प्रांत तक थी।

दयाराम की रचना से ज्ञात होता है कि उन्होंने इसका अनुवाद पुष्टि संप्रदाय के एक आचार्य की आज्ञानुसार किया था। यदि 'सूर-सारावली' सूरदास की रचना न होती, तो पुष्टि संप्रदाय के आचार्य और दयाराम जैसे विख्यात कवि उनकी ओर कदापि आकर्षित न होते। दयाराम ने सूर-सारावली की विशेषता और उसके अनुवाद करने का कारण इस प्रकार बतलाया है—

सविता सम शोभित छे, संवत्सर लीलाय।
कोइक सूचीपत्र कहे, सारावली कहेवाय॥
भाषा मां ने छे भली, गिरा गुर्जरी थाय।
इच्छा अपने एटली, श्रम कीजे कविराय॥

इसी प्रकार 'साहित्य-लहरी' भी सूरदास का प्रामाणिक ग्रंथ है, जिसकी रचना उन्होंने नंददास के लिए की थी। साहित्य-लहरी की दृष्टिकूट शैली और उसके पदों के वर्ण्य विषय सूरसागर एवं सूरदास की अन्य रचनाओं में भी प्राप्त हैं। इनसे भी इसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि इसकी रचना सं० १७०० के पश्चात् किसी सूरज चंद जाट ने की थी‡। यदि यह मत प्रामाणिक माना जाय, तब सूरज-चंद जाट को प्रायः सौ वर्ष पहले के यथार्थ संवत्, दिनांक, वार, नक्षत्र, योग आदि का ज्ञान कैसे हुआ होगा! साहित्य-लहरी की रचना से ज्ञात होता है कि वह रस, अलंकार और नायिकाभेद का अत्यंत क्लिष्ट और जटिल काव्य है, जिसकी

† सूर-निर्णय, पृ० ११२ से १२० तक

‡ सूरदास पृ० ६७

रचना कोई साधारण कवि नहीं कर सकता है। इसकी रचना करने वाला तथाकथित सूरज चंद जाट भी कोई महाकवि होना चाहिए, किंतु इस नाम का कोई महाकवि इतिहास ग्रंथों में प्रसिद्ध नहीं है। फिर इस प्रकार के उत्कृष्ट कवि को अपना अस्तित्व नष्टकर अपनी रचना सूरदास की कृति के रूप में उपस्थित करने की क्या आवश्यकता थी? इन सब बातों से प्रकट है कि 'साहित्य-लहरी' भी सूरदास की ही रचना है।

सूरसागर सूरदास की प्रमुख रचना है और इसके सूरदास कृत होने में संदेह भी नहीं किया जाता है। इसकी पद संख्या के विषय में अभी तक कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती है। वार्ता से ज्ञात होता है कि सूरदास ने प्रायः लाख—सवा लाख पदों की रचना की थी, किंतु सूरसागर की वर्तमान प्रतियों में ४–५ हज़ार पदों से अधिक नहीं मिलते हैं।

यहाँ पर हमको यह देखना है कि सूरदास द्वारा लाख—सवालाख पद-रचना की किंवदंती कहाँ तक सत्य हो सकती है। सूरदास जैसे अलौकिक प्रतिभाशाली महाकवि द्वारा उनके ८५ वर्ष के सुदीर्घ काव्य-काल में इतना भारी काम भी असंभव नहीं है। पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर वे प्रति दिन नये पदों की रचना द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। पुष्टि संप्रदाय की सेवा-प्रणाली के अनुसार उनको प्रति दिन कई पदों का गायन करना आवश्यक था। उनके जीवन-क्रम के अनुसार हिसाब लगाने ज्ञात होता है कि उनके द्वारा लाख—सवा लाख पद-रचना की बात एक दम असंभव कल्पना नहीं है§। श्री शिवसिंह सेंगर ने लिखा है—

"हमने इनके पद ६० हज़ार तक देखे हैं।
समग्र ग्रंथ कहीं नहीं देखा*।"

सेंगर जी ने सूरदास के पदों का यह दुर्लभ संग्रह कहाँ देखा था, इसके विषय में उन्होंने स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है। अब तक की शोध में सूरदास के दस सहस्र से भी अधिक पद नहीं मिले हैं। भविष्यत् खोज में और भी बहुत से पद मिल सकते हैं, किंतु उनके लाख—सवालाख की संख्या में एकत्रित होने की कदापि संभावना नहीं है।

---

§ सूर-निर्णय, पृ० १७१ से १७४ तक

* शिवसिंह-सरोज, पृ० ४७७

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

सूरदास का जन्म सं० १५३५ की वैशाख शु० ५ को दिल्ली के निकटवर्ती सीहीं ग्राम के एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे जन्मांध थे और अपने चार भाइयों में सबसे छोटे थे। उनके माता-पिता और भाइयों का नाम तथा उनका विशेष वृत्तांत किसी साधन से प्राप्त नहीं है। हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' से ज्ञात होता है कि अंधे होने के कारण सूरदास को अपने माता-पिता का स्वाभाविक लाड़-प्यार प्राप्त नहीं हुआ था, बल्कि निर्धनता के कारण वे अपने घर में भार रूप हो गये थे।

भावप्रकाश से ज्ञात होता है कि सूरदास बाल्यावस्था में ही विरक्त होकर घर से निकल गये और अपने जन्म-स्थान के निकटवर्ती एक ग्राम में आ गये। वहाँ आकर वे उस गाँव के बाहर एक तालाब के किनारे पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे। उस स्थान पर वे अपनी अठारह वर्ष की अवस्था तक रहे। वहाँ पर रहते हुए वे लोगों को शकुन बतलाया करते थे। उनकी बतलायी हुई बात बिलकुल सत्य होती थी, इसलिए आस-पास के गाँवों में उनकी खूब प्रसिद्धि हो गयी थी। अनेक व्यक्ति प्रति दिन उनके पास शकुन पूछने आते थे जिनकी दी हुई भेंट के कारण सूरदास को अपने जीवन-यापन में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। वहाँ पर रहते हुए उन्होंने गायन विद्या का भी अभ्यास कर लिया था। उनका कंठ-स्वर जन्म से ही बड़ा मधुर था, इसलिए उनके गायन की भी खूब प्रसिद्धि हो गयी थी।

शकुन और गान विद्या के कारण सूरदास का इतना नाम हुआ कि अठारह वर्ष की आयु में ही वे अनेक व्यक्तियों के श्रद्धाभाजन हो गये। वे 'स्वामी जी' कहलाने लगे और अनेक श्रद्धालु व्यक्ति उनके शिष्य बनने लगे। अपने शिष्य-सेवकों की भेंट के कारण उनके पास द्रव्य भी यथेष्ट परिमाण में संचित हो गया था।

एक रात्रि को सूरदास ने विचार किया कि मैं तो भगवद्भजन के लिए विरक्त होकर घर से निकला था, किंतु यहाँ पर तो माया में फँस गया। अब यहाँ से शीघ्र हटना चाहिये, अन्यथा यह माया मेरे वैराग्य भाव को नष्ट कर पूरी तरह मुझे अपने वश में कर लेगी।

इस विचार के उत्पन्न होते ही उन्होंने अपना संपूर्ण वैभव वहीं पर छोड़ दिया और आप वहाँ से चल कर मथुरा में आये। भगवान् श्री कृष्ण की पुरी होने के कारण वे पहले मथुरा में ही रहना चाहते थे, किंतु उन्होंने विचार किया कि तीर्थ-स्थान होने के कारण मथुरा में अगणित व्यक्तियों का सदैव आना-जाना रहता है, अतः यहाँ पर भी माया से पीछा छुड़ाना कठिन हो जावेगा; इसलिए किसी एकांत स्थान में चल कर रहना चाहिये। निदान वे मथुरा और आगरा के मध्यवर्ती गऊघाट नामक स्थान पर आ गये और वहाँ पर यमुना नदी के किनारे एक स्थान पर रहने लगे।

आजकल मथुरा-आगरा के बीच में रुनकता नामक एक ग्राम बसा हुआ है। इसी नाम का जी० आई० पी० रेल का स्टेशन भी है। कहते हैं यह रुनकता ही महाभारत के समय का रेणुका स्थल है। इस स्थल के प्रायः तीन मील पश्चिम की ओर यमुना नदी के किनारे पर गऊघाट नामक स्थान था। गऊघाट पर स्थायी निवास बनाने के पूर्व वे कुछ समय तक रेणुका स्थल पर भी रहे थे, अतः कुछ लेखकों ने इसे ही सूरदास का जन्म-स्थान लिख दिया है, किंतु यह मत ठीक नहीं है।

अपनी ३१ वर्ष की आयु तक सूरदास गऊघाट पर रहे। वहाँ रहते हुए उन्होंने संगीत, काव्य एवं गायन-कलाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और शास्त्र-पुराणादि विविध ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन किया। सूरदास की रचनाओं से उनके गंभीर ज्ञान एवं प्रकांड पांडित्य का परिचय प्राप्त होता है; साथ ही साथ यह भी विदित होता है कि वे ब्रजभाषा और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने यह अपार ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया, किन भाग्यवान पुरुषों को इस महाकवि के विद्या-गुरु होने का सौभाग्य प्राप्त है, इन बातों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। जिन हरिराय जी ने सूरदास के आरंभिक जीवन पर प्रकाश डाला है, वे भी इस संबंध में मौन हैं। वार्ता मे लिखा है कि वल्लभाचार्य जी से दीक्षित होने पर और उनके द्वारा 'नाम' एवं 'समर्पण' की विधि के अनंतर सूरदास के हृदय में स्वतः श्रीमद्भागवत के समस्त ज्ञान का उदय हो गया! यदि इस चमत्कार में विश्वास किया जाय, तब भी सूरदास अपने गायन एवं विनयपूर्ण पदों की रचना द्वारा पहले ही यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे—यह स्वयं वार्ता से ही प्रकट है। हमारा अनुमान है कि जन्मांध होने के कारण सूरदास ने विधि पूर्वक शिक्षा प्राप्त नहीं की होगी, प्रत्युत सत्संग द्वारा ही उन्होंने समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया

होगा। पूर्व जन्म के संस्कार, अपूर्व मेधा और विलक्षण ग्रहण-शक्ति के कारण वे विना किसी परिश्रम के समस्त विद्याओं में पारंगत हो गये होंगे।

वल्लभाचार्य जी के सेवक होने से पूर्व सूरदास गऊघाट पर रहते हुए ज्ञान, वैराग्य एवं विनय के पदों की रचना किया करते थे और उनको भक्ति-भाव से गाकर लोगों की धार्मिक भावना को जागृत किया करते थे। उनकी अपूर्व कवित्व-शक्ति एवं शास्त्रोक्त संगीत–लहरी के कारण वहाँ पर भी अनेक व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित हुए और उनमें पूज्य भाव रखने लगे। चौरासी-वार्ता से ज्ञात होता है कि उस समय सूरदास 'स्वामी जी' कहलाते थे, और अनेक व्यक्ति उनके शिष्य हो गये थे।

सूरदास के इस आरंभिक जीवन-वृत्तांत से यह भली भाँति ज्ञात होता है कि वे एक असाधारण व्यक्ति थे। आरंभ से ही उनमें कुछ ऐसे दैवी गुण थे, जिनके कारण वे जहाँ भी रहे, वहीं पर अनेक व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित हुए और उनको पूज्य मानने लगे। अन्य गुणों के अतिरिक्त उनमें आरंभ से ही काव्य एवं संगीत का ऐसा विकास हुआ था कि अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त उनके दीक्षा-गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य जी भी इसी कारण उनकी ओर आकर्षित हुए थे।

वल्लभाचार्य जी का शिष्यत्व—

सं० १५६७ के लगभग जब वल्लभाचार्य जी ने अपनी तीनों यात्राओं के अनंतर अड़ैल में गृहस्थ रूप से रहना आरंभ ही किया था कि उनको ब्रज में जाने की आवश्यकता हुई। इससे पूर्व भी वे दो-एक बार ब्रज में जाकर गोवर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की व्यवस्था कर चुके थे। अड़ैल से ब्रज में जाते हुए उनको मार्ग में गऊघाट पर रुकना पड़ा। वल्लभाचार्य जी के प्रकांड पांडित्य और दक्षिण–दिग्विजय की प्रसिद्धि सूरदास ने भी सुनी थी, अतः वे अपने सेवकों सहित उनसे मिलने को चल दिये।

वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को अपने निकट आता हुआ देखकर उनको आदर पूर्वक अपने सन्मुख बैठाया और उनसे भगवद्-यश वर्णन करने को कहा। सूरदास ने उनको विनय के कई पद गाकर सुनाये, किंतु वल्लभाचार्य जी ने उनसे भगवद् लीला के पद सुनाने को कहा। इस प्रथम भेंट में ही सूरदास पर वल्लभाचार्य जी का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उनके शिष्य हो गये।

वल्लभाचार्य जी ने गऊघाट पर तीन दिन तक विश्राम किया । इसके बाद वे गोकुल को चल दिये और सूरदास को भी अपने साथ लेते गये।

वल्लभाचार्य जी के साथ सूरदास कुछ समय तक गोकुल में रहे और लीला-विषयक पदों का गायन करते रहे । वल्लभाचार्य जी भागवत के जिस प्रकरण की व्याख्या करते थे, सूरदास उसी पर पदों की रचना करते थे। गोकुल में कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् वे वल्लभाचार्य जी के साथ गोवर्धन गये। वहाँ पर आचार्य जी के आदेशानुसार श्रीनाथ जी के सन्मुख भक्तिपूर्ण पदों का गायन करने लगे।

उस समय श्रीनाथ जी एक छोटे से मंदिर में विराजमान थे और बंगाली वैष्णव उनकी सेवा करते थे। कीर्तन का कार्य कुंभनदास करते थे। वल्लभाचार्य जी की प्रेरणा से पूरनमल खत्री ने सं० १५५६ की वैशाख शु० ३ को श्रीनाथ जी का जो विशाल मंदिर बनवाना आरंभ किया था, वह द्रव्याभाव से अधूरा बना पड़ा था। वल्लभाचार्य ने इस अधूरे मंदिर में ही श्रीनाथ जी के स्वरूप को स्थापित कर दिया और सूरदास को श्रीनाथ-जी का प्रधान कीर्तनिया नियत किया। यह मंदिर बाद में सं० १५७६ की वैशाख शु० ३ को पूर्ण हुआ। कुछ लेखकों ने इस मंदिर के पूर्ण होने की तिथि के हिसाब से सूरदास का वल्लभाचार्य जी का शिष्य होकर श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करने का समय सं० १५८० के लगभग* अथवा सं० १५७६ के पश्चात्† लिखा है, किंतु पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से ये संवत् ठीक नहीं हैं । सूरदास सं० १५६७ में ही वल्लभाचार्य जी के शिष्य हो गये थे।

गोवर्धन आ जाने पर सूरदास ने परासोली को अपना स्थायी निवास बनाया और अपना शेष जीवन वहीं पर व्यतीत किया। इसी स्थान में उन्होंने अपने अधिकांश पदों की रचना की थी। वे प्रति दिन परासोली से गोपालपुरा जाते थे और नित्य नये पदों की रचना द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। इस प्रकार उन्होंने सहस्रों पदों की रचना की, जो बाद में सूरसागर के रूप में संकलित कर लिये गये।

---

* श्री रामचंद्र शुक्ल कृत "हिंदी साहित्य का इतिहास" पृ० १३८

† श्री मुंशीराम शर्मा कृत "सूर-सौरभ" प्रथम भाग पृ० ४५

अष्टछाप में स्थापना—

सूरदास और वल्लभाचार्य जी का संमिलन पुष्टि संप्रदाय के लिए बड़ा फलप्रद हुआ। वल्लभाचार्य जी को अपनी धर्म-स्थापना के मार्ग को मनोरम और सुगम बनाने के लिए सूरदास जैसे गुणी गायक और विलक्षण प्रतिभा संपन्न कवि के सहयोग की अत्यंत आवश्यकता थी, इसी लिए उनके समस्त शिष्यों में सूरदास का विशेष आदर था।

वल्लभाचार्य जी एवं गोपीनाथ जी के अनंतर जब विट्ठलनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए, तब उन्होंने संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों की 'अष्टछाप' स्थापित की। अष्टछाप की स्थापना सं० १६०२ में हुई थी, जिसमें सूरदास को प्रमुख स्थान दिया गया। अष्टछाप के आठों कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ थे। वास्तव में देखा जाय तो सूरदास ही अष्टछाप के सर्वस्व थे, अन्य कवियों का उनके सामने विशेष महत्व नहीं था।

अकबर से भेंट—

मूल चौरासी वार्ता में सूरदास की अकबर बादशाह से भेंट होने की बात लिखी गयी है। 'अष्टसखान की वार्ता' में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। इसमें लिखा है कि तानसेन द्वारा सूरदास के एक पद को सुनकर अकबर ने सूरदास से मिलने की इच्छा प्रकट की। बादशाह ने अपने कुछ सेवकों को सूरदास की खोज में गोवर्धन भेजा, किंतु उनको ज्ञात हुआ कि सूरदास श्रीनाथ जी की सेवार्थ मथुरा गये हुए हैं। अंत में मथुरा में ही सूरदास और अकबर की भेंट हुई। अकबर के कहने पर उन्होंने "मन रे तू कर माधौ सों प्रीत" नामक जिस उपदेशात्मक पद का गायन किया था, वह 'सूर पच्चीसी' के नाम से प्रसिद्ध है। अकबर उनके गायन से बड़ा प्रसन्न हुआ। वार्ता में लिखा है कि जब अकबर ने अपना यश वर्णन करने को सूरदास से कहा तो उन्होंने निम्न पद का गायन किया—

नाहिंन रह्यौ मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय॥
स्याम गात, सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

इस पद के द्वारा सूरदास ने अकबर को बतला दिया कि उनके मन में भगवान श्री कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के लिए स्थान नहीं है, अतः उनके द्वारा किसी अन्य व्यक्ति का यश वर्णन करना भी संभव नहीं है। अकबर भी सूरदास जैसे निस्पृह महात्मा की इस सारगर्भित स्पष्टोक्ति को सुन कर चुप हो गया, किंतु उक्त पद की अंतिम पंक्ति के संबंध में उसने सूरदास से फिर प्रश्न किया।

अकबर ने पूछा---"सूरदास जी! तुम्हारे नेत्र तो हैं ही नहीं, फिर उनके प्यासे मरने का क्या अभिप्राय है?" वार्ता में लिखा है कि सूरदास ने अकबर के इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया, प्रत्युत् अकबर का स्वयं ही समाधान हो गया। इस भेंट से सूरदास की अनन्यता और अकबर की सहिष्णुता प्रकट होती ही है। यह भेंट सं० १६२३ में मथुरा में हुई थी।

सं० १६२३ में गोसाईं विट्ठलनाथ जी की अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को कुछ समय के लिए गोवर्धन से मथुरा ले गये थे। उस समय श्रीनाथ जी के साथ सूरदास भी मथुरा गये थे। उसी समय मथुरा में अकबर की उपस्थिति भी इतिहास से सिद्ध है। अकबर सं० १६१३ में बादशाह हुआ था और सं० १६२१ में तानसेन उसके दरबार में आया था, अतः तानसेन की प्रेरणा से हुई इस भेंट को अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं है।

स्थायी निवास—

सूरदास का स्थायी निवास गोवर्धन के निकट परासोली ग्राम में था। वहाँ पर चंद्र सरोवर के पास वे अपनी कुटी में रहा करते थे और प्रति दिन परासोली से श्रीनाथ जी के मंदिर में जाकर कीर्तन-सेवा करते थे। वार्ता से ज्ञात होता है कि एक बार श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ मथुरा और कभी-कभी गोकुल जाने के अतिरिक्त वे अपने स्थायी निवास परासोली को छोड़ कर कहीं नहीं गये। 'अष्टसखान की वार्ता' में लिखा है कि कुंभनदास और परमानंददास के कारण जब सूरदास को श्रीनाथ जी के कीर्तन से कुछ अवकाश मिलता, तब वे गोकुल में नवनीतप्रिय जी के दर्शनार्थ जाते थे। ऐसा अवसर सं० १६२८ के बाद ही आया होगा, जब गो० विट्ठलनाथ जी स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे थे। इससे यह सिद्ध होता है कि सूरदास सं० १६२८ के बाद तक विद्यमान थे।

रचना-काल—

सं० १५६७ के लगभग सूरदास प्रायः ३२ वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य जी के शिष्य होकर पुष्टि-संप्रदाय में सम्मिलित हुए थे । यद्यपि लीला-विषयक पदों की रचना उन्होंने पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के पश्चात की, तथापि विनय के अनेक पद वे इससे पूर्व ही बना चुके थे यदि उन्होंने १५ वर्ष की आयु में कविता करना आरंभ किया हो, तो सं० १५५० से अपने अंतिम समय सं० १६४० तक उनका रचना-काल कहा जा सकता है । इस ९० वर्ष के सुदीर्घ काल में उन्होंने सहस्रों पदों की रचना की, जो 'सूरसागर' एवं उनकी अन्य कृतियों में संकलित हैं ।

देहावसान—

एक दिन अपना अंतिम समय निकट जान कर सूरदास श्रीनाथ जी की मंगला-आरती के अनंतर ही परासोली वापिस आ गये । वहाँ पर श्रीनाथ जी के मंदिर की ध्वजा को नमस्कार कर और उसी की ओर मुख कर वे एक चबूतरे पर लेट गये । अंत में समस्त लौकिक बातों से मन को हटा कर वे एकाग्र चित्त से श्रीनाथ जी एवं गोसाईं जी का ध्यान करते हुए अंतिम समय की प्रतीक्षा करने लगे ।

उधर श्रीनाथ जी की शृंगार-झाँकी के अवसर पर गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने सूरदास को अनुपस्थित देख कर उनके संबंध में अपने सेवकों से पूछा । सूरदास का नियम था कि वे श्रीनाथ जी के शृंगार के समय प्रति दिन जगमोहन में उपस्थित होकर कीर्तन किया करते थे । आज इस नियम की अवहेलना देखकर गोसाईं जी को कुछ संदेह हुआ । सेवकों ने गोसाईं जी से कहा कि आज सूरदास प्रातःकाल की मंगला-आरती के बाद ही परासोली चले गये । उसी समय अन्य सेवकों ने आकर गोसाईं जी को सूचना दी कि सूरदास अचेत अवस्था में लेटे हुए हैं; उनकी शारीरिक दशा अच्छी ज्ञात नहीं होती है ।

गो० विट्ठलनाथ ने सूरदास का अंतिम समय जान कर अपने सेवकों से कहा—"आज पुष्टि मार्ग का जहाज जाने वाला है, जिसको जो कुछ लेना हो, वह ले ले । तुम लोग सूरदास के पास चलो, हम भी श्रीनाथ जी के राजभोग के पश्चात् वहीं पर आते हैं ।"

गोसाईं जी की आज्ञानुसार कुछ लोग सूरदास के पास परासोली चले गये । इसके पश्चात् राजभोग की आरती कर गोसाईं विट्ठलनाथ भी कुछ

सेवकों के साथ परासोली गये। उनके साथ उस समय अष्टछाप के कवि कुंभनदास, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास तथा रामदास प्रभृति सेवक भी थे।

उस समय सूरदास मरणासन्न अवस्था में अचेत पड़े थे। विट्ठलनाथ जी ने उनका हाथ पकड़ कर कहा—"सूरदास जी! क्या बात है?" गोसाईं जी के शब्द सुनकर सूरदास ने नेत्र खोल दिये। उन्होंने दंडवत करते हुए उनसे विनीत भाव से कहा-"महाराज! मैं आपके दर्शनों की ही प्रतीक्षा कर रहा था।" उस समय सूरदास ने निम्न लिखित पद को गुनगुनाते हुए अपना शरीर छोड़ दिया—

खंजन नैंन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन-गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

सूरदास का देहावसान परासोली में सं० १६४० के लगभग हुआ था। इस स्थान पर सूरदास की कुटी अभी तक बनी हुई है। सूरदास के देहावसान की निश्चित तिथि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।

ग्रंथ-रचना—

खोज रिपोर्ट और इतिहास ग्रंथों में सूरदास के रचे हुए प्रायः २५ ग्रंथों का नामोल्लेख मिलता है। इनमें कई ग्रंथ सूरदास कृत नहीं हैं और कई ग्रंथ सूरसागर के अंतर्गत हैं। हमारी शोध के अनुसार सूरदास की प्रामाणिक एवं स्वतंत्र रचनाएँ निम्न लिखित हैं—

१. सूर-सारावली
२. साहित्य-लहरी
३. सूरसागर
४. सूर-साठी
५. सूर-पच्चीसी
६. सेवा-फल
७. सूरदास के विनय के पद

सूरदास कृत अन्य ग्रंथ —भागवत भाषा, दशमस्कंध भाषा, सूरसागर-सार, सूर रामायण, मान लीला, राधारसकेलिकौतुहल, दानलीला, गोवर्धन लीला, (सरस लीला), भँवर गीत, नाग लीला, ब्याहलो, प्राण प्यारी,

दृष्टिकूट के पद, सूर शतक—सूरसागर के अंतर्गत एवं उसके अंश रूप हैं, अतः ये स्वतंत्र रचनाएँ नहीं हैं। सूरदास के उपरांत विभिन्न व्यक्तियों ने विषयानुसार इनका संकलन कर लिया है। सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हरिवंश टीका, एकादशी माहात्म्य, नल-दमयंती और राम-जन्म अन्य कवियों की रचनाएँ हैं। इनको सूरदास की कृति समझना भूल है।

इस प्रकार ज्ञात हुआ कि सूरदास के ७ स्वतंत्र ग्रंथों में सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर बड़ी रचनाएँ हैं, जिनमें सूरसागर प्रमुख है। शेष ४ छोटी रचनाएँ हैं, जो विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। अब हम सूरदास की बड़ी रचनाओं के संबंध में विस्तार पूर्वक लिखना चाहते हैं। 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी के आधार पर सूरदास का रचना-काल एवं उनके जीवन की कतिपय घटनाओं का निश्चय किया जाता है, अतः हम पहले इनके संबंध में लिख कर बाद में सूरदास की प्रमुख रचना 'सूरसागर' के संबंध में लिखेंगे।

सूर-सारावली—

'सूर-सारावली' कुछ विद्वानों के मतानुसार सूरसागर की अनुक्रमणिका है, जिसकी रचना सूरसागर के बाद होना संभव है। यह ग्रंथ सूरदास कृत होने पर भी सूरसागर की अनुक्रमणिका नहीं है। यह एक स्वतत्र रचना है, जिसमें सूरसागर में कही हुई लीलाओं को सिद्धांत रूप से पृथक् शैली में लिखा गया है। हमारे विचार से सूरसागर में सूरदास की जन्म भर की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं का सूरसागर के रूप में क्रमबद्ध संकलन कवि के जीवन में अथवा उसके पश्चात् किया गया है। सूरदास के जीवन में वर्तमान सूरसागर का अधिकांश भाग किसी समय अवश्य प्रस्तुत हुआ होगा, किंतु उसकी समाप्ति कभी नहीं हुई। अपने देहावसान के समय तक सूरदास जो रचनाएँ करते रहे, वे सब सूरसागर में ही संकलित हैं। ऐसी दशा में सूर-सारावली को सूरसागर के बाद की रचना कहना उचित नहीं है। सूर-सारावली के अंतिम छंदों में से कुछ इस प्रकार हैं—

> श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ।
> ता दिन तें हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बंद।
> ताकौ सार 'सूर' सारावलि, गावत अति आनंद ॥

उपर्युक्त छंद का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—"बल्लभ गुरु के बतलाये हुए तत्व और लीला-भेद के अनुसार मैंने एक लक्ष पदों में जिस हरि-लीला का गायन किया है, उसके सार रूप में आनंद पूर्वक सूर-सारावली गायी है।

उक्त अर्थ के कारण 'सारावली' को सूरसागर का सूचीपत्र अथवा उसकी अनुक्रमणिका समझ लिया जाता है। वार्ता में सूरदास कृत लाख-सवालाख पद-रचना का उल्लेख होने के कारण भी यहाँ पर 'एक लक्ष' का अर्थ एक लाख समझा गया है, किंतु वास्तव में यह शब्द संख्या वाची नहीं है, किंतु वह कृष्ण का सूचक है। भागवत में नव लक्षण—सर्गादि नव लीलाओं से लक्ष्य-आश्रय स्वरूप श्री कृष्ण का निरूपण किया गया है, अतः सूरदास ने सारावली की लीलाओं के गायन करने के पूर्व लीलात्मक श्री कृष्ण के चरणों की वंदना की है। इसलिए उक्त छंद का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—'एक लक्ष भगवान् श्री कृष्ण की पद-वंदना कर अपनी गायी हुई हरि-लीलाओं का सार सूरदास ने आनन्द पूर्वक 'सारावली' में गाया है।' नंददास ने भी अपनी रचना भागवत-भाषा में नवलक्षण से लक्ष्य श्री कृष्ण की इस प्रकार वंदना की है—

> नव लक्षण करि 'लक्ष' जो, दसयें आश्रय रूप।
> 'नंद' वंदिलै ताहि कों, श्री कृष्णास्य अनूप ।।

उपर्युक्त अर्थ के कारण 'सारावली' सूरसागर का सूचीपत्र सिद्ध नहीं होती है। श्री वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को श्रीमद्भागवत और उसके तत्त्वरूप पुरुषोत्तम सहस्रनाम को सुनाया था और उनको भागवत की दशविध लीलाओं का भेद बतलाया था। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सूरदास ने श्रीनाथ जी की पद-वंदना पूर्वक भागवतोक्त लीलाओं का गायन किया था। वार्ता से ज्ञात होता है कि इन लीलाओं के गायन के कारण वल्लभाचार्य जी सूरदास को 'सूरसागर' कहा करते थे। कालांतर में उनकी प्रमुख रचनाओं का संकलन भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूरदास ने उन लीलाओं के सैद्धांतिक सार रूप में 'सारावली' की रचना की है।

सूर-सारावली की रचना होली के बृहत् गान के रूप में उपस्थित की गयी है। यह दो-दो पंक्तियों के ११०७ छंदों में पूरी हुई है। सूरसागर में भिन्न-भिन्न राग-रागनियों के सहस्रों पद हैं, किंतु सूर-सारावली की रचना एक ही छंद में की गयी है। संपूर्ण रचना में एक ही छंद होने के कारण यह सूरसागर की तरह रोचक नहीं है और न साहित्यिक गुणों में यह सूरसागर के समान है, फिर भी इसकी रचना महत्वपूर्ण है।

कवि–छाप के रूप में सूर-सारावली में भी सूरसागर की तरह सूरदास, सूर एवं सूरज नामों का प्रयोग हुआ है। यदि इस रचना को सूरदास के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की माना जावे, तो विषय और नाम की समानता का क्या कारण है? डा० ब्रजेश्वर वर्मा, जो इस रचना के सूरदास कृत होने में संदेह करते हैं, इसी प्रकार का प्रश्न और इसका समाधान इस प्रकार करते हैं। सूर-सारावली का रचयिता "यह सूरज कवि वह ब्रजवासी बालक तो नहीं है, जो नागरीदास जी के अनुसार ब्रज में 'द्वैतुकिया होरी के भड़ौआ' गाता फिरता था और जिसे श्री गोस्वामी जी ने 'भगवत् जस' वर्णन करने का उपदेश दिया था? संभव है, गोस्वामी जी का उपदेश मान कर कालांतर में उसी ने 'सारावली' के नाम से होली का बृहत् गान रच दिया हो।...यह 'द्वैतुकिया भड़ौआ' गाने वाला कवि कदाचित नाम–साम्य और विश्वास–साम्य के कारण अपनी रचना को प्रसिद्ध भक्ति-कवि सूरदास की रचना के समक्ष रखने का लोभ न संवरण कर सका हो†।" किंतु ये सब निराधार कल्पनाएँ हैं। सूर-सारावली निश्चय पूर्वक सूरदास की ही रचना है।

साहित्य-लहरी—

'साहित्य-लहरी' को साधारणतया सूरदास के दृष्टिकूट पदों का संग्रह तथा रस, अलंकार और नायिकाभेद की एक रीति प्रधान रचना कहा जाता है। इसके १०६ वें पद में इसका रचना-काल और ११८ वें पद में कवि-वंशावली दी हुई है। इन्हीं दो पदों के कारण प्रायः सभी सूर–समीक्षकों ने 'साहित्य–लहरी' का उल्लेख किया है। सूरदास के काव्य में साहित्यिक गुणों का पूर्ण परिपाक होने पर भी उसकी मूल प्रेरणा भक्ति है, साहित्य नहीं; किंतु साहित्य-लहरी का ऊपरी ढाँचा सूर-साहित्य के विरुद्ध एक ऐसी रीति-प्रधान रचना जैसा है, जिसमें भक्ति-भाव का नितांत अभाव दिखलायी देता है। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि यह सूरदास की रचना नहीं है।

श्री मुंशीराम शर्मा साहित्य–लहरी को सूरदास की रचना तो मानते ही हैं, इसके साथ ही उसके वंशावली वाले पद को भी वे प्रामाणिक मानते हैं$।

† सूरदास पृ० ८२, ८३

$ 'सूर सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ३२

इसके विरुद्ध डा० व्रजेश्वर वर्मा इसे सूरदास की रचना स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार "साहित्य-लहरी का रचनाकार कोई सूरजचंद नामक भाट जान पड़ता है, जो कदाचित चंद बरदाई और सूरदास—हिंदी के दो महान् कवियों से अपने व्यक्तित्व को संबंधित और मिश्रित करने के लोभ में साहित्यिक प्रवंचना का अपराध कर बैठा*।" साहित्य—लहरी की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में दोनों ही पक्ष के तर्क तथ्यपूर्ण ज्ञात होते हैं, किंतु पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक इतिहास और साहित्य-लहरी की रचना का उद्देश्य जान लेने पर इसके सूरदास कृत होने में संदेह नहीं रहता है। साहित्य-लहरी की रचना विषयक तिथि वाले पद के अंत में इसकी रचना का उद्देश्य इस प्रकार बतलाया गया है—

"नंदनंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन।"

जिन 'नंदनंदनदास' के लिए 'साहित्य—लहरी' की रचना की गयी थी, उनके विषय में भिन्न—भिन्न विद्वानों के भिन्न—भिन्न मत हैं। वार्ता साहित्य के मर्मज्ञ श्री द्वारिकादास परीख का मत है कि इस ग्रंथ की रचना अष्टछाप के सुकवि नंददास के लिए की गयी थी‡। इस मत के समर्थन कर्त्ताओं ने लिखा है—"रीति काव्य क्षेत्र में नंददास सूरदास के शिष्य हैं। सूरदास ने इनके लिए ही ६ मास में समस्त साहित्य—लहरी की रचना की थी, कदाचित रीतिशास्त्र की शिक्षा भी ध्येय था, इसी से उसमें नायिकाभेद आदि के दर्शन होते हैं★।" श्री परीख के मत का खंडन करते हुए श्री महावीरसिंह गहलोत 'नंदनंदनदास' का अर्थ कृष्णदास कर इस बात पर जोर देते हैं कि अष्टछाप वाले अधिकारी कृष्णदास को काव्य का ज्ञान कराने के लिए सूरदास ने 'साहित्य—लहरी' की रचना की थी †।

यदि 'नंदनंदनदास' का शब्दार्थ किया जाय तो वास्तव में नंददास न होकर कृष्णदास ही होता है; किंतु इस कृष्णदास शब्द का अभिप्राय अधिकारी कृष्णदास समझना भी ठीक नहीं है। श्री गहलोत के मतानुसार साहित्य-लहरी

---

* सूरदास पृ० ९६

‡ प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, गुजराती विभाग, पृ० १०१

★ 'नंददास : एक अध्ययन, पृ० ५१

† संमेलन पत्रिका, श्रावण-भाद्रपद २००२

की रचना सं० १६१७ में हुई थी। उस समय पुष्टि संप्रदाय के निश्चित संवत् के आधार पर सूरदास की आयु ८२ वर्ष और कृष्णदास अधिकारी की ६४ वर्ष की थी। अपने जीवन में कृष्णदास कुशल प्रबंधक होने के अतिरिक्त कवि और गायक के रूप में भी प्रसिद्ध हो चुके थे और सं० १६०२ में वे 'अष्टछाप' में सम्मिलित कर लिये गये थे, जो कि उनके सुकवि और काव्य-शास्त्र विशारद होने का भी एक प्रमाण था। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि 'अष्टछाप' में सम्मिलित होने के १५ वर्ष बाद और अपनी आयु के ६४ वें वर्ष में कृष्णदास को सूरदास से काव्यांगों की शिक्षा लेने की आवश्यकता होती; बल्कि चौरासी वार्ता में तो कृष्णदास सूरदास की प्रतियोगिता में पद-रचना करते दिखलायी देते हैं। ऐसी दशा में कृष्णदासके लिए भी साहित्य-लहरी की रचना होने की बात उचित नहीं मालूम होती।

फिर साहित्य-लहरी की रचना का क्या उद्देश्य था? अपने जीवन के अंतिम भाग में क्या भक्त-शिरोमणि सूरदास का अभिप्राय अलंकार और नायिकाभेद की रचना करना था? निस्संदेह साहित्य-लहरी के पदों का ऊपरी ढाँचा अलंकार और नायिकाभेद प्रधान है, किंतु उनमें भक्तों की विशिष्ट उपासना प्रणाली के अनुकूल मधुर रस भी भरा हुआ है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है साहित्य-लहरी की रचना दृष्टिकूट पदों में की गयी हैं। श्लेष और यमक आदि अलंकार तथा अनेकार्थवाची कतिपय विशिष्ट शब्दों के उपयोग से ऐसी रचना करना, जिसका समझना साधारण पाठक के लिए कठिन हो, दृष्टिकूट काव्य कहलाता है। साहित्य-लहरी के पदों का ऊपरी ढाँचा चाहें अलंकार और नायिकाभेद प्रधान है, किंतु उनमें दृष्टिकूट काव्य की शैली द्वारा वह मधुर रस भरा हुआ है, जो भक्तों की उपासना प्रणाली का एक अंग है। यह मधुर रस अत्यंत गोपनीय है। इसका लाभ केवल अधिकारी व्यक्तियों को हो और अनधिकारी व्यक्ति इसका दुरुपयोग न कर सकें, इसलिए इसे दृष्टिकूट काव्य की जटिलता के आवरण से ढक दिया गया है। साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ अत्यंत प्राचीन समय से होती रही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इस ग्रंथ द्वारा सूरदास ने रस, अलंकार और नायिकाभेद के बहाने माधुर्य भक्ति का कथन किया है। सं० १६०७ में जब नंददास पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षित हुए, तब एक ओर उन पर अपने बड़े भाई तुलसीदास की राम-भक्ति का प्रभाव था और दूसरी ओर उनकी सांसारिक विषयों से पूर्णतया विरक्ति नहीं हुई थी। पुष्टि संप्रदाय के अनुसार नंददास

को दृढ़ कृष्ण-भक्त बनाने के लिए नंददास की अपेक्षा 'नंदनंदनदास' (कृष्णदास) कहा जाने लगा। सांप्रदायिक शिक्षा और भक्ति की दृढ़ता के लिए उनको कुछ समय के लिए सूरदास के सत्संग में रखा गया। उस समय सूरदास ने नंददास की तत्कालीन प्रवृति के अनुकूल साधनों से उनको शिक्षा देने के लिए रस, अलंकार और नायिकाभेद के पदों की रचना की थी। इस प्रकार के पदों का आरंभ नंददास के दीक्षा-काल सं० १६०७ से आरंभ हुआ होगा और अवकाशानुसार उनकी जब-तब रचना होकर सं० १६१७ में वे 'साहित्य-लहरी' के रूप में संकलित कर लिये गये होंगे। चूँकि ये पद नंदनंदनदास' नाम से प्रसिद्ध नंददास के लिये रचे गये थे, अतः ग्रंथ के अंत में उनके नाम का भी उल्लेख कर दिया गया था। इन सब तथ्यों के जान लेने पर 'साहित्य-लहरी' भी सूरदास की प्रामाणिक रचना सिद्ध होती है।

सूरसागर —

'सूरसागर' सूरदास की अत्यंत विशाल-काय और महत्वपूर्ण रचना है। प्रायः ऐसा समझा जाता है सूरसागर ब्रजभाषा पदों में भागवत का अनुवाद है। भागवत और सूरसागर दोनों में द्वादश स्कंध हैं और विषय भी दोनों का समान है, इसलिए ऊपरी दृष्टि से देखने वालों ने ऐसी धारणा बनाली है; किंतु दोनों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें भागवत की समस्त कथाओं का समावेश भी नहीं है; फिर भी सूरदास के निम्न लिखित कथन से ज्ञात होता है कि उन्होंने व्यास जी कथित द्वादश स्कंधात्मक कथाओं का भाषा पदों मे गायन किया है—

> व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कंध बनाय।
> सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाय॥

इस विरोधाभास का निराकरण आवश्यक है। हम पहले लिख चुके हैं कि श्री बल्लभाचार्य जी अपने कथा–प्रसंगों में भागवत के जिस प्रकरण की व्याख्या करते थे, सूरदास पद-रचना द्वारा उसका गायन करते थे। बल्लभाचार्य जी ने भागवत की जिस समाधि भाषा को प्रमाण-चतुष्टय में स्वीकार किया है, उसी की व्याख्या रूप में उनके अधिकांश प्रवचन होते थे, अतः सूरदास ने भी भागवत के अन्य कथा–प्रसंगों की उपेक्षा कर उन्हीं प्रसंगों का विशेष रूप से गायन किया है। इसलिए सूरसागर भागवत का अविकल अनुवाद न होते हुए भी उस पर आधारित अवश्य है।

भागवत के द्वादश स्कंधों में दशमस्कंध सब से बड़ा अवश्य है, किंतु अन्य स्कंधों का आकार भी एक दम कम नहीं है। सूरसागर में नाम को द्वादश स्कंध अवश्य हैं; किंतु आकार, कवित्व और महत्व की दृष्टि से उसका सर्वस्व दशम स्कंध है, जिसकी पद संख्या भागवत की श्लोक संख्या से भी अधिक है। भागवत के सब से छोटे स्कंध में भी प्रायः चारसौ श्लोक हैं, किंतु सूरसागर के पाँच स्कंधों की पद संख्या केवल ४ से ८ तक है! प्रथम और नवम स्कंधों के अतिरिक्त अन्य स्कंधों की पद संख्या भी बहुत कम है। इससे सिद्ध है कि सूरदास ने दशम स्कंध की कथा बड़ी विस्तार से कही है और अन्य स्कंधों की कथाओं को अत्यंत संक्षिप्त रूप से चलता कर दिया है। भक्ति-मार्ग के अनुयायियों में भागवत दशमस्कंध का विशेष महत्व है; इसलिए सूरदास द्वारा उसका विशेष रूप से गायन होना स्वाभाविक ही था, किंतु अन्य स्कंधों की उन्होंने इतनी उपेक्षा की हो, यह भी समझ में आने वाली बात नहीं है।

हमारा अनुमान है कि सूरदास ने अन्य स्कंधों के भी अनेक पदों की रचना की थी, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में सं० १७९८ की एक ऐसी प्रति का विवरण दिया गया है, जिसमें दशमस्कंध का केवल १ पद है और द्वादशस्कंध के १७४५ पद हैं। सूरसागर की अन्य प्रतियों में द्वादशस्कंध के इतने अधिक पद नहीं दिये गये हैं। यदि यह विवरण प्रामाणिक है, तब यह मानना होगा कि पूरी तरह खोज होने पर अन्य स्कंधों के भी सूरदास रचित पद अधिक संख्या में प्राप्त हो सकते हैं।

इस समय सूरसागर के दो प्रकार के संस्करण प्राप्त होते हैं—एक द्वादश स्कंधात्मक और दूसरा लीलात्मक। दोनों प्रकार के संस्करणों की हस्त लिखित प्राचीन प्रतियाँ सर्वत्र उपलब्ध होती हैं। इससे समझा जा सकता है कि सूरदास के जीवन-काल में अथवा उनके कुछ समय बाद से ही उनके पदों के उपर्युक्त दोनों प्रकार के संकलन होने लगे थे। ऐसा ज्ञात होता है कि लीलात्मक संकलन सूरदास के समय में ही हो गया था, किंतु द्वादश स्कंधात्मक संकलन उनके पश्चात् किया गया है।

ये संकलन किसने किये, इसके विषय में निश्चित् रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। 'अष्टसखान की वार्ता' से ज्ञात है कि अकबर ने सूरदास के पदों का संग्रह कराया था‡। इसी प्रकार रहीम का नाम भी इस संबंध में लिया

‡ प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० २७

जाता है† । यदि अकबर और रहीम के नाम कोरी किंवदंती माने जाँय, तब भी कहा जा सकता है कि सूरदास की रचना के प्रेमी पुष्टि संप्रदाय के सेवकों ने सूरसागर का संकलन किया होगा, जिसका प्रचार लिपि-प्रतिलिपि के क्रम से अब तक होता रहा है।

'सूरसागर' नाम के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है कि भागवतोक्त लीला विषयक पदों के गायन के कारण महाप्रभु वल्लभाचार्य सूरदास को 'सूरसागर' कहा करते थे। यही नाम बाद में सूरदास रचित पदों के संकलन का भी प्रसिद्ध हो गया। सूरदास ने अपने जीवन में सहस्रों पदों की रचना की थी। संभव है उनके रचे हुए पदों की संख्या लाख-सवालाख तक पहुँच गयी हो। यह संभव नहीं है कि उनके रचे हुए समस्त पद कभी क्रमानुसार संकलित किये गये हों भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अपनी रुचि, सुविधा और सामर्थ्य के अनुसार उनका संकलन किया होगा और लिपि-प्रतिलिपि के क्रम से उनका उसी रूप में प्रचार हुआ होगा। न्यूनाधिक पदों वाली सूरसागर की भिन्न-भिन्न प्रतियाँ और उसके विभिन्न अंशों के पृथक्-पृथक् नामों से अनेक संकलन सर्वत्र उपलब्ध होने का यही कारण ज्ञात होता है।

मुद्रण की सुविधा न होने से लिपि-प्रतिलिपि के क्रम से ही सूरसागर का प्रचार हुआ है, इसलिए लिपिकार की रुचि अथवा संग्रहकर्ता की असावधानी से सूरदास नाम के कई कवियों की रचनाएँ भी सूरदास की रचनाओं में मिल गयी हैं, इसलिए सूरसागर में प्रक्षिप्त पदों की भी कमी नहीं है। कुछ आलोचकों की राय है कि सूरसागर में सूरजदास और सूरश्याम की छाप के पद प्रक्षिप्त हैं। हमको यह मत मान्य नहीं है, किंतु सूरसागर में कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं, जो काव्य की दृष्टि से अत्यंत शिथिल हैं और जो शैली एवं विषय में सूर-काव्य से भिन्नता रखते हैं। ऐसे पदों को साधारण पाठक भी प्रक्षिप्त कह सकता है, किंतु कुछ प्रक्षिप्त पद शैली और कवित्व में भी सूरदास के पदों से ऐसे मिल गये हैं कि उनको अलग करना बड़ा कठिन हो गया है।

सूरसागर के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण के बाल-लीलाओं, राधा और गोपियों के प्रति उनकी अनेक चेष्टाओं तथा गोपियों के विरह का बड़ा विशद वर्णन हुआ है। इन्हीं विषयों के वर्णन में सूरदास का मन अधिक रमा है। पुष्टि संप्रदाय की लीला-भावना और उसके मंदिरों के

† प्राचीन वार्ता रहस्य द्वितीय भाग, गुजराती विभाग, पृ० ३५ की टिप्पणी

नित्य एवं नैमित्तिक उत्सवों ने सूर-काव्य को प्रेरणा प्रदान की है। निदान सूरसगार में इसी प्रकार के पदों का प्राधान्य है।

सूरदास को महाप्रभु बल्लभाचार्य 'सागर' और गोसाईं विट्ठलनाथ 'पुष्टि-मार्ग का जहाज' कहा करते थे। वास्तव में सूरदास की अमर कृति सूरसागर काव्यामृत का अथाह समुद्र है, जिसमें कवि की अपूर्व सूक्तियों के रूप में अगणित रत्न भरे पड़े हैं।

काव्य-महत्व—

सूरदास का काव्य उनके समय में ही इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उनके समकालीन कवि, कीर्तनकार, गायक और भगवद्भक्तों में वह पूर्णतया प्रचलित था। सुप्रसिद्ध संगीत-सम्राट् तानसेन द्वारा सूरदास का एक पद गाये जाने पर ही मुगल सम्राट अकबर को उनसे मिलने की इच्छा हुई थी। सूरदास के समकालीन तानसेन और उनके कुछ समय बाद के नाभादास ने उनकी काव्य-निपुणता की मुक्त-कंठ से सराहना की है*। सूरदास की कविता इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके संबंध में अनेक प्रशंसापूर्ण सूक्तियाँ प्रचलित हो गई हैं †।

---

* किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद सुन्यौ, तन--मन धुनत सरीर॥

—तानसेन

उक्ति, चोज, अनुप्रास, वरन, अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिंबित दिव दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जन्म करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन स्रवननि करै।
सूर—कवित सुन कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥

—नाभादास

† सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास॥
तत्व-तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी॥
कविता-करता तीनि हैं, तुलसी, केसव, सूर।
कविता–खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर॥

सूरदास की कविता ब्रजभाषा साहित्य का श्रृंगार है। उनका रचित सूरसागर ब्रजभाषा साहित्य की प्रथम वास्तविक कृति होने पर भी इसमें साहित्यिक गुण प्रचुर परिणाम में मिलते हैं और इसकी साहित्यिक पूर्णता बड़े-बड़े साहित्य महारथियों को आश्चर्य और उलझन में डाल रही है। यह ग्रंथ वात्सल्य, श्रृंगार, भक्ति और विनय की अपूर्व उक्तियों के लिए आज भी अपनी तुलना नहीं रखता। सूरदास ने जिन विषयों को लिया, उन पर ऐसा अधिकार पूर्ण और विस्तार के साथ लिखा है कि उनके परवर्ती कवियों के लिए मानों उन विषयों पर लिखने के लिये कुछ रहा ही नहीं! जिन्होंने कुछ लिखा है, वे सूरदास की सूक्तियों के प्रभाव से अपने को कठिनता से बचा सके हैं। अधिकांश कवियों की तत्संबंधी अनूठी उक्तियाँ वास्तव में सूरदास से उधार ली हुई हैं। इसी लिए ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि और काव्य-रसिक रीवाँ-नरेश महाराज रघुराज सिंह अन्य कवियों की कविता को सूरदास की जूठन बतलाते हैं§।

सूरदास ने वात्सल्य और श्रृंगार का ऐसा अपूर्व और पूर्ण वर्णन किया है कि पाठक उसमें तन्मय हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की बाल-लीला तथा नंद और यशोदा की मानसिक वृत्तियों एवं चेष्टाओं का ऐसा स्वाभाविक वर्णन हुआ है कि वात्सल्य भाव के उदाहरण के लिए वह संसार भर के साहित्य में बेजोड़ रचना है। उन्होंने संयोग और विप्रलंभ दोनों प्रकार के श्रृंगार को बड़ी सफलता पूर्वक गाया है। संयोग श्रृंगार में रस का पूर्ण परिपाक होने के कारण वासना की सामग्री भी अनायास आ गयी है, किंतु कुरुचि उत्पादक अश्लीलता कहीं देखने को भी नहीं मिलती। वासना की सामग्री भी कलापूर्ण ढंग से ऐसी सुंदरता पूर्वक सजायी गयी है कि मन उसके सौंदर्य में ही रमता है, वासना में भटकता नहीं। श्रृंगार के सरस से सरस वर्णन पढ़ने पर भी हृदय पर यही प्रभाव पड़ता है कि हम अपने उपास्य देव का अलौकिक और दिव्य वर्णन पढ़ रहे हैं। विप्रलंभ श्रृंगार के वर्णन में तो कवि ने अपनी समस्त प्रतिभा को मानों केन्द्रित सा कर दिया है। इस प्रकार की रचनाएँ भ्रमरगीत के अंतर्गत हैं। गोपियों के विरह-वर्णन में वियोग की समस्त दशाओं का ऐसा मार्मिक वर्णन हुआ है, जिसे पढ़कर पत्थर का कलेजा भी पिघल जाता है!

---

§ 'रघुराज' और कविगन की अनूठी उक्ति,
मोहिं लगै झूठी, जानि जूठी सूरदास की॥

काव्य-संग्रह

विनय—

बंदौं चरन सरोज तिहारे।
जे पद-पदुम सदासिव के धन, सिंधु-सुता उर तें नहिं टारे॥
जे पद-पदुम परसि भई पावन, सुरसरि-दरस कटत अघ भारे।
जे पद-पदुम परसि ऋषि-पत्नी, बलि, नृग, व्याध पतित बहुतारे॥
जे पद-पदुम रमत वृंदाबन अहि सिर धरि अगनित रिपु मारे।
जे पद-पदुम परसि ब्रज-भामिनि, सरबसु दै सुत-सदन बिसारे॥
जे पद-पदुम रमत पांडव-दल, दूत भये सब काज सँवारे।
'सूरदास' तेई पद-पंकज त्रिविध-ताप-दुख-हरन हमारे॥ १॥

★

प्रभु! मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारौ, अपने पनहि करो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलौ नीर भरौ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भये सुरसरि नाम परौ॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत 'सूरस्याम' झगरौ।
अब की बेर मोहि पार उतारौ नहिं पन जात टरौ॥ २॥

★

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनौं पन ऐसै ही बीते, केस भये सिर सेत॥
आँखिन अंध स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगाजल तज पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत॥
रामनाम बिनु क्यों छूटौगे, चंद्र गहै ज्यों केत।
'सूरदास' कछु खरच न लागत, रामनाम मुख लेत॥ ३॥

★

जो हम भले-बुरे तौ तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज बड़ाई, बिनती सुन प्रभु मेरे॥
सब तजि तुव सरनागत आयौ, निज कर चरन गहेरे।
तुव प्रताप-बल बदत न काहू, निडर भये वर चेरे॥
और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरि कृपा तें पाये सुख जु घनेरे॥ ४॥

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल !
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ॥
महा मोह के नुपूर बाजत, निंदा सब्द रसाल ।
भरम भरयौ मन भयौ पखावज, चलत कुसंगत चाल ॥
तृस्ना नाद करत घट भीतर, नाना विधि दै ताल ।
माया कौ कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दै भाल ॥
कोटिक कला काँछि देखराई, जल-थल सुध नहिं काल ।
'सूरदास' की सबै अविद्या, दूरि करो नंदलाल ॥५॥

★

जनम सिरानौ अटकैं-अटकैं ।
राज-काज, सुत-वित की डोरी, बिनु विवेक फिरयौ भटकैं ॥
कठिन जु गाँठ परी माया की, तोरी जाति न झटकैं ।
ना हरि-भगति, न साधु-समागम, रह्यौ बीच ही लटकैं ॥
ज्यों बहु कला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कैं ।
'सूरदास' सोभा क्यों पावै पिय विहीन धनि मटकैं ॥६॥

★

सुने री मैंनें निर्बल के बल राम ।
पिछली साख भरूँ संतन की, अड़े सँवारे काम ॥
जब लगि गज बल अपनौ बरत्यौ, नैंक सरयौ नहिं काम ।
निर्बल ह्वै बल राम पुकारयौ, आये आधे नाम ॥
द्रुपद-सुता निर्बल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम ।
दुःसासन की भुजा थकित भई, बसनरूप भये स्याम ॥
अप-बल, तप-बल और बाहु-बल, चौथौ है बल दाम ।
'सूर' किसोर-कृपा तें सब बल, हारे कों हरि-नाम ॥७॥

★

छाँड़ि मन, हरि—बिमुखन कौ संग ।
जिनके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग ।
कहा होय पय पान कराये, विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहिं कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हवाये गंग ॥
खर कौ कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन अंग ।
गज कौ कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग ॥
पाहन पतित बाँस नहीं बेधत, रीतो करत निषंग ।
'सूरदास' खल कारी कामरि, चढ़त न दूजौ रंग ॥८॥

आछौ गात अकारथ गारयौ ।
करी न प्रीति कमल-लोचन सों, जनम जनम ज्यों हारयौ ॥
निस-दिन विषय-विलासन विलसत, फूटि गई तव चारयौ ।
अब लाग्यौ पछितान पाइ दुख, दीन दई कौ मारयौ ॥
कामी कृपन कुचालि कुदरसन, को न कृपा करि तारयौ ।
तातें कहत दयालु देव पुनि, काहै 'सूर' विसारयौ ॥ ९ ॥

*

मेरौ मन अनत कहाँ सचु पावै ।
जैसैं उड़ि जहाज कौ पंछी, फिरि जहाज़ पै आवै ॥
कमलनैन कों छाँड़ि महाधम, और देव कों ध्यावै ।
परम गंग को छाँड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील फल भावै ।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥१०॥

*

रे मन मूरख, जनम गँवायौ ।
करि अभिमान विषय-रस राच्यौ, स्याम सरन नहिं आयौ ॥
यह संसार सुवा सेंमर ज्यों, सुंदर देखि भुलायौ ।
चाखन लाग्यौ रुई उड़ि गई, हाथ कछू नहिं आयौ ॥
कहा होत अब के मन सोचै, पहिलैं पाप कमायौ ।
कहत 'सूर' भगवंत-भजन विनु, सिर धुनि-धुनि पछतायौ ॥११॥

*

हरि विन कोऊ काम न आयौ ।
इहि माया झूठी प्रपंच लगि, रतन सौ जनम गँवायौ ॥
कंचन कलस विचित्र रोपि कैं, रचि-पचि भवन बनायौ ।
ता में तें ततछन ही काढ्यौ, पल भर रहन न पायौ ॥
हौं तेरे ही संग जरौंगी, यह कहि तिया धूति धन खायौ ।
चलत रही चित चोर मोर मुख, एक न पग पहुँचायौ ॥
बोलि बोलि सुत स्वजन मित्रजन, लीन्यौ सुजस सुहायौ ।
परयौ काज जब अंत की बिरियाँ, कोऊ न आनि छुड़ायौ ॥
आसा करि करि जननी जायौ, कोटक लाड़ लड़ायौ ।
तोरि लयो कटि हू कौ डोरा, ता पर बदन जरायौ ॥
पतित-उधारन गनिका-तारन, सो मैं सठि बिसरायौ ।
लियौ न नाम कबहू धोखे हूँ, 'सूरदास' पछितायौ ॥१२॥

बाल-लीला—

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै॥
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहै न आन सुवावै।
तू काहै न वेगि सी आवै, तोकौं कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै॥
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख 'सूर' अमर-मुनि दुरलभ, सो नँद-भामिनि पावै॥१३॥

*

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद के आँगन बिंब पकरिबैं धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक-भूमि पर कर-पग छाया, यह उपमा इक राजत।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजत॥
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि 'सूर' के प्रभु कौं दूध पियावति॥१४॥

*

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु तनु मंडित, मुख दधि लेप किए॥
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनौं मत्त मधुप गन, मादक मधुहिं पिए॥
कठुला कंठ, बज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य 'सूर' एकौ पल या सुख, का सत कल्प जिए॥१५॥

*

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कै पानि गहावति, डगमगाइ धरनी धरै पैया॥
कबहुँक सुंदर बदन बिलोकति, उर आनँद भरि लेति बलैया।
कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया॥
कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति, इहिं आँगन खेलौ दोउ भैया।
'सूरदास' स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नँदरैया॥१६॥

कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी ।
जो मन में अभिलाष करति ही, सो देखति नँद घरनी ॥
रुनुक-झुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मन-हरनी ।
बैठि जात पुनि उठत तुरतहीं, सो छबि जाइ न बरनी ॥
ब्रज-जुवती सब देखि थकित भईं, सुंदरता की सरनी ।
चिरजीवहु जसुदा कौ नंदन, सूरदास कौं तरनी ॥१७॥

*

भीतर तें बाहर लौं आवत ।
घर आँगन अति चलत सुगम भए, देहरि में अँटकावत ।
गिरि-गिरि परत, जात नहिं उलँघी, अति स्रम होत नघावत ॥
अहुँठ पैग बसुधा सब कीन्ही, धाम अवधि बिरमावत ॥
मन हीं मन बलबीर कहत हैं, ऐसे रंग बनावत ।
'सूरदास' प्रभु अनगित-महिमा, भगतन कैं मन भावत ॥१८॥

*

आँगन स्याम नचावहीं, जसुमति नँदरानी ।
तारी दै-दै गावहीं, मधुरी मृदु बानी ॥
पाइनि नूपूर बाजई, कटि किंकिनि कूजै ।
नान्हीं एड़ियनि अरुनता, फल-बिंब न पूजै ॥
जसुमति गान सुनै स्रवन, तब आपुन गावै ।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै ॥
केहरि-नख उर पर रुरै, सुठि सोभाकारी ।
मनौ स्याम घन मध्य में, नव ससि-उजियारी ॥
गभुआरे सिर केस हैं, बर घूँघरवारे ।
लटकन लटकत भाल पर, बिधु मधि गन तारे ॥
जसुमति सुतहिं नचावई, छबि देखति जिय तें ।
'सूरदास' प्रभु स्याम कौ, मुख टरत न हिय तें ॥१९॥

*

दोउ भैया मैया पै माँगत, दै री मैया, माखन रोटी ।
सुनत भावती बात सुतनि की, झूठहिं धाम के काम अगोटी ॥
बल जू गह्यौ नासिका-मोती, कान्ह कुवँर गही दृढ़ करि चोटी ।
मानौ हंस मोर भष लीन्हे, कवि उपमा बरनै कछु छोटी ॥
यह छबि देखि नंद मन आनँद, अति सुख हँसत जात हैं लोटी ।
'सूरदास' मन मुदित जसोदा, भाग बड़े, कर्मनि की मोटी ॥२०॥

हरि अपनैं आँगन कछु गावत ।
तनक-तनक चरननि सौं नाँचत, मन हीं मनहिं रिझावत ॥
बाहँ उठाइ काजरी-धौरी, गैयन टेरि बुलावत ।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर में आवत ॥
माखन तनक आपनैं कर लै, तनक-बदन में नावत ।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिए खवावत ॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत ।
'सूर' स्याम के बाल-चरित, नित-नित ही देखत भावत ॥२१॥

*

बलि-बलि जाउँ मधुर सुर गावहु ।
अबकी बार मेरे कुँवर कन्हैया, नंदहिं नाँचि दिखावहु ॥
तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु ।
आन जंतु-धुनि सुनि कत डरपत,मो भुज कंठ लगावहु ॥
जनि संका जिय करौ लाल मेरे, काहे कौं भरमावहु ।
बाहँ उचाइ कालिह की नाईं, धौरी धेनु बुलावहु ॥
नाँचहु नैंकु, जाउँ बलि तेरी, मेरी साध पुरावहु ।
रतन-जटित किंकिनि पग-नूपुर, अपनैं रंग बजावहु ॥
कनक-खंभ प्रतिबिंबित सिसु इक,लवनी ताहि खवावहु ।
'सूर' स्याम मेरे उर तें कहुँ, टारे नैंकु न भावहु ॥२२॥

*

बिहरत बिबिध बालक-संग ।
डगनि डगमग पगनि डोलत, धूरि-धूसर अंग ॥
चलत मग, पग बजति पैजनि, परसपर किलकात ।
मनौ मधुर मराल-छौना, बोलि बैन सिहात ॥
तनक कटि पर कनक-करधनि, छीन छबि चमकाति ।
मनौ कनक कसौटिया पर, लीक सी लपटाति ॥
दुर दमंकत सुभग स्रवननि, जलज जुग डहडहत ।
मनहुँ बासव बलि पठाए, जीव-कवि कछु कहत ॥
ललित लट छिटकाति मुख पर, देति सोभा दून ।
मनु मयंकहिं अंक लीन्हौ सिंहिका कैं सून ॥
कबहुँ द्वारैं दौरि आवत, कबहुँ नंद-निकेत ।
'सूर' प्रभु कर गहति ग्वालिनि, चारु-चुंबन हेत ॥२३॥

देखि माई हरि जू की लोटनि ।
यह छबि निरखि रही नँदरानी, अँसुवा ढरि-ढरि परत करोटनि ।।
परसत आनन मनु रबि-कुंडल, अंबुज स्रवत सीप-सुत-जोटनि ।
चंचल अधर, चरन-कर चंचल, मंचल अंचल गहत बकोटनि ।।
लेति छुड़ाइ महरि कर सौं कर, दूरि भई देखति दुरि ओटनि ।
'सूर' निरखि मुसुकाइ जसोदा, मधुर-मधुर बोलति मुख होटनि ।।२४।।

*

जसुमति लै पलिका पौढ़ावति ।
मेरौ आजु अतिहिं बिरुझानौ, यह कहि-कहि मधुरैं सुर गावति ।।
पौढ़ि गई हरुऐं करि आपुन, अंग मोरि तब हरि जँभुआने ।
कर सौं ठोंकि सुतहिं दुलरावति, चटपटाइ बैठे अतुराने ।।
पौढ़ो लाल, कथा इक कहिहौं, अति मीठी, स्रवननि कौं प्यारी ।
यह सुनि 'सूर' स्याम मन हरषे, पौढ़ि गए हँसि देत हुँकारी ।।२५।।

*

जागिए गोपाल लाल, आनंद-निधि नंद-बाल,
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयौ प्यारे ।
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
मदन ललित बदन उपर कोटि वारि डारे ।।
उगत अरुन, बिगत सर्वरी,ससांक किरन-हीन,
दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे ।
मनौ ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-बिलास,
आस-त्रास-तिमिर तोष-तरनि-तेज जारे ।।
बोलत खग-निकर मुखर,मधुर होइ प्रतीति सुनो,
परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम बारे ।
मनौ बेद बंदीजन, सूत-वृंद मागध-गन,
बिरद बदत जै जै जै जैति कैटभारे ।।
बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज-चंचरीक,
गुंजत कलकोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे ।
मानौ बैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिहाइ,
प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे ।।
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल-जाल, दुख-कदंब टारे ।
त्यागे भ्रम-फंद द्वंद, निरखि कै मुखारबिंद,
'सूरदास' अति अनंद, मेटे मद भारे ।।२६।।

गोपाल दुरे हैं माखन खात ।
देखि सखी सोभा जु बनी है, स्याम मनोहर गात ॥
उठि अवलोकि ओट ठाढ़े ह्वै, जिहि विधि हौं लखि लेत ।
चकृत बदन चहुँ दिसि चितवत, औ सखन कों देत ॥
सुंदर कर आनन समीप अति, राजत इहि आकार ।
मनु सरोज बिधु-बैर बंचि बर लिए मिलत उपहार ॥
गिरि-गिरि परत बदन तें उर पर, द्वै द्वै दधि-सुत बिंदु ।
मानहु सुभग सुधाकन बरषत, लखि गगनांगन इंदु ॥
बालबिनोद बिलोक 'सूर' प्रभु, सिथिल भईं ब्रजनारि ।
फुरै न बचन, बरजिबे कारन रहीं बिचारि बिचारि ॥२७॥

★

तेरौ लाल मेरौ माखन खायौ ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनौ ढूंढि ढँढोरि आप ही आयौ ॥
खोलि किंवार सून मंदिर में, दूध दही सब सखन खवायौ ।
छींके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन, कछु खायौ कछु लै ढरकायौ ॥
दिन प्रति हानि होत गोरस की, यह ढोटा कौने ढँग लायौ ।
'सूरदास' कहवति ब्रजनारीं, पूत अनोखौ जसुमति जायौ ॥२८॥

★

माखन खात पराये घर कौ ।
नित प्रति सहस मथानी मथिऐ, मेघ सब्द दधि माठ घमर कौ ॥
कितने अहिर जियत हैं मेरें, दधि लै बेचत मेरे घर कौ ।
नव लख धेनु दुहत हैं नित प्रति, बड़ौ भाग है नंद महर कौ ॥
ताके पूत कहावत हौ जी, चोरी करत उघारत फरकौ ।
'सूर' स्याम कितनौ तुम खैहौ, दधि माखन मेरे जहँ-तहँ ढरकौ ॥२९॥

★

मैया ! मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ ॥
देखि तुही छींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ ।
तुही निरखि नान्हें कर अपनैं, मैं कैसैं कर पायौ ॥
मुख-दधि पोंछ बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठ दुरायौ ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ ॥
बाल-विनोद मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ ।
'सूरदास' यह जसुमति कौ सुख, सिव-बिरंचि नहिं पायौ ॥३०॥

मैया ! मोहि दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोसों कहत मोल कौ लीन्हो, तोहि जसुमति कब जायौ ॥
कहा करों इहि रिस के मारैं, खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन हैं माता, को है तुम्हरो तात ॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्यामल गात ।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात ॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै ।
मोहन मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह ! बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
'सूरस्याम' मोहिं गोधन की 'सौं हौं माता तू पूत ॥३१॥

*

मैया ! बहुत बुरौ बलदाऊ ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ, सब मौड़ा मिलि आऊ ॥
मोहूँ कौ चुचकारि गयौ लै, जहाँ सघन बन झाऊ ।
भागि चल्यौ कहि गयौ उहाँ तें, काटि खाइ रे हाऊ ॥
हौं डरपौं, काँपौं अरु रोवौं, कोउ नहिं धीर धराऊ ।
थरसि गरचौ, नहिं भाग सकौं, वै भागे जात अगाऊ ॥
मोसौं कहत मोल कौ लीनौं, आप कहावत साऊ ।
'सूरदास' बल बड़ौ चबाई, तैसहिं मिले सखाऊ ॥३२॥

*

खेलन अब मेरी जाइ बलैया ।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन सँग, तब खिझवत बल भैया ॥
मोसों कहत तात बसुद्यौ, औ देवकि तेरी मैया ।
मोल लियौ कछु दै करि तिन कौं, करि-करि जतन बड़ैया ॥
अब बाबा कहि कहति नंद सों, जसुमति सों कहै मैया ।
ऐसैं कहि सब मोहिं खिझावत, तब उठि चल्यौ खिसैया ॥
पाछैं नंद सुनत हे ठाड़े, हँसत-हँसत उर लैया ।
'सूर' नंद बलरामहिं घेरचौ, तब मन हरष कन्हैया ॥३३॥

*

मैया ! हौं न चरैहौं गाइ ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाँय पिराइ ॥
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ ।
यह सुनि माइ जसोदा, ग्वालहिं गारी देत रिसाइ ॥
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ ।
'सूरस्याम' मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिगाइ ॥३४॥

रूप-वर्णन — (बाल-छवि)

छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख-ज्योती मोती मानों कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलै, ठुमक-ठुमक डोलै,
झुनुक-झुनुक बाजै पैंजनी मृदु मुखर॥
किंकनी कलित कटि, हाटक रतन जटि,
मृदु कर कमलनि पहुँची रुचिर वर।
पियरी पिछौरी झीनी, और उपमा न भीनी,
बालक दामिनि मानों ओढ़ै बारों बारिधर॥
उर बघनहाँ, कंठ कठुला, झँडूले बार,
बेनी लटकन, मसि-बिंद मुनि मनहर।
अंजन रंजित नैंन, चितवनि चित चोरै,
मुख-सोभा पर वारों अमित असम-सर॥
चुटुकि बजावति, नँचावति जसोदा रानी,
बाल-केलि गावत, मल्हावति प्रेम-भर।
किलकि-किलकि हँसै, द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसैं,
'सूरदास' मन बसै, तोतरे वचन वर॥३५॥

*

सुभग साँवरे गात की मैं सोभा कहत लजाऊँ।
मोर-पंख सिर मुकुट की मुख-मटकनि की बलि जाऊँ॥
कुंडल लोल कपोलनि झाँईं, बिहँसनि चितहिं चुरावै।
दसन-दमक मोतिन लर ग्रीवा सोभा कहत न आवै॥
उर पर पदिक कुसुम-बनमाला, अँग धुकधुकी विराजै।
चित्रित बाहु, पहुँचियाँ पहुँचैं, हाथ मुरलिका छाजै॥
कटि पट पीत, मेखला मुकुलित, पाँइन नूपुर सोहै।
आस-पास उर ग्वाल मंडली, देखत त्रिभुवन मोहै॥
सब मिलि आनँद-प्रेम बढ़ावत, गावत गुन गोपाल।
यह सुख देखत स्याम-संग कौ, 'सूरदास' सब ग्वाल॥३६॥

*

हरि जू की बालि-छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि मनोज-सोभा हरनि॥
भुज-भुजंग, सरोज नैननि, बदन बिधु जित लरनि।
रहे बिवरनि सलिल नभ, उपमा अपर दुरि डरनि॥३७॥

(नटवर-छवि)

नटवर भेष काछे स्याम।
पद-कमल नख-इंदु सोभा ध्यान पूरन काम ॥
जानु जंघ सुघर निकाई नाहिं रंभा तूल।
पीत पट काछनी मानहु जलज-केसरि झूल ॥
कनक छुद्रावली पंगनि नाभि कटि के भीर।
मनहुँ हंस रसाल पंगति रहे हैं ह्रद-तीर ॥
झलक रोमावली सोभा ग्रीव मोतिन-हार।
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली मिलि कै धार ॥
बाहुदंड बिसाल तट दोउ अंग चंदन रैंन।
तीर तरु बनमाल की छवि ब्रज जुवति सुख दैंन ॥
चिबुक पर अधरन दसन-दुति बिंब बीजु लजाइ।
नासिका सुक, नैंन खंजन, कहत कवि सरमाइ ॥
स्रवन कुंडल कोटि रवि छवि भृकुटि काम कोदंड।
'सूर' प्रभु हैं नीम के तर सिर धरैं स्रीखंड ॥३८॥

★

(मदनमोहन-छवि)

मोहन-बदन बिलोकत अँखियनि, उपजत है अनुराग।
तरनि-ताप-तलफत-चकोर गति, पिवत पियूष पराग ॥
लोचन नलिन नए राजत, रति पूरन मधुकर-भाग।
मानहु अति आनंद मिले, मकरंद पियत रितु फाग ॥
भँवरि भाग भृकुटी पर कुमकुम, चंदन-बिंदु बिभाग।
चातक सोम सक्र धनु घन में, निरखत मन बैराग ॥
कुंचित केस, मयूर-चंद्रिका-मंडल सुमन सुपाग।
मानहु मदन धनुष-सर लीन्हे बरषत है बन-बाग ॥
अधर बिंब तें अरुन मनोहर, मोहन मुरली राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन, ब्रज पर बरषन लाग ॥
कुंडल मकर कपोलनि झलकत, स्रम-सीकर के दाग।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीड़त, सोभित सरद तड़ाग ॥
नासा-तिल प्रसून पदवी पर, चिबुक चारु चित-खाग।
दाड़िम दसन मंद गति मुसुकनि मोहति सुर-नर-नाग ॥
श्री गुपाल रस-रूप भरी हैं, 'सूर' सनेह सुहाग।
ऐसौ सोभा-सिंधु बिलोकति, इन अँखियन के भाग ॥३९॥

देखो माई ! सुंदरता कौ सागर ।
बुधि, विवेक, बल पार न पावत, मगन होत मन नागर ॥
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि, कटि-पट पीत पतंग ।
चितवत, चलत, अधिक रुचि उपजत, भँवर परति सब अंग ॥
नैंन मीन मकराकृत कुंडल, भुज-बल सुभग भुजंग ।
मुक्ता-माल मिलीं मानों द्वै, सुरसरि एकै संग ॥
मोर मुकुट मनि-गन आभूषन, कटि-किंकिनि नख-चंद ।
मनु अडोल वारिधि में बिंबित, राका-उडुगन वृंद ॥
बदन चंद मंडल की सोभा, अवलोकन सुख देत ।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत ॥
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं विचारि-विचारि ।
तदपि 'सूर' तरि सकीं न सोभा, रही प्रेम पचि हारि ॥४०॥

*

देखि री देखि आनँद-कंद ।
चित्त चातक प्रेम घन, लोचन चकोरनि चंद ॥
चलित कुंडल गंड मंडल, झलक ललित कपोल ।
सुधा-सर जनु मकर क्रीड़त, इंदु डहडह डोल ॥
सुभग कर आनन समीपै, मुरलिका इहिं भाइ ।
मनों उभै अंभोज-भाजन, लेत सुधा भराइ ॥
स्याम देह दुकूल-दुति छबि, लसति तुलसी-माल ।
तड़ित घन संजोग मानों, सेनिका सुक-जाल ॥
अलक अबिरल चारु हास-बिलास भृकुटी भंग ।
'सूर' हरि की निरखि सोभा, भई मनसा पंग ॥४१॥

*

हम देखे इहिं भाँति कन्हाइ ।
सीस सिखंड, अलक बिथुरें मुख, स्रवननि कुंडल चारु सुहाइ ॥
कुटिल भृकुटि, लोचन अनियारे, सुभग नासिका राजति ।
अरुन अधर, दसनावलि की दुति दाड़िम-कन तन लाजति ॥
ग्रीव हारमुक्ता, बनमाला, बाहुदंड गजसुंड ।
रोमावली सुभग बग-पंगति, जाति नाभि ह्रद कुंड ॥
कटि पट पीत, मेखला कंचन, सुभग जंघ जुग जान ।
चरन-कमल-नख चंद्र नहीं सम, ऐसे 'सूर' सुजान ॥४२॥

(राधा-छवि)

बरनौं श्री वृषभानु-कुमारि ।
चित दै सुनो स्यामसुंदर, छवि रति नाहीं अनुहारि ॥
प्रथमहिं सुभग स्याम बैनी की, सोभा कहौं विचारि ।
मानों फनिग रह्यौ पीवन कों, ससिमुख-सुधा निहारि ॥
कहिऐ कहा सीस सेंदुर कों, पिक तो रहीं पचिहारि ।
मानों अरुन किरनि दिनकर की, पसरीं तिमिर विदारि ॥
भृकुटी विकट निकट नैननि कैं, राजत अति बर नारि ।
मनहुँ मदन जग जीति जेर करि, राख्यौ धनुष उतारि ॥
ता बिच बनी आड़ केसर की, दीन्हीं सखिन सँवारि ।
मानों बँधी इंदु-मंडल में, रूप-सुधा की पारि ॥
चपल नैन, नासा बिच सोभा, अधर सुरंग सुढार ।
मनों मध्य खंजन सुक बैठ्यौ, लुब्ध्यौ बिंब बिचार ॥
तरिवन सुघर, अधर नकबेसरि, चिबुक चारु रुचिकारि ।
कंठसिरी, दुलरी, तिलरी पर, नहिं उपमा कहुँ चारि ॥
सुरँग गुलाब माल कुच मंडल, निरखत तन-मन वारि ।
मानों दिसि निर्धूम अगिनि करि, तप बैठे त्रिपुरारि ॥४३॥

★

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग ॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमरित-फल लाग ॥
फल पर पहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृग-मद,काग ।
खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग ॥
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताकों करत न त्याग ।
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरनि कौ बड़ भाग ॥४४॥

★

(गोपी-छवि)

जुवती अंग सिंगार सँवारति ।
बैंनी गूंथि माँग मोतिन की, सीसफूल सिर धारति ॥
गोरे भाल बिंदु सेंदुर पर, टीकौं धर्‌यौ जराउ ।
बदन चंद्र पर रवि-तारागन, मानों उदित सुभाउ ॥

सुभग स्रवन तरिवन मनि भूषित यह उपमा नहिं पार ।
मनहुँ काम रचि फंद बनाए, कारन नंदकुमार ॥
नासा-नथ-मुक्ता की सोभा, रह्यौ अधर तट जाइ ।
दाड़िम-कन सुक लेत बन्यौ नहिं, कनक फंद रह्यौ आइ ॥
दमकत दसन अरुन अधरनि तर, चिबुक डिठौना भ्राजत ।
दुलरी अरु तिलरी बँद तापर, सुभग हमेल बिराजत ॥
कुच कंचुकी हार मोतिन अरु, भुजन बिजैठे सोहत ।
डारनि चुरी करनि फुँदना जनु, कंज पास अलि जोहत ॥
छुद्र घंटिका, कटि लहँगा रँग, तन तनसुख की सारी ।
'सूर' ग्वालि दधि-बेचन निकरी, पग नूपुर धुनि भारी ॥४५॥

*

बनी ब्रजनारि सोभा भारि ।
पगनि जेहरि लाल लहँगा, अंग पँचरँग सारि ॥
किंकिनी कटि क्वनित, कंकन कर चुरी झनकार ।
हृदय चौकी चमकि बैठी सुभग मोतिन हार ॥
कंठश्री-दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंदु ।
सुभग बेंदी ललित नासा, रीझि रहे नँदनंद ॥
स्रवन पर ताटंक की छबि, गौर ललित कपोल ।
'सूर' प्रभु बस अति भए हैं, निरखि लोचन लोल ॥४६॥

*

गागरि नागरि लिएँ, पनघट तैं चली घरहिं आवै ।
ग्रीवा डोलत, लोचन लोलत, हरि के चितहिं चुरावै ॥
ठठकति चलै, मटकि मुख मोरै, बंकट भौंह चलावै ।
मनहुँ काम-सैना अँग सोभा, अंचल ध्वज फहरावै ॥
गति गयंद, कुच कुंभ किंकिनी, मनहुँ घंट घहरावै ।
मोतिन-हार जलाजल मानौं, खुमी दंत झलकावै ॥
मानहुँ चंद्र महावत मुख पर, अंकुस बेसरि लावै ।
रोमावली सुंडि तिरनीलौ, नाभि सरोवर आवै ॥
पग जेहरि जंजीरनि जकरयौ, यह उपमा कछु पावै ।
घट-जल झलकि, कपोलनि किनुका, मानौं मदहिं चुवावै ॥
बेनी डोलत दुहुँ नितंब पर, मानहुँ पूँछ हलावै ।
गज सिरदार 'सूर' कौ स्वामी, देखि-देखि सुख पावै ॥४७॥

क्रीड़ा–कौतुक—

(आँख मिचौनी)

बैठी रही कुँवरि राधा, हरि अँखियाँ मूँदी आय ।
अतिहिँ बिसाल चपल अनियारे, नहिँ पिय-पानि समाय ॥
खन खोलत, खन ढाकत नागरि, मुख रिस, मन मुसकाय ।
ज्यों मनिधर मनि छाँड़ि बहुरि फिरि, फनतर धरत छिपाय ॥
स्याम अँगुरियन, अंतर राजत, आतुर दुरि दरसाय ।
मानों मरकत मनि पिँजरनि में, बिव खंजन अकुलाय ॥
कर कपोल बिच सुभग तरौना, सोभा बढ़ी सुभाय ।
मनु सरोज द्वै मिलत सुधानिधि, बिबि रबि संग सहाय ॥
अपने पानि पकरि मोहन के, कर धर लिए छिड़ाय ।
कमल चकोर चंचरि जनु द्वै ससि, दिनकर जुरति सगाय ॥
उपमा काहि देहुँ, को लायक, देखी बहुत बनाय ।
'सूरदास' प्रभु दंपति देखत, रति सौ काम लजाय ॥४८॥

★

(गो-दोहन)

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनी पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ॥
मोहन कर तें धार चलत पय, मोहनि–मुख अति ही छवि गाढ़ी ।
मनु जलधर जल-धार वृष्टि लघु, पुनि-पुनि प्रेम-चंद पर चाढ़ी ॥
सखी संग की निरखत यह छवि, मन व्याकुल मनमथ की जाढ़ी ।
'सूरदास' प्रभु के बस भईं सब, भवन-काज तें भईं उचाढ़ी ॥४९॥

★

मोहन–कर तें दोहनि लीन्ही गोपद बछरा जोरे ।
हाथ धेनु थन बदन त्रिया तन छीर-छाछि छल छोरे ॥
आनन रहीं ललित पय छींटैं छाजत छवि तृन तोरे ।
मनु निकसे निकलंक कलानिधि दुग्ध सिंधु के बोरे ॥
दै घूँघट पट ओट नील हँसि कुँवरि मुदित मुख मोरे ।
मनौ सरद-ससि कों मिलि दामिनि घेरि लियौ घन घोरे ॥
इह विधि रहसत बिलसत दंपति हेत हियै नहिं थोरे ।
'सूर' उमँगि आनंद सुधानिधि मनौ बिलावल फोरे ॥५०॥

रास-रंग—

नृत्यत हैं दोऊ स्यामा-स्याम ।
अंग मगन पिय तें प्यारी अति, निरखि चकित ब्रजबाम ।।
तिरप लेति चपला सी चमकति, झमकत भूषन अंग ।
या छवि पर उपमा कहुँ नाहीं, निरखत विवस अनंग ।।
श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन ।
सँग ते होत नहीं कहुँ न्यारी, भये रहित अति लीन ।।
रस-समुद्र मानों उछलत भयौ, सुंदरता की खानि ।
'सूरदास' प्रभु रीझि थकित भये, कहत न कछू बखानि ।।९१।।

*

नृत्यत स्याम नाना रंग ।
मुकुटि लटकनि, भृकुटि मटकनि, धरे नटवर अंग ।।
चलत गति कटि, रुनित किंकिनि, घुंघरू झनकार ।
मनों हंस रसाल बानी अरस–परस विहार ।।
लसति कर पहुँची सो पुंजय मुद्रिका अति ज्योति ।
भाव सों भुज फिरति जब हीं, तबहिं सोभा होति ।।
कबहुँ नृत्यत नारि गति पर, कबहुँ नृत्यत आप ।
'सूर' के प्रभु रसिक की मनि, रच्यौ रास प्रताप ।।९२।।

*

गावत स्याम स्यामा रंग ।
सुघर गति नागरि अलापति, सुर धरत पिय संग ।।
तान गावत कोकिला मनों, नाद अलि मिलि देत ।
मोर संग चकोर डोलत, आप अपने हेत ।।
भामिनी अंग ओन्ह मानों, जलद स्यामल गात ।
परस्पर दोउ करत क्रीड़ा, मनहिं मनहिं सिहात ।।
कुचनि बिच कच परम सोभा, निरखि हँसत गोपाल ।
'सूर' कंचन-गिरि बिचनि मनों, रह्यौ है अंधकाल ।।९३।।

*

विहरत कुंजन कुंजबिहारी ।
खग सुक बिहँग पवन थकि थिर रह्यौ, तान अलापत जब गिरिधारी ।।
सरिता थकित, थकित द्रुम-बेली, अधर धरति मुरली जब प्यारी ।
रवि अरु ससि देखौ दोउ चोरन, संका गहि तब बदन उघारी ।।
आभूषन सब साजि आपने, थकित भई ब्रज की कुलनारी ।
'सूरदास' स्वामी की लीला, अब जोवै वृषभानु–कुमारी ।।९४।।

मुरली-महिमा—

स्याम कर मुरली अतिहि बिराजत ।
परसत अधर, सुधारस प्रगटति, मधुर-मधुर सुर बाजत ॥
लटकत मुकट, भौंह छबि मटकत, नैन-सैन अति छाजत ।
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पर, कोटि मदन छबि लाजत ॥
लोल कपोल झलक कुंडल की, यह उपमा कछु लागत ।
मानहु मकर सुधारस क्रीड़त, आप आप अनुरागत ॥
बृंदावन विहरत नँदनंदन, ग्वाल सखा सँग सोहत ।
'सूरदास' प्रभु की छबि निरखत, सुर-नर-मुनि सब मोहत ॥५५॥

*

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन री सखी ! यद्यपि नँदनंदहिं, नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पाँव ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति ।
कोमल तनु आज्ञा करवावति, कर टेढ़े ह्वै आवति ॥
भृकुटी, नयन, अधर, नासा, पुट, हम पर कोप कँपावति ।
'सूर' पास ना जानि कोप करि, धरते सीस डुलावति ॥५६॥

*

रास-रस मुरली ही तें जान्यौ ।
स्याम-अधर पर बैठि नाद कियौ, मारग चंद्र हिरानौ ॥
धरनि-जीव जल-थल के मोहे, नभ मंडल सुर थाके ।
तृन, द्रुम, सलिल, पवन गति भूले, स्रवन सब्द परयौ जाके ॥
बच्यौ नहीं पाताल, रसातल, क्रितिक उदै लौं भान ।
नारद, सारद, सिव यह भावत, कछु तन रह्यौ न सयान ॥
यह अपार रस रास उचारयौ, सुन्यौ न देख्यौ नैन ।
नारायन धुनि सुनि ललचाने, स्याम अधर सुनि बैन ॥
कहत रमा सों सुनिरी प्यारी ! विहरत हैं बन स्याम ।
'सूर' कहाँ हमकों वैसौ सुख, जो विलसति ब्रज-बाम॥५७॥

*

मुरली गति विपरीति कराई ।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यौ, राधारमन बजाई ॥
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृन धेनु ।
जमुना उल्टी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु ॥
विहवल भए नहीं सुधि काहू सुर-गंधर्व नर नारि ।
'सूरदास' सब चकित जहाँ-तहँ, ब्रज जुवतिन सुखकारि ॥५८॥

यशोदा-विलाप—

जसोदा बार-बार यों भाखै।
है ब्रज में कोउ हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै॥
कहा काज मेरे छगन मगन कों, नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक-सुत मेरे प्रान हनन कों, काल रूप ह्वै आयौ॥
बरु ए गोधन हरो कंस सब, मोहिं बंदि लै मेलौ।
इतनौ ही सुख कमल-नयन, मेरी अँखियन आगै खेलौ॥
बासर बदन बिलोकत जीवों, निसि-निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जियों कर्मबस, तौ हँसि काहि बुलाऊँ॥
कमलनैंन गुन टेरत-टेरत, अधर बदन कुम्हिलानी।
'सूर' कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नंद की रानी॥५६॥

*

मेरे कमल-नैंन प्रान तें प्यारे।
इनकौ कौन मधुपुरी बैठत, राम-कृष्न दोऊ जन बारे॥
जसुदा कहति सुनहु सफलक-सुन! मैं पय-पान जतन करि पारे।
ए कहा जानहिं सभा राज की, ए गुरुजन विप्रहु न जुहारे॥
मथुरा असुर-समूह बसत है, कर कृपान जोधा हत्यारे।
'सूरदास' स्वामी ये लरिका, इन कब देखे मल्ल अखारे॥६०॥

*

सँदेसौ देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहिं, माखन-रोटी भावै॥
उबटन तेल और तातौ जल, देखत ही भजि जात।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करिकै न्हात॥
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि-दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै है करत संकोच॥
मेरैं कुँवर कान्ह बिनु सब कछु, वैसैहिं धरयौ रहै।
को उठि प्रातकाल लै माखन, को कर नेति गहै॥
सूनें भवन, जसोदा सुत के गुन गनि सूल सहै।
नित उठि घर घेरत हीं ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै॥
जो ब्रज में आनंद हुतौ, मुनि-मनसा हू न गहै।
'सूर' स्याम स्वामी बिनु गोकुल, कौड़ी हू न लहै॥६१॥

ब्रजांगना-विरह—

बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि ! नैंनन की परतीति गई ।
उड़ि न मिले हरि संग विहंगम, ह्वै न गये घनस्याम मई ॥
यातें क्रूर कुटिल सह मेचक, वृथा मीन छबि छीन लई ।
रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई ॥
अब काहे सोचत, जल मोचत, समय गयें नित सूल नई ।
'सूरदास' याही तें जड़ भए, जब तें पलकन दगा दई ॥६२॥

*

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुजैं ।
तब ये लता लगति अति सीतल,
अब भईं विषम ज्वाल की पंजैं ॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत,
वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं ।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि,
दधिसुत-किरन भानु भईं भुँजैं ॥
ए ऊधौ ! कहियो माधव सौं,
बिरह करद कर मारत लुंजैं ।
'सूरदास' प्रभु कौ मग जोवत,
अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं ॥६३॥

*

अब या तनहिं राखि का कीजै ।
सुनि री सखी ! स्यामसुंदर बिनु,
बाँटि विषम विष पीजै ॥
कै गिरि गिरियै चढ़िकै सजनी,
स्वकर सीस सिव दीजै ।
कै दहियै दारुन दावानल,
जाय जमुन धँसि लीजै ॥
दुसह वियोग विरह माधव के,
कौन दिनहिं दिन छीजै ।
'सूरदास' प्रीतम बिनु राधे,
सोचि-सोचि मन खीजै ॥६४॥

निसि-दिन बरसत नैंन हमारे।
सदा रहत पावस रितु हम घर, जब तें स्याम सिधारे॥
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥
आँसू सलिल भए, पग थाके, बहे जात सित तारे।
'सूरदास' अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे॥६५॥

*

हरि कौ मारग, दिन प्रति जोवति।
चितवति रहति चकोर चंद्र ज्यों, सुमिरि-सुमिरि गुन रोवति।
पतियाँ पठवति मसि वहि खंडित,लिखि-लिखि मानहुँ धोवति॥
भूख न दिन, निसि नींद हिरानी, एकौ पल नहिं सोवति।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, वृथा जनम-सुख खोवति॥६६॥

*

नैंना भए अनाथ हमारे।
मदन गुपाल यहाँ तें सजनी, सुनियत दूरि सिधारे॥
वै हरि जल, हम मीन बापुरी, कैसे जियहिं नियारे।
हम चातक चकोर स्यामल घन,बदन सुधानिधि प्यारे॥
मधुबन बसत आस दरसन की, नैंन जोइ मग हारे।
'सूरज' स्याम करी पिय ऐसी, मृतक हुते पुनि मारे॥६७॥

*

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै प्रान दह्यौ॥
अलि-सुत प्रीति करि जल-सुत सों,करि मुख माँहि गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों, सनमुख बान सह्यौ॥
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यौ।
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनौ, नैंनन नीर बह्यौ॥६८॥

*

हमरैं कौन जोग-व्रत साधै।
मृग-त्वच भस्म अधारि जटा कों, को इतनौ अवराधै॥
जाकी कहूँ थाह नहिं पैयत, अगम अपार अगाधै।
गिरिधरलाल छबीले मुख पर, इते बाँध को बाँधै॥
सुनि मधुकर जिन्ह सरबस चाख्यौ,क्यों सचु पावत आधै।
'सूरदास' मानिक परिहरि कै, राखि गाँठ को बाँधै॥६९॥

हरि परदेस बहुत दिन लाए ।
कारी घटा देखि बादर की, नैंन नीर भरि आए ॥
पा लागौं तुम्ह, बीर बटाऊ ! कौन देस तें आए ।
इतनी पतिया मेरी दीजो, जहाँ स्यामघन छाए ॥
दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाए ।
'सूरदास' स्वामी जो बिछुरे, प्रीतम भए पराए ॥७०॥

★

मधुकर ! इतनी कहियहु जाय ।
अति कृस-गात भई' ये तुम बिनु परम दुखारी गाय ॥
जल-समूह बरसत दोउ आँखें, हूँकति लीन्हें नाउँ ।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीनौ, सूंघत सोई ठाउँ ॥
परति पछार खाइ छिनहीं छिन, अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहुँ 'सूर' काढ़ि डारी हैं, बारि मध्य तें मीन ॥७१॥

★

मधुकर ! कहिऐ काहि सुनाऊँ ।
हरि बिछुरत हम किते सहे हैं, जिते बिरह के घाऊँ ॥
वरु माधौ मधुबन ही रहते, कत जसुधा के आए ।
कत प्रभु गोप-भेष ब्रज धरिकैं, कत ए सुख उपजाए ॥
कत गिरि धर्यौ, इंद्र-मद मेट्यौ, कत बन रास बनाए ।
अब कहा निठुर भए अबलनि कों, लिखि-लिखि जोग पठाए ॥
तुम परबीन सबै जानत हो, तातैं यह कहि आई ।
अपनी को चालै सुनि 'सूरज', पिता-जननि बिसराई ॥७२॥

★

मधुकर ! मो मन अधिक कठोर ।
बिगसि न गयौ कुंभ काचे ज्यौं, बिछुरति नंद किसोर ॥
प्रेम-बनिज कीन्हौं हतौ, नेह-नफा जिय जानि ।
ऊधौ ! अब उलटी भई, प्रान-पूँजि में हानि ॥
जो हम प्रीति-रीति नहिं जानति, तौ ब्रजराज तजी ।
हमरे प्रेम-नेम की ऊधौ, मिलि रस-रीति लजी ॥
हम तें भली जलचरी बपुरी, अपनौ नेम निबाह्यौ ।
जल तें बिछुरि तुरत तन त्यागौ, तउ कुल जल कौ चाह्यौ ॥
अचरज एक भयौ सुन ऊधौ ! जल बिन मीन रह्यौ ।
'सूरदास' प्रभु अबधि आस लगि, मन बिस्वास गह्यौ ॥७३॥

———
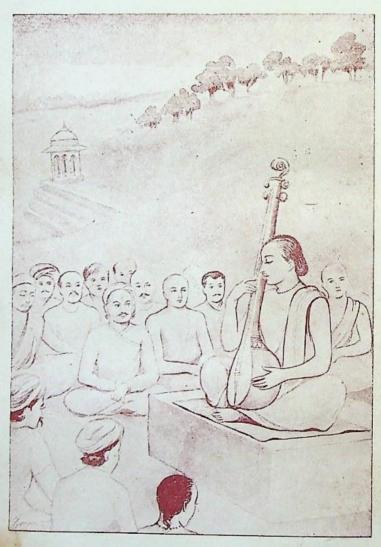
मकर संक्रांति पर प्रयाग में भजन-कीर्तन करते हुए—

परमानंददास

जन्म सं० १५५०] [देहावसान सं० १६४१

३. परमानंददास

[सं० १५५० से सं० १६४१ तक]

★

जीवन सामग्री और उसकी आलोचना—

परमानंददास का जीवन-वृत्तांत 'चौरासी वार्ता' संख्या ८३ और 'अष्टसखान की वार्ता' संख्या २ में दिया हुआ है। 'चौरासी वार्ता' में उनकी जीवनी का आरंभ तब से होता है, जब वे मकर संक्रांति के अवसर पर प्रयाग गये थे और कुछ समय बाद वहीं से वे अड़ैल जाकर महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य हुए थे। उनके आरंभिक जीवन और उनके माता-पिता का संक्षिप्त वृत्तांत हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' में दिया हुआ है।

नाभा जी कृत भक्तमाल में चार परमानंदों का उल्लेख मिलता है। इनमें से एक 'परमानंद सारंग' का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

पौगंड, बाल, कैसोर, गोप-लीला सब गाई।
अचरच कहा यह बात, हुतौ पहिलौ जु सखाई॥
नैननि नीर प्रवाह, रहत रोमांच रैन-दिन।
गदगद गिरा उदार, स्याम सोभा भीज्यौ तन॥
सारंग छाप ताकी भई, स्रवन सुनत आवेस देत।
व्रजबधू-रीति कलिजुग विषै, परमानंद भयौ प्रेम-केत॥

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि यह अष्टछाप के परमानंददास का ही है; अंतर केवल 'छाप' के संबंध में है। उनके काव्य में 'परमानंद', 'परमानंददास', 'दास परमानंद', 'परमानंद प्रभु' और 'परमानंद स्वामी' की छाप मिलती है, किंतु 'परमानंद सारंग' की छाप उपलब्ध नहीं होती है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इस संबंध में लिखा है—

"परमानंददास जी के जितने पद उपलब्ध हैं, उनमें दो तीन पदों में ही लेखक ने कवि के नाम के साथ 'सारंग' शब्द देखा है, अन्यथा सारंग शब्द पदों में नहीं आता। इतनी बात अवश्य देखने में आती है कि परमानंददास के आधे से अधिक पद सारंग राग में लिखे हुए हैं*।"

---

* अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय, पृ० ११३

भक्तमाल के सारंग शब्द का कोई भी कारण हो, किंतु उसका उपर्युक्त छप्पय अष्टछाप के परमानंददास से ही संबंध रखता हुआ ज्ञात होता है। उक्त छप्पय में नाभा जी ने उनकी भक्ति-भावना और रचना-पद्धति का ही उल्लेख किया है, किंतु उनके जीवन-वृत्तांत के संबंध में कुछ भी नहीं बतलाया है। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने भी उनका कोई वृत्तांत नहीं दिया है। ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावली' से ज्ञात होता है कि वे परमानंद सारंग को अष्टछाप का परमानंददास ही मानते हैं। ध्रुवदास ने भी उनके भक्ति-भाव और पद-गायन की प्रशंसा के अतिरिक्त उनके जीवन-वृत्तांत पर प्रकाश नहीं डाला है। उन्होंने लिखा है—

परमानंद अरु सूर मिलि, गाई सब व्रज-रीति।
भूलि जात विधि भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति॥

स्वयं परमानंददास ने अपनी रचनाओं में भी अपने संबंध में कुछ नहीं लिखा है। इस प्रकार उनके जीवन-वृत्तांत के लिए हम 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' पर ही आधारित हैं। वार्ता और भावप्रकाश में उनके जीवन से संबंधित किसी संवत् अथवा तिथि का उल्लेख नहीं हुआ है, किंतु ऐसी प्रासंगिक घटनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनके आधार पर उनकी जीवन--घटनाओं के काल--क्रम का अनुमान किया जा सकता है।

चौरासी वार्ता में परमानंददास को कन्नौज का रहने वाला कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाया गया है। यही मत सभी इतिहासकारों को भी मान्य है। पुष्टि संप्रदाय की प्राचीन पुस्तकों एवं वर्तमान इतिहास ग्रंथों से उनके जन्म संवत का पता नहीं चलता है, किंतु विद्या विभाग कांकरोली की खोज के अनुसार उनका जन्म सं० १५५० की मार्गशीर्ष शु० ७ सोमवार को हुआ था*। पुष्टि संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि वे आयु में वल्लभाचार्य जी से १५ वर्ष छोटे थे। इस मान्यता से भी उक्त संवत् की पुष्टि होती है। अन्य प्रमाणों के अभाव में हमको भी उनका यही जन्म-संवत मान्य है। वे किस संवत् में श्री वल्लभाचार्य की शरण में आये, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है, किंतु 'वल्लभ-दिग्विजय' और 'श्री द्वारिकानाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' की संगति से उनका शरण-काल सं० १५७६ सिद्ध होता है।

---

*प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, गुजराती विभाग, पृष्ठ ५३

परमानंददास के निधन संवत् का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, किंतु वार्ता से ज्ञात होता है कि उनका देहावसान सूरदास एवं कुंभनदास के पश्चात् और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पूर्व हुआ था। परमानंददास की मृत्यु पर विट्ठलनाथ जी ने कहा था कि अब दोनों 'सागर' नहीं रहे, अर्थात् सूरसागर और परमानंदसागर दोनों के रचयिता परम पद को प्राप्त हुए। इससे उनकी विद्यमानता सूरदास के पश्चात् और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के देहावसान के पूर्व तक सिद्ध है। हमने सूरदास के देहावसान का संवत् १६४० लिखा है। कुंभनदास का देहावसान भी उसी संवत् में सूरदास के पश्चात् हुआ था। गो० विट्ठलनाथ जी के लीला-प्रवेश का संवत् गत पृष्ठों में १६४२ लिखा जा चुका है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि परमानंददास का देहावसान सं० १६४१ के लगभग हुआ होगा। वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि उनका देहावसान जन्माष्टमी के दूसरे दिन सुरभी कुंड पर हुआ था, अतः उनके देहावसान की तिथि सं० १६४१ की भाद्रपद कृ० ९ मानी जा सकती है।

'चौरासी वार्ता' और 'भावप्रकाश' दोनों से ही प्रकट है कि महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के शिष्य होने के पूर्व ही वे काव्य और संगीत में निपुणता एवं प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। उनके विद्यागुरु कौन थे और किन साधनों से उन्होंने यह निपुणता प्राप्त की थी, इस विषय में उक्त ग्रंथों में भी कुछ नहीं लिखा गया है, अतः इसका प्रामाणिक विवरण देना संभव नहीं है।

वार्ता में लिखा है कि उनका विवाह नहीं हुआ था और वे युवावस्था में ही विरक्त हो गये थे। इससे ज्ञात है कि वे जीवन पर्यंत अविवाहित रहे और उन्होंने गृहस्थ जीवन का कभी उपभोग नहीं किया। गोवर्धन आने पर उन्होंने अपना शेष जीवन श्रीनाथ जी के कीर्तन और भगवद्भक्ति में लगा दिया। गोवर्धन के निकट सुरभी कुंड पर श्याम तमाल वृक्ष के नीचे उन्होंने अपना स्थायी निवास बनाया था और अंत में वहीं पर उनका देहावसान भी हुआ था।

सूरदास की तरह परमानंददास ने भी सहस्रों पदों की रचना की थी, और उनका काव्य भी उच्च कोटि का है, किंतु हिंदी सहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनके काव्य-महत्व पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। वार्ता से ज्ञात होता है कि बल्लभाचार्य जी की शरण में आने के पूर्व ही वे काव्य और गायन कलाओं में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। बल्लभाचार्य जी की आज्ञानुसार उन्होंने पहले नवनीतप्रिय जी और बाद में श्रीनाथ जी के कीर्तन स्वरूप सहस्रों

पदों की रचना की थी। वल्लभाचार्य जी के उपरांत विट्ठलनाथ जी ने उनको 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया और सदा उनके कीर्तनों की प्रशंसा करते रहे।

वार्ता के निम्न उद्धरणों से ज्ञात होता है कि अपने काव्य-महत्व के कारण सूरदास की तरह परमानंददास भी अपने जीवन काल में ही 'सागर' कहलाने लगे थे—

"तासों वैष्णव तो अनेक श्री आचार्य जी के कृपापात्र हैं, परंतु सूरदास और परमानंददास ये दोऊ 'सागर' भये। इन दोउन के कीर्तन की संख्या नांही, सो दोऊ सागर कहवाये *।"

"पुष्टिमार्ग में दोइ सागर भये। एक तो सूरदास और दूसरे परमानंददास। सो तिनको हृदय अगाध रस भगवल्लीला रूप जहाँ रत्न भरे हैं †।"

परमानंददास की आसक्ति भगवान् श्री कृष्ण की बाल-लीला में थी, अतः उन्होंने इसी विषय के अनेक पदों का गायन किया है। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' में भी 'बाल, पौगंड, किशोर कृष्ण की गोप-लीला गायन' के कारण उनकी प्रशंसा की गयी है। 'अष्टछाप' के समस्त कवियों में श्री कृष्ण की विविध लीला-गायन के कारण यद्यपि सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, तथापि किशोर-लीला गायन के लिए कुंभनदास और बाल-लीला गायन के लिए परमानंददास की भी पुष्टि संप्रदाय में ख्याति है।

परमानंददास कृत पदों के विषयानुसार वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि उन्होंने श्री कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-गमन और भ्रमर-गीत प्रसंग तक का विशेष रूप से गायन किया है। इसके अतिरिक्त वर्षोत्सव के कीर्तन स्वरूप भी उनके अनेक स्फुट पद मिलते हैं, किंतु उन्होंने सूरदास की तरह भागवतोक्त विविध प्रसंगों का कथन नहीं किया है। सूरदास की तरह उनके पदों का संग्रह भी संभवतः उनके जीवन—काल में ही होगया था, जो परमानंद-सागर' के नाम से प्रसिद्ध था। 'परमानंद सागर' की कई प्रतियाँ विद्या विभाग कांकरौली में सुरक्षित हैं। इनमें सब मिला कर प्रायः २००० पद हैं। इन प्रतियों का लेखन सं० १६४२ से १६८० के बीच में हुआ है, अतः ये प्रतियाँ परमानंददास के समय से कुछ ही बाद की होने के कारण अत्यंत प्रामाणिक हैं।

---

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' पृ० ८२

† " " " " " पृ० ५७

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

परमानंददास का जन्म सं० १५५० की मार्गशीर्ष शु० ७ सोमवार को कन्नौज में हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। वे दानादि की जीविका से अपने गृहस्थ का पालन करते थे। उनके घराने में शिष्य-सेवक बनाने की परंपरा थी, अतः इस साधन द्वारा भी उनको कुछ आय हो जाती थी।

'भावप्रकाश' से ज्ञात होता है कि एक समय कन्नौज में बड़ा दुष्काल पड़ा था। वहाँ के हाकिम ने दंडस्वरूप परमानंददास के पिता का सब द्रव्य ले लिया। उससे इनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने परमानंददास के कहा—"मैं तो अभी तक तुम्हारा विवाह भी नहीं कर पाया हूँ कि यह आपत्ति आ गयी। अब हम लोगों को बहुत सा द्रव्य एकत्रित करना चाहिए, ताकि तुम्हारा विवाह हो सके।" परमानंददास ने कहा—"आप मेरे विवाह की चिंता न कीजिए, क्यों कि मुझे अपना विवाह नहीं करना है। द्रव्य एकत्रित करना भी व्यर्थ है; क्यों कि वह फिर इसी प्रकार नष्ट हो सकता है, अतः जो कुछ साधारण आय हो; उससे अतिथि, साधु और ब्राह्मणों का सत्कार एवं भगवद्भक्ति करते हुए आप इसी प्रकार अपने जीवन का निर्वाह कीजिए।'

परमानंददास के पिता को उनकी यह बात नहीं रुची, अतः वह द्रव्योपार्जन की चिंता में देश-विदेश घूमने लगा। इधर परमानंददास भगवान् के कीर्तन और साधु-सेवा में अपने समय और द्रव्य का सदुपयोग करने लगे।

हरिराय जी के विवरण से ज्ञात होता है कि परमानंददास बचपन से ही काव्य और संगीत में बड़े निपुण थे। अपनी युवावस्था में ही वे कवि और कीर्तनकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। अपने बनाये हुए पदों को वे ऐसी उत्तम रीति से गाते थे कि श्रोतागण मुग्ध हो जाते थे। अपने काव्य और संगीत के कारण उनकी बड़ी ख्याति थी और अनेक गुणी जन सदैव उनके पास बने रहते थे। अपने इन गुणों के कारण वे 'स्वामी' कहलाने लगे और अनेक व्यक्ति उनके शिष्य-सेवक बन गये। इन शिष्यों की दी हुई भेंट से उनको यथेष्ट आय हो जाती थी, इसलिए अपनी जीविका के संबंध में वे निश्चित थे। बचपन से ही विरक्ति-भाव की ओर रुचि होने के कारण उन्होंने अपना विवाह नहीं किया। वे प्रायः २६ वर्ष की अवस्था तक कन्नौज में रहे, तब तक उनकी जीवन-चर्या का यही क्रम रहा।

प्रयाग-वास और वल्लभाचार्य जी का शिष्यत्व—

सं० १५७६ में, जब कि उनकी आयु प्रायः २६ वर्ष की थी, वे मकर संक्रांति के अवसर पर कन्नौज से प्रयाग गये । वहाँ पर उनका मन ऐसा रमा कि संक्रांति-स्नान के अनंतर वे वहीं पर रहने लगे । प्रयाग में रहते हुए भी भजन-कीर्तन संबंधी उनकी जीवनचर्या का क्रम पूर्ववत् चलता रहा, जिसके कारण वहाँ पर भी उनकी खूब प्रसिद्धि होगयी । उनके कीर्तन का आनंद लेने के लिए आस-पास से अनेक साधु और भक्त जन एकत्रित हुआ करते थे ।

जिन दिनों परमानंदस्वामी प्रयाग में थे, उन्हीं दिनों यमुना के दूसरी ओर अड़ैल नामक ग्राम में महाप्रभु वल्लभाचार्य का निवास था । वल्लभाचार्य जी के निकटवर्ती सेवकों में भी परमानंदस्वामी के कीर्तन की चर्चा थी । परमानंदस्वामी का नियम था कि वे एकादशी को रात्रि भर जागरण करते हुए भजन-कीर्तन किया करते थे । ज्येष्ठ शु० ११ की रात्रि को वल्लभाचार्य जी के निकट सेवक कपूर जलघरिया ठाकुरजी की सेवा के अनंतर परमानंदस्वामी के कीर्तन का आनंद लेने के लिए अड़ैल से प्रयाग को चल दिये । यमुना को पार करने के लिए सायंकाल के कारण कोई नाव नहीं थी, किंतु उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ी हुई थी कि वे ग्रीष्म ऋतु की उजेली रात में यमुना नदी को तैर कर पार कर गये और रात्रि भर परमानंदस्वामी के भजन-कीर्तन का आनंद लेते रहे । वल्लभाचार्यजी के सेवक कपूर जलघरिया के वहाँ पहुँचने से ही उपस्थित मंडली और परमानंददास को अड़ैल में महाप्रभु जी की उपस्थिति का ज्ञान हुआ था ।

रात्रि की समाप्ति पर कपूर जलघरिया तथा अन्य श्रोतागण अपने-अपने स्थानों को चले गये । रात्रि-जागरण के श्रम के कारण परमानंददास की आँखें कुछ समय के लिए झप गयीं और स्वप्न में उनको वल्लभाचार्य जी के पास जाने की प्रेरणा हुई । प्रातःकाल होते ही परमानंदस्वामी वल्लभाचार्य जी के दर्शनार्थ अड़ैल पहुँच गये । संध्या-वंदनादि के अनंतर वल्लभाचार्य जी ने उनसे भगवद्-यश वर्णन करने को कहा, जिस पर उन्होंने निम्न विरह का पद गाया—

जिय की साध जिय ही रही री ।
बहुरि गुपाल देखन नहीं पाए, विलपत कुंज अहीरी ॥
एक दिन सो जु सखी इहि मारग, वेचन जात दही री ।
प्रीति के लिऐं दान मिस मोहन, मेरी बाँह गही री ॥
विन देखें छिनु जात कलप सम, विरहा अनल दही री ।
'परमानंदस्वामी' विन दरसन, नैंन न नींद बही री ॥

इसी प्रकार उन्होंने और भी कई विरह के पद गाये । उनको सुन कर वल्लभाचार्य जी ने उनसे श्रीकृष्ण की बाललीला का वर्णन करने को कहा । इस पर परमानंदस्वामी ने अपनी अज्ञता प्रकट की, तब महाप्रभु जी ने उनको श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका सुनायी । परमानंदस्वामी पर वल्लभाचार्य जी का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उसी दिन उनके शिष्य होकर अड़ैल में ही रहने लगे । इस प्रकार वे सं० १५७७ की ज्येष्ठ शु० १२ को वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए और परमानंदस्वामी से परमानंददास बन गये ।

वल्लभाचार्य जी के सत्संग और उनके उपदेश के प्रभाव से उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीला के अनेक पद बनाये, जिनको वे नवनीतप्रिय जी के सन्मुख गाया करते थे । वे महाप्रभु जी से भागवत की कथा और उसकी सुबोधिनी टीका सुना करते थे । भागवत् के जिस प्रसंग का पारायण होता था, उसी पर वे पद बना कर महाप्रभु जी को सुनाते थे । वल्लभाचार्य जी उनकी पद-रचना और गायन-शैली को बड़ा पसंद करते थे । इस प्रकार वे अड़ैल में रहते हुए वल्लभाचार्य जी की एकनिष्ठ भाव से सेवा करते रहे ।

व्रज-गमन—

सं० १५८२ में जब वल्लभाचार्य जी अड़ैल से व्रज को जाने लगे, तब अन्य शिष्य-सेवकों के अतिरिक्त परमानंददास भी उनके साथ थे । मार्ग में जब वे कन्नौज पहुँचे तो परमानंददास ने महाप्रभु जी को अपने पूर्व स्थान पर ठहराया और उनका बड़ा सत्कार किया । वहीं पर उन्होंने महाप्रभु जी को निम्न लिखित पद गाकर सुनाया था—

हरि ! तेरी लीला की सुधि आवै ।
कमलनैन मनमोहनी मूरत, मन-मन चित्र बनावै ॥
एक बार जाहि मिलत मया करि, सो कैसै बिसरावै ।
मुख मुसिक्यान, बंक अवलोकन, चाल मनोहर भावै ॥
कबहुँक निबड़ तिमिर आलिंगित, कबहुँक पिक सुर गावै ।
कबहुँक संभ्रम कासि-कासि कहि, संगहीन उठि धावै ॥
कबहुँक नैन मूँदि अंतरगति, मनमाला पहिरावै ।
'परमानंद' प्रभु स्याम-ध्यान करि, ऐसैं बिरह गँमावै ॥

कहते हैं विरह के इस पद को सुन कर वल्लभाचार्य जी भावावेश में ऐसे तल्लीन हुए कि उनको मूर्च्छा आ गयी और तीन दिन तक उनको देहानुसंधान नहीं रहा !

कन्नौज में परमानंददास के जो शिष्य थे, उनको भी वल्लभाचार्य जी से दीक्षा दिला कर उन्होंने पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित करा दिया। कन्नौज से चल कर परमानंददास वल्लभाचार्य जी के साथ व्रज में आये और सर्व प्रथम गोकुल में रहे। वहाँ कुछ दिन रहने के अनंतर वे बल्लभाचार्य जी के साथ गोवर्धन गये और आचार्य जी के आदेशानुसार श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करने लगे। व्रज में आने के पश्चात् वे फिर वहीं पर रह गये और अपने शेष जीवन को उन्होंने भजन, कीर्तन एवं पद-रचना में लगा दिया।

जीवन-क्रम और देहावसान—

गोवर्धन आने पर वे सुरभीकुंड पर श्याम तमाल वृक्ष के नीचे रहा करते थे। वहीं पर रहते हुए वे प्रति दिन श्रीनाथ जी के मंदिर में जाकर कीर्तन करते थे और शेष समय में भगवद्भजन और पद-रचना किया करते थे। नवनीतप्रिय जी के दर्शनार्थ कभी-कभी गोकुल जाने के अतिरिक्त उनका अधिकांश जीवन गोवर्धन में ही व्यतीत हुआ।

सं० १६०२ में जब गो० विट्ठलनाथ जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब परमानंददास को भी उसमें स्थान दिया गया।

अंत में सं० १६४१ की जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद कृ० ६ के मध्याह्नकाल में अपने निवास स्थान सुरभीकुंड पर उन्होंने ६१ वर्ष की परिपक्व अवस्था में इस नश्वर शरीर को छोड़ कर भगवल्लीला में प्रवेश किया।

काव्य-रचना —

पहले लिखा जा चुका है कि वल्लभाचार्य जी की शरण में आने के पूर्व ही वे कवि और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर महाप्रभु वल्लभाचार्य के आदेशानुसार उन्होंने कृष्ण-लीला के पदों की रचना की थी। वे जीवन पर्यंत इसी प्रकार की रचना द्वारा नवनीतप्रिय जी और श्रीनाथ जी का कीर्तन करते रहे। उनकी कविता में 'परमानंद', 'परमानंद प्रभु', 'परमानंद स्वामी', 'परमानंददास', और 'दास परमानंद' की छाप मिलती है।

सूरदास की तरह उन्होंने भी भागवत दशमस्कंध की अनेक लीलाओं का गायन किया है। सूरदास के क्रमबद्ध लीला-गायन में प्रबंध काव्य के भी लक्षण मिलते हैं, किंतु परमानंद ने इन लीलाओं का कोई क्रम नहीं रखा है, अतः उनका काव्य मुक्तक श्रेणी का है।

परमानंद दास ने श्री कृष्ण की बाल-लीला विषयक अनेक प्रसंगों पर पद-रचना की है। उन्होंने श्री कृष्ण की बाल-स्वभाव सुलभ अनेक चेष्टाओं का अत्यंत मार्मिक कथन किया है। इस प्रकार के कथन सूर-काव्य में भी बहुतायत से मिलते हैं। ब्रजभाषा काव्य में सूर और परमानंद वात्सल्य रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। सूरदास की रचनाएँ अत्यंत प्रचलित हैं, किंतु परमानंददास की अधिकांश रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आयी हैं। उनके प्रमुख ग्रंथ 'परमानंदसागर' के विषय में भी हिंदी के गण्यमान साहित्यकारों को कोई जानकारी नहीं है, इसीलिए हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनके काव्य का उचित मूल्य नहीं आँका गया है। श्री सोमनाथ गुप्तने सूरदास की तुलना में परमानंददास के विषय में लिखा है —

"अभी तक तो सेहरा सूर के सर है। संभव है परमानंद जी का काव्य-संग्रह प्राप्त हो जाने पर विद्वानों को निर्णय करने में कुछ कठिनता हो* ।"

यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण कहा जा सकता है, क्यों कि यह निश्चित है ब्रजभाषा के किसी भी कवि की रचना सूर-साहित्य की कदापि समता नहीं कर सकेगी; फिर भी पद-रचियता भक्त कवियों में परमानंददास का स्थान महत्वपूर्ण है। 'अष्टछाप' के कवियों में भी काव्य-श्रेष्ठता की दृष्टि से सूरदास और नंददास के पश्चात् परमानंददास का ही नाम लिया जा सकता है। नंददास कृत अन्य शैलियों की रचनाएँ संभवतः परमानंददास के पद-साहित्य से कुछ बढ़ कर हैं, किंतु उनका पद-साहित्य परमानंददास के पद-साहित्य के समान नहीं है।

यद्यपि परमानंददास के काव्य का प्रधान विषय श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का गायन है, तथपि उन्होंने शृंगार-भक्ति के विविध अंगों का भी विस्तार पूर्वक गायन किया है। इस प्रकार की रचनाएँ अष्टछाप के सभी कवियों के काव्य में मिलती हैं, किंतु सूरदास, परमानंददास और नंददास की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं।

---

* 'अष्टछाप पदावली' की भूमिका, पृ० ३

परमानंददास के काव्य में शृंगार भक्ति के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का कथन हुआ है, किंतु उनके विरह के पद अत्यंत उत्कृष्ट एवं प्रभावोत्पादक हैं। उनमें भक्त हृदय की वेदना अपनी चरम सीमा पर दिखलायी देती है। महाप्रभु बल्लभाचार्य उनके विरहात्मक पदों का गायन सुन कर विह्वल हो जाते थे।

परमानंददास के रचे हुए निम्न ग्रंथ कहे जाते हैं:—

१. परमानंद सागर, २. परमानंददास जी कौ पद, ३. दानलीला, ४. उद्धव लीला, ५. ध्रुव चरित्र, ६. संस्कृत रत्नमाला।

इन ग्रंथों में केवल परमानंदसागर ही उनकी स्वतंत्र एवं प्रामाणिक रचना है। अन्य ग्रंथ या तो किसी अन्य परमानंददास के रचे हुए हैं, अथवा उनके तत्संबंधी पदों के संकलन हैं। परमानंद सागर की जो कई हस्त लिखित प्रतियाँ विद्या विभाग, कांकरौली में सुरक्षित हैं, उनके पदों को एकत्रित करने पर वे दो हज़ार से भी अधिक होते हैं।

काव्य-संग्रह

बाल-लीला—

रहि री ग्वालिन ! जोबन मदमाती।
मेरे छँगन-मँगन से लालहिं, कत लै उछंग लगावति छाती॥
खींभत तें अबहीं राखे हैं, नान्हीं–नान्हीं उठति दूध की दाँती।
खेलन दै, घर जाउ आपनें, डोलति कहा इतौ इतराती॥
उठि चली ग्वालि, लाल लागे रोवन, तब जसुमति लाई बहु भाँती।
'परमानंद' ओट दै अंचल, फिरि आई नैननि मुसिकाती॥१॥

*

हौं बारी मेरे कमल-नैन पर, स्यामसुंदर जिय भावै।
चरन-कमल की रेंनु जसोदा, लै-लै सीस चढ़ावै॥
रसन दसन धरि बालकृष्ण पर, राई–लौन उतारै।
काहू निसाचरि दृष्टि लगाई, लै–लै अंचर भारै॥
लै उछंग मुख निरखन लागी, विस्व-भार जब दीनौं।
कर तें उतरि भूमि पै राखे, इहि बालक कहा कीनौं॥
तू मेरौ ठाकुर, तू मेरौ बालक, तोहिं विस्व भर राखै।
'परमानंद' स्वामी चित चोरयौ, चिरजीवौ यों भाखै॥२॥

बाल दसा गोविंद की, सब काहूँ कों प्यारी ।
लै-लै गोद खिलावहीं, जसुमति महतारी ॥
पीत झगुलिया अति बनी, सिर कुलहैं बिराजैं ।
कर कंकन, कटि किंकिनी, पग नूपुर बाजैं ॥
मुरि-मुरि नाँचे मोर ज्यों, ब्रज-जन मन मोहैं ।
'परमानंद' प्रभु सांवरो, नंद-आँगन सोहैं ॥३॥

★

माई री ! कमल-नयन स्यामसुंदर, झूलत पलना ।
बाल-लीला गावति सब, गोकुल की ललना ॥
अरुन तरुन चरन कमल, नख मनि ससि-जोती ।
कुटिल कच भँवराकृत, लटकत लट मोती ॥
अँगुठा गहि कमल-पानि, मेलत मुख माँहीं ।
अपनौ प्रतिबिंब देखि, पुनि-पुनि मुसुकाँहीं ॥
जसोमति के पुन्य पुंज, निरखि निरखि लालैं ।
'परमानंद' प्रभु गोपाल, सुख सनेह पालैं ॥४॥

★

मैं वारी मेरे लालन, पग धरो छतियाँ ।
कमलनैन बलि जाऊँ बदन पर,
सोभित न्हाँनीं-न्हाँनी द्वै दूध की दतियाँ ।
यह मेरी, यह तेरी, यह बाबा नंद की,
यह ताकी जो झुलावै तेरौ पलना ॥
यहाँ तें चली खर-खात पीवत जल,
परहरो रुदन, हँसो मेरे ललना ।
रुनझुन-रुन बाजे पाँय पैजनियाँ,
अलबल-अल कल बोलो मृदु बनियाँ ॥
'परमानंद' प्रभु त्रिभुवन ठाकुर,
ताहि झुलावति नँद जू की रनियाँ ॥५॥

★

माई ! मीठे हरि जू के बोलना ।
पाँय पैंजनी रुनझुन बाजत, आँगन-आँगन डोलना ॥
कठुला कंठ, रुचिर पहुँची कर, पीतांबर को चोलना ।
'परमानंददास' को ठाकुर, गोपी झुलावें झूलना ॥६॥

बाल विनोद गोपाल के, देखत मोहिं भावै ।
प्रेम पुलक आनंद भरि, जसुमति गुन गावै ॥
बल समेत घन साँवरौ, आँगन में धावै ।
बदन चूँमि कोरा लिए, सुत जानि खिलावै ॥
सिव बिरंचि मुनि देवता, जाकौ अंत न पावै ।
सो 'परमानंद' ग्वालि कौं, हँसि भलो मनावै ॥७॥

★

मनिमय आँगन नंद के, खेलत दोऊ भैया ।
गौर-स्याम जोरी बनी, बल कुँवर कन्हैया ॥
नूपुर, कंकन, किंकिनी, रुनझुन-भुन बाजै ।
मोहि रही ब्रज-सुंदरी मनसा-सुत लाजै ॥
सँग-संग जसोमति रोहिनी, हितकारन मैया ।
चुटकी दै-दै नचावहीं, सुत जानि कन्हैया ॥
नील-पीत पट ओढ़नी, देखत मोहि भावै ।
बाल-लीला बिनोद सों, 'परमानंद' गावै ॥८॥

★

पीतांबर को चोलना, पहिरावति मैया ।
कनक छाप ता पर दियौ, झीनी एक तैया ॥
सूथन लाल चुनीव की, जरकसी चीरा ।
हँसुली हेम जाव की, उर राजत हीरा ॥
ठाड़ी निरखै जसोमति, फूली अंग न समाय ।
कज्जर लै बिंदुक दियौ, ब्रज-जन मुसिकाय ॥
नंद बबा मुरली दई, एक तान बजावै ।
जोई सुनै ताकौ मन हरै, 'परमानंद' गावै ॥९॥

★

बड़भागिन गोकुल की नारि ।
माखन-रोटी दै जु नँचावति, जगदाता मुख लेति पसारि ॥
सोभित बदन कमल-दल लोचन, सोभित केस मधुप अनुहारि ।
सोभित मकराकृत कुंडल छबि, सोभित मृगमद-तिलक लिलारि ॥
सोभित गात, चरन भुज सोभित, सोभित किंकिनि करत उचारि ।
सोभित नृत्य करत 'परमानंद', गोप-बधू वर भुजा पसारि ॥ १० ॥

आछौ नीकौ लौनौं मुख भोरहिं दिखाइऐ ।
निसि के उनींदे नैंन, तोतरात मीठे बैंन,
भावत हौ जी के, मेरे सुख ही बढ़ाइऐ ॥
सकल सुख-करन, त्रिविध ताप-हरन,
उर कौ तिमिर बाढ़्यौ, तुरत नसाइऐ ।
द्वारे ठाड़े ग्वाल-बाल, करऊ कलेऊ लाल,
मिस्री रोटी छोटी-मोटी, माखन सौं खाइऐ ॥
तनिक सौ मेरौ कन्हैया, वारि फेरि हारी मैया,
धैंनो तौ गुहूँ बनाय, गहरु न लाइऐ ।
'परमानंद' जन जननि मुदित मन फूली,
फूली फूली उर अंग न समाइऐ ॥११॥

*

वदन निहारति है नँदरानी ।
कोटि काम, सतकोटि चंद्रमा, कोटिक रवि बारति जिय जानी ॥
सिव-विरंचि जाकौ पार न पावत, सेष सहस्र गावत रसना री ।
गोद खिलावति महरि जसोदा 'परमानंद' किऐं बलिहारी ॥१२॥

*

तनक कनक की दोहिनी दै-दै री मैया ।
तात दुहन सिखवन कह्यौ, मोहि धौरी गैया ॥
हरि विषमासन बैठि कै, मृदु कर थन लीन्हौं ।
धार अटपटी देखि कै, व्रजपति हँसि दीन्हौं ॥
गृह-गृह से आईं जबै, देखन व्रज-नारी ।
सचकित तन-मन हरि लियौ, हँसि घोष बिहारी ॥
द्विज बुलाइ दच्छिणा दई, मंगल जस गावै ।
'परमानंद' प्रभु लाड़िलौ, सुखसिंधु बढ़ावै ॥१३॥

*

प्रात समैं सुत कौ मुख निरखत, प्रमुदित जसुमति हरषित नंद ।
दिनकर-किरन किरन मानौं बिगसत, उर प्रति अति उपजत आनंद ॥
वदन उघार जगावत जननी, जागो मेरे आनंद-कंद ।
मनहुँ पयोनिधि मथत फेंन फुट, दई दिखाई नौतन चंद ॥
जाकौं ईस सेष ब्रह्मादिक, नेति-नेति गावत श्रुति छंद ।
सो गोपाल अब श्री गोकुल में, आनँद प्रगटे 'परमानंद' ॥१४॥

ललित लाल, श्री गोपाल, सोइऐ न प्रातकाल,
जसोदा मैया लेत बलैया भोर भयौ प्यारे ।
रवि की करन प्रगट भई, उठो लाल निसा गई,
जहाँ-तहाँ दुहत धेनु गावत गुन तिहारे ॥
नंदकुमार उठे हरषि, कृपा दृष्टि सब पै बरषि,
जुगल चरन कमलन पर 'परमानंद' वारे ॥१५॥

*

बाल दसा गोपाल की, सब काहू भावै ।
जाके भवन में जात हैं, लै गोद खिलावै ॥
स्यामसुँदर-मुख निरख कै, अविरल सचु पावै ।
लाल-बाल कहि गोपिका, हँसि भलौ मनावै ॥
चुटकी दै-दै प्रेम सों, करताल बजावै ।
'परमानंद' प्रभु नाँचहीं, सिसुताहि जनावै ॥१६॥

*

दुहि-दुहि ल्यावत धौरी गैया ।
कमल नैन कों, अति भावतु है, मथि-मथि प्यावत धैया ॥
हँसि-हँसि ग्वाल कहत सब बातें, सुनु गोकुल के रैया ।
ऐसौ स्वाद, कबहू न चाख्यौ, अपनी सोंह कन्हैया ॥
मोहन अधिक भूख जो लागी, छाँक बाँट लेहु भैया ।
'परमानंददास' कों दीजे, पुनि-पुनि लेत बलैया ॥१७॥

*

भावत है बन-बन की डोलन ।
मदनगोपाल मनोहर मूरति, हे-हे धौरी धेंनु की बोलन ॥
कर पर पात, भात ता ऊपर, बीच-बीच विंजन धरि राखे ।
बाल केलि सुंदर ब्रजनायक, ग्वालिन दै-दै आपुन चाखे ॥
कहा वैभव बैकुंठ लोक कौ, भवन चतुरदस की ठकुराई ।
सिव विरंचि नारद पद वंदित, बेद उपनिषद् कीरति गाई ॥
जग्य पुरुष, लीला अवतारी, आदि-मध्य-अवसान एक-रस ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, गोकुल मंडल भक्त प्रेम-बस ॥१८॥

*

भोजन भली भांति हरि कीनों ।
खट रस बिंजन, मठा सलौनों, माँगि माँगि हरि लीनों ॥
हँसत लसत परसत नंदरानी, बाल-केलि रस भीनों ।
'परमानंद' उबरयौ सो, हँसि कै टेरि सुबल कों दीनों ॥१९॥

नैंक गुपालै दीजो टेर।
आज सवारे कियौ न कलेऊ, सुरति भई बड़ी बेर॥
ढूँढ़त फिरत जसोदा माता, कहाँ कहाँ हो डोलत।
यह कहियो, घर जाउ साँवरे, बाबा नंद तोहि बोलत॥
इतनी बात सुनत ही आए, प्रीति जु मन में जानी।
'परमानंद' स्वामी की जननी, देखि बदन मुसिक्यानी॥२०॥

*

प्रेम उमँगि बोलत नँदरानी।
अहो! श्रीदामा लै वाकूँ, किन टेरि-टेरि मधुबानी॥
भोजन बार अबार जानि कै, सुरत भई अकुलानी।
ढूँढ़त घर द्वारे लौं जाई, तन की दसा हिरानी॥
जसुमति प्रीति जानि उठि दौरे, मुख-कच रज लपटानी।
'परमानंद' नंदनंदन कों, अँखियाँ निरखि सिरानी॥२१॥

*

भोजन कों टेरत महतारी।
बल समेत चलो मेरे मोहन, बैठे नंद परोसी है थारी॥
दूध सिरात स्वाद नहीं ऐसौ, बेगि गसा कछु लेहु मुरारी।
हित-चित दै जेंवन बलि नीकें, पाछें कीजो केलि बिहारी॥
सुबल सुबाहु श्रीदामा सँग, बैठे स्याम जाउँ बलिहारी।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, जसोमति मैया करत मनुहारी॥२२॥

*

आज सवारे के भूखे हो मोहन, खाउ कछू मैं लेउँ बलैया।
मेरौ कह्यौ तू नाहीं मानत, हौं अपने बलदाऊ की मैया॥
तबहिं दौरि कंठ लाग्यौ मोहन,मेरी सौं,मेरीसौं मेरौ कन्हैया।
'परमानंद' कहत नंदरानी, अपुने आँगन खेलो दोऊ भैया॥२३॥

*

यह तौ भाग्य-पुरुष मेरी माई।
मोहन कों गोदी में लैके, जेंवत हैं ब्रजराई॥
पुचकारत, चुंबत अंबुज मुख, उर आनंद समाई।
लपटी कर लपटात थोंद पर, दूध लार लपटाई॥
चिबुक केस जब गहति किलकि कै, तब मैया मुसिकाई।
निरखि निरखि प्रति अंग माधुरी, सोभा सहज निकाई।
'परमानंद' नारद मुनि तरसत, घर बैठे निधि पाई॥२४॥

गोविंद माँगत है दधि-रोटी।
माखन सहित देहु मेरी जननी, सुघर सुकोमल मोटी॥
जो कछु माँगो देउँ मेरे मोहन, काहे कों आँगन लोटी।
कर गहि उछंग लेत महतारी, हाथ फिरावत चोटी॥
मदन गोपाल स्याम घन सुंदर, छाँड़हुँ ये मति खोटी।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, हाथ लकुटिया छोटी॥२५॥

*

जेंवत नंद गोपाल खिझावत।
पहरि पन्हैया बाबा जू की, निकट निपट डरपावत॥
ब्रजरानी बरजत गोपालै, हरैं हरैं ढिंग आवत।
बारंबार 'दास परमानंद', ऐसौ पूत बाबा जू कों भावत॥२६॥

परोसत पाहुनी त्यौनारी।
जेंमत राम-कृष्ण दोऊ भैया, बालक नंद बाबा की थारी॥
मोही मोहन कौ मुख निरखत, बिकल भई अति भारी।
भुव पर भात कुरै भई ठाढ़ी, हँसत सकल ब्रजनारी॥
कै याहि आँच अगिन की लागी, नव जोवन सकुमारी।
'परमानंद' जसोमति ग्वालिन, सैंनन डाहिर टारी॥२७॥

*

बाँटि-बाँटि सबहिंन कों देत।
ऐसे ग्वाल हरिएँ भावत हैं, सेष रहत सोई आपुन लेत॥
आछौ दूध सद्य धौरी कौ, औंटि जमायौ अपुने हाथ।
हँड़िया मूँदि जसोदा मैया, तुम कों दै पठई ब्रजनाथ॥
आनँद मगन फिरत अपने रंग, बृंदाबन कालिंदी तीर।
'परमानंददास' जूठौ लै, बांहि पसारि दियौ बलबीर॥२८॥

*

बलि गई स्याम मनोहर गात।
सुंदर बदन सुधाकर सींचत, अँचवत द्रगन अघात॥
पलक ओट जो होइ साँवरौ, कहत जसोदा मात।
छिन एक खेलन जात खिरक में, पल जुग कलप बिहात॥
भोजन आय करो दोऊ भैया, कुँवर लाड़िले तात।
'परमानंद' कहत नंदरानी, प्रेम लपेटी बात॥२९॥

क्रीड़ा-कौतुक—

गोपाल माई खेलत हैं चकडोरी ।
लरिका पाँच-सात सँग लीने, निपट साँकरी खोरी ॥
चढ़ि वर हौं री झरोखा चितयौ, सखी लियौ मन चोरी ।
बाँए हाथ बलैयाँ लीनीं, अपनौ अंचर छोरी ॥
चारों नयन मिले जब सन्मुख, रसिक हँसे मुख मोरी ।
'परमानंददास' रतिनागर, चितै लई रति जोरी ॥३०॥

*

गोपाल माई ! खेलत हैं चौगान ।
ब्रज-कुमार बालक संग लीने, वृंदावन मैदान ॥
चंचल बाजि नँचावत आवत, होड़ लगावत पान ।
सब जित रहत तहाँई चलावत, करत बबा की आन ॥
करत न संक, निसंक महाबलि, हरत नृपति-कुल मान ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, गुन-आनंद-निधान ॥३१॥

*

गोपाल फिरावत हैं बंगी ।
भीतर भवन भरे सब बालक, नाना विधि बहुरंगी ॥
सहज सुभाव डोरि खेंचत हैं, लेत उठाय कर पै कर संगी ।
कबहुँक कर लौ स्रवन सुनावत, नाना भाँतिक अधिक सुरंगी ॥
कबहुँक डार देत मुख में मुख, मुखहिं बजावत जंगी ।
'परमानंद' स्वामी मनमोहन, खेल सरचौ चले सब संगी ॥३२॥

*

बने बन आवत मदन गोपाल,
नृत्यत, हँसत, हँसावत, किलकत, संग मुदित ब्रजबाल ॥
बेनु, मुरझ, उपचंग, चंग मुख, चलत विविध सुर-ताल ।
बाजे अनेक बेनु-रव सों मिलि, रनित किंकिनी-जाल ॥
जमुना-तट के निकट बंसीबट, मंद समीर सुढाल ।
राका-रजनी, बिमल सरद-ससि, क्रीड़त नँद कौ लाल ॥
स्याम सघन-तन कनक पीत पट, उर लंबित बनमाल ।
'परमानंद' प्रभु रसिक-सिरोमनि, चंचल नैंन विसाल ॥३३॥

माखन-लीला—

जसोदा बरजत काहे न माई ।
भाजन फोरि दही सब खायौ, बातें कही न जाई ॥
हौं जो गई ही खरिक आपुनें, जैसे आँगन में आई ।
दूध दही की कींच मची है, दूर तें देख्यौ कन्हाई ॥
तब अपने कर सौं गहि–गहि हौं, तुम हीं पै लै आई ।
'परमानंद' भाग्य गोपी कौ, प्रगट प्रेमनिधि पाई ॥३४॥

*

जसोदा चंचल तेरौ पूत ।
आनंद्यौ ब्रज भीतर डोलै, करै अटपटौ सूत ॥
दह्यौ दूध घृत लै आगै करि, जहाँ–जहाँ धरौं दुराई ।
अधिअरि घर कोऊ ना जानैं, तहाँ पहले ही जाई ॥
गोरस के सब भाजन फोरे, माखन खाय चुराई ।
लरिकन के कर कान मरोरै, तहाँ तें चलै पराई ॥
बाँटि देत बनचरन कौतुकी, करै विनोद बिचारि ।
'परमानंद' प्रभु गोपी वल्लभ, भावै मदन मुरारि ॥३५॥

*

भाज गयौ मेरौ भाजन फोरि ।
कहा कहौं सुनि मात जसोदा, अरु खायौ माखन सब चोरि ॥
लरिका सात–पाँच संग लीन्हें, रोकैं रहत गाँव की खोरि ।
मारग में कोऊ चलन न पावत, लेत दोहिनी हाथ मरोरि ॥
समुझि न परै रीति ढोटा की, रात दिवस गोरस ढंढोरि ।
आनँद फिरत फागु सौं खेलत, तारी देत हँसत मुख मोरि ॥
को यह कुँवर, कौन कौ ढोटा, सब ब्रज बाँध्यौ प्रेम की डोरि ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, लेत बलैयाँ अंचर छोरि ॥३६॥

*

ढोटा रंचक माखन खायौ ।
काहे कौ दरद होत ग्वालिनिया, सब ब्रज गाज हलायौ ॥
जाकौ जितनौं तुम जानति हौ, दूनौ मोपै लेहु ।
मेरौ कान्ह इहै इकलौतौ, सब असीस मिलि देहु ॥
कमल नैन मेरौ अँखियन तारौ, कुल दीपक ब्रज गेहु ।
'परमानंद' कहत नँदरानी, सुत प्रति अधिक सनेहु । ३७॥

तेरी सौं सुनि-सुनि री मैया।
याके चरित्र तू नहिं जानें, बोलि बूझि संकर्षन भैया॥
ब्याई गाय बछरुआ चाटत, हौं पीवत हो प्रात खन धैया।
याहि देखि धौरी बिझकानी, मारन कौं दौरी मोहि गैया॥
द्वै सींगन के बीच परयौ मैं, तहाँ रखवारो कोऊ न हैया।
तेरौ पुन्य सहाय भयौ है, अब उबरयौ बाबा नंद दुहैया॥
ये जोऊ बाटि परी ही मोपै, भाजि चली कहि दैया-दैया।
'परमानंद' स्वामी की जननी, उर लगाइ हँसि लेत बलैया॥३८॥

★

ग्वालिनि तोपै ऐसौ क्यों कहि आयौ।
मेरौ घर-घर जाय स्यामघन, ताही तें दोष लगायौ॥
घर कौ माखन दूध न भावै, तेरौ दह्यौ क्यों खायौ।
वारि डारों कोटि तोसी त्रिया कौं, जिन मेरौ लाल खिझायौ॥
कटुक बचन सुनि ग्वालिनी डोली; हरि सों नेह बढ़ायौ।
'परमानंद' प्रभु बत-रस अटकी, घर कौ काज बिसरायौ॥३९॥

★

अरी मेरौ तनक सौ गोपाल, कहा करि जानै दधि की चोरी।
काहे कौं आवत हाथ नँचावत, जीभ न करि हौ थोरी॥
कब छींके तें माखन खायौ, कब दधि मटुकी फोरी।
अँगुरियन कहि-कहि कबहुँ न चाखत, घर हीं भरी कमोरी॥
इतनी बात सुनी तब ग्वालिनि, बिहँसि चली मुख मोरी।
'परमानंद' नंदरानी के सुत सों, जो कछु कहै सो थोरी॥४०॥

★

मोहन ! मान मनायौ मेरौ।
हौं बलिहारी कमल नैन की, नैंक चितै मुख फेरौ॥
माखन खाउ, लेउ मुख मुरली, ग्वालन-बालन टेरौ।
जोरी करिकै जोर, आपनी न्यारी गैया घेरौ॥
कारौ कहि-कहि मोहि खिजावत, नहिं बरजत बल अधिक अनेरौ।
इंद्र नीलमनि सों तन सुंदर, कहा जानै बल चेरौ॥
मेरौ सुत सिरताज सबन कौ, सबतें कान्ह बड़ेरौ।
'परमानंद' भोर भयौ, गावैं बिमल बिसद जस तेरौ॥४१॥

दान-लीला— रंचक चाखन दै री दह्यौ ।
अदभुत स्वाद स्रवन सुनि, मोपै नाँहिन जात रह्यौ ॥
ज्यौं-ज्यौं कर-अंबुज उर डाँपत, त्यौं-त्यौं मरम लह्यौ ।
नंदकुमार छबीलौ ढोटा, अंचल धाय गह्यौ ॥
हरि हठ करत 'दास परमानँद', इहि मैं बहुत सह्यौ ।
इन बातन खायौ चाहत हौ, सैंत न जात वह्यौ ॥४२॥

*

मैं तोसौं केती बार कह्यौ ।
इहिं मारग एक सुंदर ढोटा, बरबस लेत दह्यौ ॥
इत उत सघन कुंज गहवर तकि, मारग रोक रह्यौ ।
अति कमनीय अंग छबि निरखत, नैंक न परत रह्यौ ॥
लोचन सुफल होत पल निरखत, बिरह न जीति सह्यौ ।
'परमानंद' प्रभु सहज माधुरी, मनमथ मान ढह्यौ ॥४३॥

गोरस कहाँ दिखावन आई ।
इतनौ करवायौ नंद जू के ढोटा, बदलौ लेहु मेरी माई ॥
जैसी कीनीं तुमहीं कन्हैया, मंदिर तें उठि धाई ।
पाँच सखी मिलि देत उराहनौं, इहि तेरी कौन बडाई ॥
सुंदर कान्ह छबीलौ नागर, ह मिस देखन आई ।
'परमानंद' स्वामी कों मिलिकै, रहसि चली मुसकाई ॥४४॥

*

मटुकी लौ जु उतारि धरी ।
इन मोहन मेरौ अँचरा पकरयौ, तब हौं बहौत डरी ॥
मोपै दान साँवरौ माँगै, लीने हाथ छरी ।
मोही कों तुम गहि जु रहे हो, संग की गईं सगरी ॥
पैयाँ लागि करत हौं बिनती, दुहूँ कर जोर खरी ।
'परमानंद' प्रभु दधि बेचन की, बिरियाँ जात टरी ॥४५॥

*

करत कित कमल-नैन सौं झगरौ ।
दान देहु घर जाहु सयानी, छाँडि द्यो कान्ह अचगरौ ॥
तातौ सियरौ मैं न जमायौ, औंटि जमायौ सगरौ ।
नैंकु छुवन दे राज कुँवर कों, कबहुँ न लैहै अगरौ ॥
मोहनलाल गोबरधन-धारी, अबलन मांझ नवलरौ ।
'परमानंद' प्रभु बत-रस अटकी, भूलि गयौ ब्रज-डगरौ ॥४६॥

प्रेमासक्ति—

हौं तकि लागि रही री माई ।
जब गृह तें दधि लैके निकस्यौ, तब मैं बाँह गही री माई ।।
हँसि दीन्हों मेरी मुख चितयौ, मीठी सी बात कही री माई ।
ठगि जु रही चेटक सो लाग्यौ, परि गई प्रीति सही री माई ।।
बैठो नैंक, जाऊँ बलिहारी, लाऊँ दौर दही री माई ।
'परमानंद' सयानी ग्वालिनि, सर्बस दै निबही री माई ॥४७॥

*

जब नँदलाल नैंन भरि देखे ।
एक-टक रही, सँभार न तन की, मोहन मूरति पेखे ॥
स्याम बरन पीतांबर काछे, अरु चंदन की खोर ।
कटि-किंकिन कल सब्द मनोहर, सकल त्रियन चित-चोर ।।
कुंडल झलक परत गंडिन पर, आय अचानक निकसौ भोर ।
श्रीमुख कमल मंद मृदु मुसकनि, लेत कर्षि मन नंदकिसोर ।।
मुक्त-माल राजत उर ऊपर, चितए सखी जबै इहिं ओर ।
'परमानंद' निरखि अँग-सोभा, ब्रज-बनिता डारति तृन तोर ॥४८॥

*

माई मेरौ मोहन सों मन मान्यौ ।
मेरे नैन अरु कमलनैन कों, इकठौरौ करि सान्यौ ॥
लोक-वेद की कानि तजी मैं, न्यौती अपनैं आन्यौ ।
इक गोविंद चरन के कारन, बैर सबन सौं ठान्यौ ॥
अब क्यों भिन्न होय मेरी सजनी ! दूध मिल्यौ जैसैं पान्यौ ।
'परमानंद' मिली गिरिधर सों, है पहली पहचान्यौ ॥४९॥

*

जब तें प्रीति स्याम सों कीनीं ।
ता दिन तें मेरे इन नैननि, नैंकहुँ नींद न लीनीं ।।
सदा रहति चित चाक चढ्यौ सौ, और न कछू सुहाय ।
मन में करत उपाय मिलन कों, इहै बिचारत जाय ।
'परमानंद' प्रभु पीर प्रेम की, काहू सों नहिं कहिऐ ।
जैसे बिथा मूक बालक की, अपने तन-मन सहिऐ ॥५०॥

ग्वालिन गोरस नैंक चखाऊ।
त्यौनारी तैं औंट जमायौ, तातें कीजत भाऊ ॥
कितही बकत बेकाज काम कों, और न देत जनाऊ।
मदनगोपाल मोल दै लैहैं, तेरौ ह्वै है सबाऊ।
हाँ करिकै सकुची मुसिकानी, रूप लंपट ब्रजराऊ।
'परमानंद' नंदनंदन सों, नयौ नेह नयौ चाऊ ॥५१॥

*

हौं परभात समै उठि आई, कमल-नैन तुम्हरौ देखन मुख।
गोरस बेचन जात मधुपुरी, लाभ होत मारग पाऊँ सुख ॥
कमल नैन प्यारे करत कलेऊ, नैंक चितै मोहन कीजै रुख।
तुम सपने में मिलिकै बिछुरे,रजनी जनित कासों कहिऐ दुख ॥
प्रीति जो करी लालगिरिधर सों,प्रगट भई सब आय जनाई।
'परमानंद' स्वामी वोह नागरि, नागर सों मनसा अरुझाई ॥५२॥

*

हरि जू कौ दरसन भयौ सवेरौ।
बहुक लाभ पाऊँ री माई, दह्यौ बिकैगो मेरौ ॥
गली साँकरी एक जने की, भट्ट भयौ भटभेरौ।
दै अंक चली सयानी ग्वालिन, कमल नैन फिरि हेरौ ॥
भोर ही मंगल भयौ भट्ट री, है सब काज भलेरौ।
'परमानंद' प्रभु मिले अचानक, भव-सागर कौ बेरौ ॥५३॥

*

लाग्यौ माई! हरि नागर सों नेहरा।
जित जाऊँ तित ही नँदनंदन, करत परस्पर बेरा ॥
अब तौ जिय ऐसी बनि आई, इनैं समरप्यौं देहरा।
'परमानंद' चली भीजत ही, बरसन लाग्यौ मेहरा ॥५४॥

*

कौन मेरे आँगन ह्वै जु गयौ।
जगमग जोति बदन की माई, सपनों सौ जु भयौ ॥
हौं दधि मेलि भौंन सुन सजनी, लैनु गई जु मथानी।
कमल-नयन की नाईं चितयौ, वह मूरति मैं जानी ॥
कर नहिं चलत, देह गति थाकी, बहुत खेद मैं पायौ।
'परमानंद' प्रभु चरन-सरनगहि, रहतहिं कित गृह आयौ ॥५५॥

मैं अपनौ मन हरि सों जोरयौ, हरि सों जोरि सबन सों तोरयौ।
नाँच नच्यौ तो घूँघट कैसौ, लोक-लाज डरु फटकि पिछौरयौ॥
आगें पाछें सोच मिट्यौ सब, माँझ बाट मटुका लै फोरयौ।
कहनौ होय सो कहो सखी री, कहा भयौ काहू मुख मोरयौ॥
'परमानंद' प्रभु लोक हँसन दै, लोक-वेद ज्यों तिनका तोरयौ॥५६॥

★

मैं तौ प्रीति स्याम सों कीनीं।
कोऊ निंदौ, कोऊ बंदौ, अब तौ यह कर दीनीं॥
जो पतिव्रत तौ या ढोटा सों, इन्हें समरप्यौं देह।
जो व्यभिचार नंदनदंन सों, बाढ्यौ अधिक सनेह॥
जो व्रत गह्यौ सो और न भायौ, मर्यादा कौ भंग।
'परमानंद' लाल गिरिवर कौ, पायौ मोटौ संग॥५७॥

★

मैं मन मोल गोपालहिं दीनौं।
अंबुज बदन लाल गिरिधर कौं, रूप नैंन निरखिन कौं लीनौं॥
इन आकर्ष लियौ अपनी रुचि, उनहिं तुला धरि करकस कीनौं।
वे लै चले दुराइ जतन करि, इनहिं बीच पलकन पल छीनौं॥
अब वे पलटन देत आपतें, इनहिं कह्यौ यातें कछु हीनौं।
'परमानंद' प्रभु नंदनँदन सों, नौतन नेह विधाता कीनौं॥५८॥

★

मदनगोपाल के रंग राती।
गिरि-गिरि परत सँभार न तन की, अधर-सुधा-रस माती॥
वृंदावन कमनीय सघन बन, फूलीं चहु दिस जाती।
मंद सुगंध बहै मलयानिल, अति जुड़ात मेरी छाती॥
आनँद मगन रहत प्रीतम सँग, द्यौस न जानति राती।
'परमानंद' सुधाकर हरि-मुख, पीवत हू न अघाती॥५९॥

★

मैं तू कै बिरियाँ समुझाई।
उठि-उठि उझकि-उझकि हरि हेरति, चंचल टेव न जाई॥
छिनु-छिनु पल-पल रह्यौ न परै तब, सहचरि ओट लगाई।
कमल-नैन कौं फिरि-फिरि चितवति, लोक की लाज मिटाई॥
को प्रति-उत्तर देइ सखी कौं, गिरिधर बुद्धि चुराई।
मदनमोहन-राधा रस-लीला, कछु 'परमानंद' गाई॥६०॥

सुवा पढ़ावत सारंग-नैंनी।
बदन संकेत लाल गिरिधर सों, कथवत गुपति निपट मति कैनी ॥
अहो कीर! तुम नील बरन तन, नैंक चितै मम बुधि हरि लैनी।
होत अबेर, जाति दिन बन गृह, हम तुम भेंट होयगी रैनी ॥
जब लगि तुम गवनौ जु सघन बन, हौं जु गई जमुना-जल लैनी।
'परमानंददास' गिरिधर सों, यों मृदु बचन कहत पिक-बैनी ॥६१॥

★

बलि गई मेरी गैया दुहि दीजै।
बार-बार कहि कुँवरि राधिका, स्याम निहोरौ लीजै ॥
वह देखो घटा उठी बाहर की, बेग स्याम घर लीजै।
बूँद परै रंग फीको हुइ है, लाल चूनरी भीजै ॥
'परमानंद' स्वामी मनमोहन, कह्यौ हमारौ कीजै ॥६२॥

★

ललन! उठाय देहु मेरी गगरी।
बलि-बलि जाऊँ छबीले ढोटा, ठाढ़े देत अचगरी ॥
जमुना तीर अकेली ठाढ़ी, दूसर नाँहिन कोऊ।
जासों कहौं स्याम घन सुंदर संगहि नाहिंन कोऊ ॥
नंदकुमार नैंक ठाढ़े होइ, कछुक बात करि लीजै।
'परमानंद' प्रभु संग मिले, चलि बातन के रस भीजै ॥६३॥

★

नैंक लाल! टेकहु मेरी बहियाँ।
औघट घाट चढ्यौ नहिं जाई, रपटति हौं कालिंदी महियाँ ॥
सुंदर स्याम कमल-दल लोचन, देखि स्वरूप ग्वालि अरुझानी।
उपजी प्रीति, काम अंतर गति, तब नागर नागरि पहिचानी ॥
हँसि ब्रजनाथ गह्यौ कर-पल्लव, जब भरि गगरी गिरन न पावै।
'परमानंद' ग्वालिनी सयानी, कमल-नैन सों तन परसावै ॥६४॥

★

सहज प्रीति गोपालहिं भावै।
मुख देखै सुख होत सखी री, प्रीतम नैन सों नैन मिलावै ॥
सहज प्रीति कमलनि अरु भानुहिं, सहज प्रीति कुमुदिनि अरु चंदै।
सहज प्रीति कोकिला बसंतहिं, सहज प्रीति राधा-नँदनंदै ॥
सहज प्रीति चातक अरु स्वांतै, सहज प्रीति धरनी जल-धारै।
मन क्रम बचन 'दास परमानंद', सहज प्रीति कृष्न अवतारै ॥६५॥

रूप-माधुरी— कान्ह ! कमलदल नैन तुम्हारे ।
अरुन बिसाल बंक अवलोकनि, हठि मन हरत हमारे ॥
तिन पर बनी कुटिल अलकावलि, मानहु मधुप-झकारे ।
अतिसै रसिक रसाल रस भरे, चित तें टरत न टारे ॥
मदन कोटि, रवि कोटि, कोटि ससि, ते तुम ऊपर वारे ।
'परमानंददास' को जीवन, गिरिधर नंद-दुलारे ॥६६॥

*

कुंचित अधर पीत रज मंडित, जनु भँवरनि की पाँति ।
कमल कोस में तें ढिग बैठे, पंडुर बरन सुजाति ॥
चंद्रक चारु, मुकुट सिर सोभा, बीच–बीच मनि गुंजा ।
गोपी मोहन अभिमत मूरति, प्रगट प्रेम के पुंजा ॥
कंठ कंठमनि स्याम मनोहर, पीतांबर बन-माल ।
'परमानंद' श्रवन मनि मंगल, कूजत बेनु रसाल ॥६७॥

*

भावै मोहि माधौ की आवनि ।
बरहापीड़ दाम गुंजामनि, बेनु मधुर धुनि गावनि ॥
स्याम सुभग तन गोरज मंडित, भेष विचित्र बनावनि ।
बालक वृंद मध्य नँदनंदन, आनँद-रासि बढ़ावनि ॥
बासर अंत अनंत संग हित, नट-गति रूप दिखावनि ।
'परमानंद' गोपी मन आनंद, बिरह-ताप बिसरावनि ॥६८॥

*

राधा रसिक गोपालहिं भावै ।
सब गुन निपुन, नवल अंग सुंदर, प्रेम मुदित कोकिल स्वर गावै ॥
पहरि कुसूंमि कटाव की चोली, चंद्र-बधू सी ठाढ़ी सोहै ।
सावन मास भूमि हरियारी, मृग–नैनी देखत मन मोहै ॥
उपमा कहा देउँ को लाइक, केहरि की वाही मृगलोचनि ।
'परमानंद' प्रभु प्रान–बल्लभा, चितवनि चारु काम-सर-मोचनि ॥६९॥

*

नव रंग कंचुकी तन गाढ़ी ।
नव रंग सुरंग चूनरी ओढ़ैं, चंद्र-बधू सी ठाढ़ी ॥
नव रंग मदनगुपाल लाल सों, प्रीति निरंतर बाढ़ी ।
स्याम तमाल लाल मन लपटी, कनक-लता सी आढ़ी ॥
सब रंग सुंदर नवल किसोरी, कोक-कला गुन पाढ़ी ।
'परमानंद' स्वामी की जीवन, रस-सागर मथि काढ़ी ॥७०॥

रूपासक्ति— तुम्हारे लाल रूप पर हौं वारी।
मृग-मद तिलक, कंठ कठुला मनि, मुख मुसकानहिं प्यारी ॥
घूँघर वारे बार स्याम के, लट लटकत गज-मोती।
देखि स्वरूप नंदनंदन कौ, प्रान वारि सब जुवती ॥
कर पहुँची, हसुली गरे मोहन, पीत भगुलिआ सोहै।
'परमानंद' स्वामी ब्रजनाथहिं, देखि ब्रह्मादिक मोहै।७१॥

*

ता दिन तें मोहिं अधिक चटपटी री।
जा दिन तें देखे इन नैननि, गिरिधर बाँधे माई पाग लटपटी री ॥
चले री जात मुसिकाय मनोहर, हँसि कही एक बात अटपटी री।
हौं सुनि श्रवनि भई री अति व्याकुल, परी है हिरदै मेरे मन सटपटी री ॥
कहा री करौं गुरुजन भए बैरी, बैर परे मोसौं करत खटपटी री।
'परमानंद' प्रभु रूप विमोही, नंदनंदन सों प्रीति है जटी री ॥७२॥

*

सुंदर मुख की हौं बलि-बलि जाऊं।
गुन-निधि, सोभा-निधि, लावन्य-निधि, निरखि-निरखि जीवत सब गाऊं॥
अंग-अंग प्रति अमिय माधुरी, प्रगटत होय रुचिर ठाउ-ठाऊं।
तामें मृदु मुसकान हरत मन, साँचि कहत कवि मोहन नाऊं ॥
सखा अंग पर बाम भुजा धरि, या छवि पै बिन मोल बिकाऊं।
'परमानंद' नंदनंदन कौं, निरखि-निरखि और नैन सिराऊं ॥७३॥

*

औचकहिं हरि आय गये।
हौं दरपन लै माँग सँभारत, चारचौं हू नैना एक भये ॥
नैंक चितै मुसिक्याए जू हरि, मेरे प्रान चुराइ लये।
अब तौ भई है चोंप मिलन की, बिसरे देह-सिंगार ठये ॥
तब तें कछु न सुहाय बिकल मन, ठगी नंद-सुत स्याम नये।
'परमानंद' प्रभु सों रति बाढ़ी, गिरिधर लाल आनंद-मये ॥७४॥

*

भावै मोहि माधौ बेंनु बजावनि।
मदनगोपाल देखि हम रीझीं, मोहन की मटकावनि ॥
कुंडल लोल कपोल लोल मधु, लोचन चारु चलावनि।
कुंतल कुटिल मनोहर आनन, मीठे धेनु बुलावनि ॥
स्याम सुभग तन चंदन मंडित, उर-कर अंग नँचावनि।
'परमानंद' ठगी नँदनंदन, दसन कुंद मुसकावनि ॥७५॥

रस-रंग—

लालन संग खेलन फाग चलीं।
चोवा चंदन अगर कुमकुमा, छिरकत घोष गलीं॥
ऋतु बसंत आगम नव नागरि, जोवन भार भरीं।
देखन चलीं लाल गिरिधर कौं, नंद जू के द्वार खरीं॥
राती पीरी चोली पहरैं, नौतन झूमक सारी।
मुखहिं तंबोल नैन में काजर, देत भामती गारी॥
बाजत ताल मृदंग बाँसुरी, गावत गीत सुहाए।
नवल गोपाल, नवल ब्रज-बनिता, निकसि चौहरें आए॥
देखो आय कृष्न की लीला, बिहरत गोकुल माहीं।
कहत न बनै 'दास परमानंद', यह सुख अनत जु नाहीं॥७६॥

*

खेलत गिरिधर रँगमगे रंग।
गोप सखा बनि-बनि आए हैं, हरि हलधर के संग॥
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ, मुरली मुरज उपंग।
अपनी अपनी फेंटन भरि-भरि, लिएँ गुलाल सुरंग॥
पिचकारी नीकें करि छिरकत, गावत तान-तरंग।
उत आई ब्रज-बनिता बनि-बनि, मुक्ता फल भरि संग॥
अचरा उरसि, कंचुकी कसि-कसि, राजत उरज पतंग।
चोवा चंदन बंदन लै मिलि, भरत भामते अंग॥
किसोर-किसोरी दोउ मिलि बिहरत, इत रति, उतहिं अनंग।
'परमानंद' दोऊ मिलि विलसत, केलि-कला जू निसंग॥७७॥

*

चलो सखि! देखो नंदकिसोर।
श्री राधा सँग लीएँ बिहरत, सघन कुंज बन-खोर॥
तैसिय घटा घुमड़ि चहुँ दिसि तें, गरजत हैं घनघोर।
तैसिय लहलहात सौदामिनि, पवन चलत अति जोर॥
पीत बसन, बन-माल स्याम कैं, सारी सुरँग, तन गोर।
सदा बिहार करो 'परमानंद', सदा बसो मन मोर॥७८॥

*

पासा खेलत हैं पीय प्यारी।
पहलौ दाव पर्यौ स्यामा कौं, पीत पिछौरी हारी॥
अबकी बेर पिय मुरली लगावो, तौ खेलो संग भारी।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, [illegible] है वृषभानु-दु[illegible] ७९॥

झूलत नवलकिसोर किसोरी ।
उत ब्रजभूषन कुँवर रसिकवर, इत वृषभान-नंदिनी गोरी ॥
नीलांबर पीतांबर फरकत, उपमा घन-दामिनि छवि थोरी ।
देखि-देखि फूलत ब्रजसुंदरि, देत झुलाय गहे कर डोरी ॥
मुदित भई यों सुर मिलि गावत,किलक-किलक दै उरज अँकोरी ।
'परमानंद' प्रभु मिलि सुख बिलसत,इंद्र-वधू सिर धुनत झकोरी ॥८०॥

★

हिंडोरे झुलवति भामिनी ।
स्यामा-स्याम बराबर बैठे, सरद सुहाई जामिनी ॥
पाँच बरस के स्याम मनोहर, सात बरस की बाला ।
कमल नैन हरि के, मृग-नैनी चंचल नैन बिसाला ॥
लरिकाइन में सब ही बनत हैं, कोऊ न जानैं सूत ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, नंदराय कौ पूत ॥८१॥

★

ब्रज-बनिता मधि रसिक राधिका, बनीं सरद की राति हो ।
ततथेई ततथेई गिरिधर नागर, गौर-स्याम अँग काँति हो ॥
इक-इक गोपी, बिच-बिच माधौ, बने अनूपम भाँति हो ।
जै-जै सब्द उचारत नभ सुर, नर-मुनि कुसुम बरषत न अघात हो ॥
निरखि थक्यौ ससि आइ सीस पर,क्यों नहिं होत प्रभात हो ।
'परमानंद' मिले यहि औसर, बनी है आज की बात हो ॥८२॥

★

नीकी बानिक नवल निकुंज की ।
बरन-बरन प्रफुलित द्रुम-बेली, मधु माते अलि गुंज की ॥
करत विहार तहाँ पिय-प्यारी, संवत आनंद पुंज की ।
'परमानंद' प्रभु की छवि निरखत, मनमथ-मनसा लुंज की ॥८३॥

★

बीरी अरोगत गिरिधर लाल ।
अपने कर सों देत राधिका, मोहन-मुख में मधुर रसाल ॥
ज्यों-ज्यों रुचि उपजत उर अंतर,त्यों-त्यों परसपर करत विहार ।
कबहूँ देत दसन खंडित करि, कबहुँक हँसि करि देत उगार ॥
सखी-सहचरी सब मिलि अंतर, निरखत हिय आनंद अपार ।
जै-जै कृष्न जै-जै श्री राधे, जस गावत 'परमानंद' सार ॥८४॥

आजु नीकौ बन्यौ राग आसावरी।
मदन गोपाल बेंनु नीकौ बाजत, मोहन नाद सुनत भई बावरी ॥
बछुरा खीर पीवत थन छाँड्यौ, दंतन तृन खंडित नहिं गाव री।
अचल भए सरिता मृग पंछी, खेवट चकित चलत नहीं नाँव री ॥
कमल-नैन घनस्याम मनोहर, सब विधि अकथ कथा है रावरी।
'परमानंद' स्वामी रति-नायक, यह मुरली रस-रूप सुभाव री ॥८५॥

*

चलि तू मदन गोपाल बुलाई।
छाँड़ि विलंब मिलहु प्रीतम सौं, हठ में कौन बड़ाई ॥
वृंदावन में वंसीवट तर, बैठे कुँवर कन्हाई।
नटवर भेष धर्यौ सुर मोहित, लीला बरनी न जाई ॥
तेरे काज आप नँदनंदन, रुचि-रुचि सेज बनाई।
'परमानंद' स्वामी रति-नागर, गति में गति उपजाई ॥८६॥

*

सुनि राधे ! एक बात भली।
तू जिन डरै रैनि अँधियारी, मेरे पाछै आउ चली ॥
तहाँ लै जाउँ जहाँ मनमोहन, मैं देखी एक बंक गली।
सघन निकुंज सेज कुसुमनि रचि, भूतल आछी बिटप तली ॥
हरि की कृपा कौ मोहि भरोसौ, प्रेम चतुर चित करत अली।
'परमानंद' स्वामी कौं मिलि किन, मित्र उदै जैसे कमल-कली ॥८७॥

*

सोभित कुंजन की छवि भारी।
अद्भुत रूप तमाल सौं लपटी, कनक-बेलि सुकुमारी ॥
बदन सरोज, लहलहे लोचन, निरखि छबी सुखकारी।
'परमानंद' प्रभु मत्त मधुप हैं, श्री वृषभानु-सुता फुलवारी ॥८८॥

*

चली उठि कुंज भवन तें भोर।
डगमगात, लटकत लट छूटैं, पहरै पीत पटोर ॥
अरुन नैन घूमत आलस बस, मनु रस-सिंधु हिलोर।
गिरि-गिरि परत गलित कुसुमावलि, सिथिल सीस कच-डोर ॥
पद-नख अंक जुगल कुच अंतर, सुभग हिये तन गोर।
'परमानंद' प्रभु रमी निसा भरि,अब कहिं लपटि हँसी मुख मोर ॥८९॥

विरह— कौन रसिक है इन बातन कौ।
नंदनँदन बिन कासों कहिऐ, सुन री सखी ! मेरे दुखिया मन कौ ॥
कहाँ वे जमुना-पुलिन मनोहर, कहाँ वो चंद सरद-रातन कौ।
कहाँ वे मंद सुगंध अमल रस, कहाँ वे षटपद जलजातन कौ ॥
कहाँ वे सेज पौढ़िबौ बन कौ, फूल-बिछौना मृदु पातन कौ।
कहाँ वे दरस-परस 'परमानंद', कोमल तन, कोमल गातन कौ ॥९०॥

*

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुरबल तन हारे ।।
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ सकारे।
जो कोउ कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे ॥
ये मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
'परमानंद' स्वामी बिन ऐसै, जैसै चंदा बिनु तारे ॥९१॥

*

वह बात कमल-दल नैन की ।
बार-बार सुधि आवत रजनी, बहु दुरि दैनी सैनी सैन की ।।
वोह लीला, वोह रास सरद कौ, गोरस रजनी आवनि।
अरु वोह ऊँची टेर मनोहर, मिस कर मोहिं सुनावनि ।।
बसन कुंज में रास खिलायौ, बिथा गँमाई मन की।
'परमानंद' प्रभु सो क्यों जीवै, जो पोषी मधुबन की ।।९२।।

*

कौन बेर भई चलै री गोपालैं।
हौं ननसार गई ही न्यौते, बार-बार बोलत ब्रज-बालैं ।।
तेरौ तन कौ रूप कहाँ गयौ भामिनि ! अरु मुख-कमल सुखाय रह्यौ।
सब सौभाग्य गयौ हरि के सँग, हृदय-कमल बिरहानल दह्यौ ।।
को बोलै, को नैंन उघारै, को प्रति-उत्तर देहि बिकल मन।
जो सर्वस्व अक्रूर चुरायौ, 'परमानंद' स्वामी जीवन-धन ।।९३।।

*

मारग माधौ कौ जोवै।
वह अनुहारि न देख्यौ कोऊ, जो नैनन दुख खोवै ।।
बाल-बिनोद किए नदनंदन, सुमिरि-सुमिरि गुन रोवै।
बासर पतिगृह काज न भावै, निसि भरि नींद न सोवै ॥
अंतर-गति की बिथा मानसी, सो तन अधिक बिगोवै।
'परमानंददास' गोविंद बिन, अँसुअन जल उर धोवै ।।९४।।

मेरौ मन गोविंद सौं मान्यौं, तातें और न जिय भावै ।
जागत सोवत यहै उत्कंठा, कोउ ब्रजनाथ मिलावै ॥
बाढ़ी प्रीति आनि उर अंतर, चरन कमल चित दीनौं ।
कृष्न–बिरह गोकुल की गोपी, घर ही में बन कीनौं ॥
छाँड़ि अहार-बिहार देह–सुख, और न चाहै काऊ ।
'परमानंद' बसत हैं घर में, जैसे रहत बटाऊ ॥६५॥

*

प्रेम की पीर सरीर न माई ।
प्रबल सूल सह्यौ जात न सखि री, आवै रोय न गाई ॥
निसि-बासर जिय रहत चटपटी, यह धुक-धुकी न जाई ।
कासों कहों भरम की माई, उपजी कौन बलाई ॥
जो कोउ खोजै खोज न पैयत, ताकों कौन उपाई ।
हौं जानति हौं मेरे मन कों, लागी है कछु बाई ॥६६॥

*

मोहन ! वह क्यों प्रीति बिसारी ।
कहत सुनत समुझत उर अंतर, दुख लागत है भारी ॥
एक दिवस खेलत बन भीतर, बैनी सुहथ सँवारी ।
बीनत फूल गयौ चुभि कंटक, हरयौ गोबरधन–धारी ।
'परमानंद' बलबीर बिना हम, मरत बिरह की जारी ॥६७॥

*

माई ! को इहिं गाय चरावै ।
दामोदर बिन अपनु संघातिन, कौन सिंगार करावै ॥
सब कोई पूजै दीप-मालिका, हम कहा पूजें माई ।
राम-गोपाल मधुपुरी गमने, धाय-धाय ब्रज खाई ॥
दाम, दोहिनी, माट, मथानी, जाय पासि को पूजें ।
काके मिलें चलें ये गोकुल, कौन बेंनु कल कूजें ॥
करत प्रलाप सकल गोपी जन, मन मुकुंद हरि लीनौं ।
'परमानंद' प्रभु इतनी दूर बसि, मिलन दोहिलौ कीनौं ॥६८॥

*

माई री ! चंद लग्यौ दुख दैन ।
कहाँ वे देस, कहाँ वे मोहन, कहाँ वे सुख की रैन ॥
तारे गिनत गई री सबै निसि, नैक न लागे नैन ।
'परमानंद' पिया बिछुरे तें, पल न परत चित चैन ॥६९॥

या हरि कौ संदेस न आयौ ।
बरस-मास-दिन बीतन लागे, बिनु दरसन दुख पायौ ॥
घन गरज्यौ, पावस रितु प्रगटी, चातक पीउ सुनायौ ।
मत्त मोर बन बोलन लागे, बिरहिन बिरह जनायौ ॥
राग मल्हार सह्यौ नहिं जाई, काहू पंथि कहि गायौ ।
'परमानंददास' कहा कीजै, कृष्न मधुपुरी छायौ ॥१००॥

*

पतियाँ बाँचेहू न आवै ।
देखत अंक नैन जल पूरे, गदगद प्रेम जनावै ॥
नंदकिसोर सुहथ अच्छर लिखि, ऊधौ हाथ पठाए ।
समाचार मधुबन गोकुल के, मुख ही बाँचि सुनाए ॥
ऐसी दसा देखि गोपिन की, भक्त भरम सब जायौ ।
मन क्रम बचन प्रेम पद अंबुज, 'परमानंद' मन भायौ ॥१०१॥

*

व्याकुल बार न बाँधति छूटे ।
जब तें हरि मधुपुरी सिधारे, उर के हार रहत सब टूटे ॥
सदा अनमनी बिलख बदन अति, यह ढंग रहति खिलौना से फूटे ।
बिरह बिहाल सकल गोपी जन, अभरन मनहुँ बटकुटन लूटे ॥
जल-प्रवाह लोचन तें बाढ़े, बचन सनेह अभ्यंतर बूटे ।
'परमानंद' कहौं दुख कासों, जैसे चित्र लिखी मति टूटे ॥१०२॥

*

बदरिया ! तू कत ब्रज पर घोरी ।
असलन साल सलावन लागी, बिधिना लिख्यौ बिछोरी ॥
रहो जु रहो, जाओ घर अपने, दुख पावत है किसोरी ।
'परमानंद' प्रभु सो क्यों जीवै, जाकी बिछुरी जोरी ॥१०३॥

*

बहुरि हरि आवहुगे किहि काम ।
रितु बसंत अरु मकर बितीते, अरु बादर भए स्याम ॥
तारे गगन गनत री माई, बीते चारयौ याम ।
और काज सब बिसरि गये हरि, लेत तुम्हारौ नाम ॥
छिनु आँगन, छिनु द्वारे ठाढ़ी, हम सूखत हैं धाम ।
'परमानंद' प्रभु रूप बिचारत, रहे अस्थि अरु चाम । १०४॥
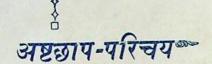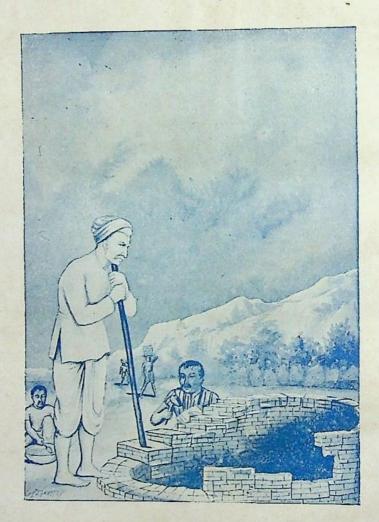
अपने बनवाए हुए अधूरे कूए का निरीक्षण करते हुए—

कृष्णदास

जन्म सं० १५५२] [देहावसान सं० १६३६

★

४. कृष्णदास

[सं० १५५३ से सं० १६३६ तक]

जीवन-सामग्री और उसकी आलोचना—

कृष्णदास का जीवन-वृत्तांत मूल 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' सं० ८१ में और 'अष्टसखान की वार्ता' सं० ४ में दिया हुआ है। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' में कृष्णदास नाम के कई भक्तों का उल्लेख मिलता है, किंतु इसके छप्पय सं ८१ में एक कृष्णदास का वृत्तांत इस प्रकार दिया गया है—

श्री बल्लभ गुरु दत्त. भजन-सागर, गुन-आगर।
कवित नौख निरदोष, नाथ-सेवा में नागर॥
बानी बंदित विदुष, सुजस गोपाल अलंकृत।
व्रज-रज अति आराध्य, बहै धारी सर्वस चित॥
सांनिध्य सदा हरिदासवर्य, गौर-स्याम दृढ़ व्रत लियौ।
गिरिधरन रीझि कृष्नदास कों, नाम माँझ साझौ कियौ॥

उपर्युक्त वृत्तांत से ज्ञात होता है कि यह अष्टछाप के कृष्णदास से संबंधित है। इसमें उनकी भक्ति और काव्य-रचना विषयक महत्व की चर्चा की गयी है, किंतु उनके भौतिक चरित्र पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। प्रियादास ने उक्त छप्पय की टीका में उनके चरित्र की कतिपय बातों का भी उल्लेख किया है, किंतु उन्होंने उनके आरंभिक जीवन-वृत्तांत के विषय में कुछ भी नहीं बतलाया है। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' में भी उनके भौतिक चरित्र के संबंध में कुछ नहीं लिखा गया है। उसके एक छंद में कुंभनदास के साथ कृष्णदास के भक्ति भाव और उनके कीर्तन की प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से कृष्णदास के भौतिक जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है।

अष्टछाप के आठों कवियों में कृष्णदास की जीवन घटनाएँ पुष्टि संप्रदाय के वार्ता-साहित्य में सब से अधिक विचित्र और परस्पर विरोधी ढंग से लिखी मिलती हैं। इसका कारण जहाँ उनके स्वभाव की विशेषता है, वहाँ उनके विरोधियों का मिथ्या प्रचार भी हो सकता है। वार्ता साहित्य में दिये हुये

उनके जीवन-वृत्तांत से जहाँ वे योग्य शासक, कुशल प्रबंधक, संप्रदाय के अनन्य सेवक, श्रीनाथ जी के कृपापात्र, विख्यात कवि और कीर्तनकार बतलाये गये हैं, वहाँ वे संकीर्ण सांप्रदायिकता के कारण मीराबाई जैसी आदर्श महिला का अपमान करने, श्रीनाथ जी सेवा के लिए बंगाली पुजारियों की झोंपड़ियों में आग लगवा देने और अधिकार के मद में गोसाईं विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के मंदिर में आने से रोक देने आदि अनुचित कार्यों के कर्त्ता भी लिखे गये हैं ! इन कार्यों के अतिरिक्त उनके संबंध की कुछ बातें इस प्रकार लिखी मिलती हैं, जिनसे उनको वेश्यासक्त, पर-दारा-प्रेमी और अर्थ-लोलुप भी समझा जा सकता है। वार्ता में उनकी मृत्यु के उपरांत उनको प्रेत की निकृष्ट योनि प्राप्त होने की बात भी लिखी गयी है ! इन चारित्रिक दोषों के कारण एक साधारण व्यक्ति भी निंदनीय ठहराया जा सकता है; किंतु जब हम कृष्णदास जैसे भक्त एवं पुष्टिसंप्रदाय के प्रमुख अधिकारी के संबंध में इन बातों को लिखा हुआ पाते हैं और साथ ही उनके द्वारा श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकार और संप्रदाय के अनेक भक्तों सहित गोसाईं विट्ठलनाथ जी द्वारा उनका सन्मान होता हुआ भी देखते हैं, तो हम बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं ! आश्चर्य तो इस बात का है कि उलझन में डालने वाली ये बातें पुष्टि संप्रदाय की सर्व मान्य पुस्तकों में लिखी गयी हैं, जिनके कारण कृष्णदास के आदर्श जीवन के साथ ही साथ पुष्टिसंप्रदाय की प्रतिष्ठा और वार्ता-साहित्य की प्रामाणिकता में भी शंका होने लगती है। इसलिए यह आवश्यक है कि कृष्णदास का जीवन-वृत्तांत लिखने के पूर्व हम उनके जीवन संबंधी उपलब्ध सामग्री की अच्छी तरह परीक्षा करें और भ्रमात्मक एवं प्रक्षिप्त बातों को हटा कर वास्तविक घटनाओं को ही उपस्थित करें।

चौरासी वार्ता में कृष्णदास का जीवन-वृत्तांत तब से आरंभ होता है, जब वे श्रीनाथजी के भेटिया होकर द्वारिका गये थे। वहाँ मार्ग में वे मीराबाई से मिले थे। उन दिनों मीराबाई के यहाँ कई संप्रदायों के सेवक उपस्थित थे, जिनका यथा योग्य सत्कार मीराबाई द्वारा हो रहा था। चौरासी वार्ता से ज्ञात होता है कि मीराबाई श्रीनाथ जी की भेंट के लिए कुछ मुहरें कृष्णदास को देना चाहती थीं, किंतु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जब कृष्णदास श्रीनाथजी की भेंट प्राप्त करने के लिए इतनी दूर गये थे, तब मीराबाई की भेंट को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं था, किंतु चौरासी वार्ता में इस अस्वीकृति का एक कारण यह बतलाया गया है कि मीराबाई आचार्य महाप्रभु जी की सेविका नहीं थीं; इसलिए कृष्णदास ने अपमान पूर्वक उनकी भेंट को स्वीकार नहीं किया। वार्ता में

इस अस्वीकृति का दूसरा कारण यह भी बतलाया गया है कि "मीराबाई के यहाँ जितने सेवक हुते तिन सबन की नाँक नीचैं करि के भेंट फेरी हैं, इतने इकठौरे कहाँ मिलते । यह हू जानेंगे जो एक बेर श्री आचार्य जी महाप्रभु कौ सेवक आयौ हुतौ, तानैं भेंट न लीनीं, तिन के गुरु की कहा बात होयगी ।"

यह घटना वार्ता में संप्रदाय का महत्व बढ़ाने के लिए लिखी गयी होगी, किंतु इससे कृष्णदास के स्वभाव का अक्खड़पन और उनका संकीर्ण सांप्रदायिक भाव भी प्रकट होता है । मीराबाई राजरानी होते हुए भी निर्धन भिखारियों का सा जीवन व्यतीत करती थीं, अतः उनके द्वारा मुहरों की भेंट देने की बात भी असंगत सी ज्ञात होती है । उनकी आदर्श भक्ति के कारण अनेक साधु-महात्माओं का उनके यहाँ आना-जाना अवश्य रहता था, किंतु उन्होंने कभी उनको प्रचुर धन भी दिया हो, इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है । हमारे विचार से यह अप्रामाणिक घटना है, जो संप्रदाय का महत्व बढ़ाने के उद्देश्य से ही लिखी जा सकती है ।

मूल चौरासी वार्ता में कृष्णदास की कथा का आरंभ उपर्युक्त घटना से हुआ है । उक्त वार्ता में उनके माता-पिता, जन्म-स्थान और आरंभिक जीवन के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा गया है । उसमें उनको शूद्र वर्ण का लिखा गया है, किंतु उनकी जाति विशेष का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है । कृष्णदास की जीवनी का जो भाग मूल 'चौरासी वार्ता' में नहीं है, उसकी पूर्ति श्री हरिराय जी कृत भावप्रकाश में की गयी है ।

'भावप्रकाश' से ज्ञात होता है कि कृष्णदास का जन्म गुजरात में वर्तमान अहमदाबाद ज़िले के 'चिलोतरा' नामक ग्राम में हुआ था । वे कुनबी पटेल थे, जिनको वार्ता में शूद्र वर्ण का लिखा गया है । कृष्णदास का पिता चिलोतरा ग्राम का मुखिया था ।

हरिराय जी ने लिखा है कि पाँच वर्ष की अवस्था से ही कृष्णदास भगवत्-चर्चा में मन लगाने लगे थे । प्रायः तेरह वर्ष की अवस्था में वे अपने पिता की अनुचित अर्थ-लिप्सा के विरोध में विरक्त होकर घर से निकल पड़े और व्रज में आकर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के सेवक हो गये । शूद्र वर्ण में उत्पन्न होने पर भी उनकी प्रबंध-कुशलता के कारण महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने उनको श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकारी नियत किया था, अतः पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक सेवकों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी ।

श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी होने पर उनका सब से पहला प्रमुख कार्य बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथ जी की सेवा से पृथक् करना था। इस कार्य को उन्होंने जिस युक्ति और बुद्धिमत्ता पूर्वक किया, उससे उनकी प्रबंध-कुशलता का अच्छा परिचय मिलता है। वे अड़ैल जाकर गोसाईं जी से बंगाली वैष्णवों को हटाने की आज्ञा ले आये, किंतु वे लोग किसी प्रकार भी श्रीनाथजी के मंदिर से हटना नहीं चाहते थे। वार्ता में लिखा है कि कृष्णदास ने रुद्र कुंड पर बनी हुई उन वैष्णवों की कुटियों में आग लगवादी। जब वे लोग घबड़ा कर अपने घरों की रक्षा के लिए मंदिर से निकल कर पर्वत के नीचे आये, उसी समय कृष्णदास ने अपने आदमियों को श्रीनाथ जी के मंदिर में नियत कर दिया! साधारण दृष्टि से कृष्णदास द्वारा आग लगवाने का यह कार्य बड़ा अनुचित ज्ञात होता है, किंतु इस युक्ति के बिना श्रीनाथ जी के मंदिर की शीघ्र सुव्यवस्था कदाचित नहीं हो सकती थी, क्यों कि बंगाली वैष्णव मंदिर के द्रव्य का दुरुपयोग करते हुए भी किसी का अनुशासन मानने के लिए तैयार नहीं थे और श्रीनाथ जी की सेवा छोड़ने की बात सुनते ही वे मरने-मारने को कटिबद्ध थे। यह भी संभव हो सकता है कि उनकी कुटियों में आग किसी कारण वश स्वयं लग गयी हो और कृष्णदास ने उस अवसर का लाभ उठाया हो।

'बल्लभ-दिग्विजय' से ज्ञात होता है कि जब महाप्रभु बल्लभाचार्य सूरदास को अपनी शरण में लेकर गऊघाट से गोवर्धन जा रहे थे, तब मथुरा के विश्राम घाट पर उन्होंने कृष्णदास को पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित किया था। सूरदास का शरण-काल गत पृष्ठों में सं० १५६७ लिखा जा चुका है,अतः कृष्णदास का शरण-काल भी सं० १५६७ सिद्ध होता है। बल्लभाचार्य जी ने कृष्णदास को पहले श्रीनाथ जी का भेटिया नियत किया और बाद में उनको श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकारी बना दिया। सं० १५८७ में बल्लभाचार्य जी के देहावसान के अनंतर जब श्री गोपीनाथ जी पुष्टि संप्रदाय की आचार्य गद्दी पर बैठे, तब कृष्णदास ही श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी थे।

प्रायः सभी अधिकार प्राप्त व्यक्तियों के जहाँ अनेक समर्थक एवं प्रशंसक होते हैं, वहाँ कुछ विरोधी एवं निंदक भी होते हैं। कृष्णदास श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी होने के अतिरिक्त, स्वभाव से भी बड़े दबंग थे। वे जो कुछ करना चाहते, निस्संकोच भाव से कर डालते थे, और इस बात की बिलकुल चिंता नहीं करते थे कि उनका वह कृत्य किसी को रुचिकर होगा या नहीं। उनकी इस प्रकृति के कारण ही उनके कुछ विरोधी भी थे।

संभवतः उन्होंने ही कृष्णदास के चरित्र पर कई प्रकार के लांछन लगाकर उनको बदनाम करने की चेष्टा की होगी, जिसका दुष्परिणाम बाद के लेखकों द्वारा लिखित उनके जीवन-वृत्तांत पर भी पड़ा है।

सं० १५९९ में जब गोपीनाथ जी का असमय में देहावसान हो गया, तब उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोपीनाथ जी के एक मात्र पुत्र पुरुषोत्तम जी उस समय केवल १२ वर्ष के बालक थे। नियमानुसार वे ही आचार्य गद्दी के अधिकारी थे, किंतु संप्रदाय के अधिकांश व्यक्तियों ने इस छोटी अवस्था में उनको समस्त उत्तरदायित्व देना उचित नहीं समझा, अतः गोपीनाथ जी के छोटे भाई विट्ठलनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य बनाये गये। गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी इस व्यवस्था के विरुद्ध थीं। वे अपने पुत्र पुरुषोत्तम जी को आचार्य बनवाना चाहती थीं और इस कार्य में उनको कृष्णदास का भी सहयोग प्राप्त था।

कृष्णदास जैसे नीतिज्ञ और प्रभावशाली व्यक्ति द्वारा पुरुषोत्तम जी के पक्ष का समर्थन देखकर विट्ठलनाथ जी के भक्त और पुष्टि संप्रदाय के वे लोग जो कृष्णदास की प्रतिष्ठा के कारण पहले से ही उनसे ईर्ष्या रखते थे, गो० विट्ठलनाथ जी के पास अधिकारी कृष्णदास के विरुद्ध अनेक शिकायतें पहुँचाने लगे होंगे। ऐसे लोगों ने ही संभवतः गंगाबाई के प्रसंग को लेकर कृष्णदास के चरित्र पर भी आक्षेप करना आरंभ किया होगा।

उन दिनों गंगाबाई नामक एक धनाढ्य वैष्णव महिला का श्रीनाथ जी के मंदिर में अधिक आना-जाना रहता था। वह महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की शिष्या और कृष्णदास की कृपापात्र थी। गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि उन दिनों श्रीनाथ जी के मंदिर में द्रव्य की बड़ी आवश्यकता रहती थी। कृष्णदास ने गंगाबाई के द्रव्य को श्रीनाथ जी की सेवा में लगाने के अभिप्राय से उसके साथ कुछ स्नेह बढ़ा लिया था।

चौरासी वार्ता और भावप्रकाश में इस घटना का इस प्रकार उल्लेख हुआ है कि उससे कृष्णदास के चरित्र पर संदेह होने लगता है और उनका गंगाबाई से अनुचित संबंध समझा जा सकता है। चौरासी वार्ता में इस अनुचित संबंध का तो स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किंतु उसके कथन से इस प्रकार का आभास हो सकता है†। उक्त वार्ता में कृष्णदास और विट्ठलनाथ जी के

† "कृष्णदास कों गंगाबाई सों बहुत स्नेह हुतो, सो श्री गुसांई जी को न सुहावतो।" —चौरासी वैष्णवन की वार्ता में कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ६

वैमनस्य का कारण 'गंगाबाई की दृष्टि' पड़ जाने से श्रीनाथ जी द्वारा राजभोग का स्वीकार न करना बतलाया गया है* । अन्य वार्ताओं में गंगाबाई और कृष्णदास के 'स्नेह' का कुछ स्पष्ट रूप से कथन हुआ है और वैमनस्य के कारणों में उसे प्रमुखता दी गयी है ।

जब हम इस प्रसंग पर गंभीरता पूर्वक विचार करते हैं, तब इसमें हमको कोई तथ्य दिखलायी नहीं देता है । हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' से प्रकट है कि जिस समय गंगाबाई गोवर्धन में आकर महाप्रभु बल्लभाचार्य की शिष्या हुई थी, उस समय उसकी आयु ४९ वर्ष की थी† । विट्ठलनाथ जी और कृष्णदास के वैमनस्य के समय उसकी आयु ७० वर्ष से भी अधिक हो चुकी थी ! उस वृद्धा स्त्री से कृष्णदास के अनुचित संबंध की कल्पना भी हास्यास्पद है ।

कृष्णदास की प्रबंध-कुशलता, भक्ति-भावना और सांप्रदायिक एकनिष्ठता प्रसिद्ध है, जिनके लिए स्वयं विट्ठलनाथ जी द्वारा की गयी उनकी प्रशंसा का वार्ता में भी उल्लेख है‡ । यदि कृष्णदास वास्तव में दुश्चरित्र होते तो संप्रदाय की आरंभिक अवस्था में ही यह कैसे संभव था कि अपने निंदनीय आचरण के रहते हुए वे मंदिर के अधिकारी भी बने रहते और उसका विरोध करने पर स्वयं विट्ठलनाथ जी को मंदिर में आने भी न देते ! वार्ता से प्रकट है कि कृष्णदास की आज्ञा के कारण विट्ठलनाथ जी छै महीने तक श्रीनाथ जी के

---

* "सो एक दिन श्री गुसाईं जी श्रीनाथ जी को भोग समर्पित हुते सो सामग्री ऊपर गंगाबाई की दृष्टि परी ताते श्रीनाथजी आरोगे नहीं ।······तब श्री गुसाईं जी ने हँस के कही जो यह तुम्हारे ही कांये भोगत हैं। ··सो यह बात सुनिकें कृष्णदास ने श्री गुसाईं जी सों बिगाड़ी । तब श्री गुसाईं जी सों कृष्णदास ने कही, जो तुम पर्वत ऊपर मति चढ़ो ।" —कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ६–७

† चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' पृ० १२२

‡ "और श्री गुसांई जी कहें जो कृष्णदास ने तीन बात आछी करी । एक तौ अधिकार कियौ सो ऐसो कियौ जो फेरि ऐसौ न करौ, दूसरे कीर्तन कियौ सो अद्‌भुत कियौ, और तीसरे श्री आचार्य जी महाप्रभु के सेवक होयकें सेवा हू ऐसी करी जो कोऊ न करेगो । ताते वे कृष्णदास श्री आचार्य जी महाप्रभू के ऐसे परम कृपापात्र भगवदीय हैं ताते इनकी वार्ता को पार नाहीं ।" —कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ६

मंदिर में नहीं जा सके थे, किंतु संप्रदाय के किसी सेवक या वैष्णव ने कृष्णदास की इस आज्ञा के विरुद्ध कोई आंदोलन नहीं किया और सब कार्य निर्विघ्नता पूर्वक यथावत् चलता रहा । उसका विरोध केवल विट्ठलनाथ जी के पुत्र गिरिधर जी को करना पड़ा, और उनका उद्देश्य भी संप्रदाय के सेवकों अथवा इष्ट मित्रों द्वारा नहीं, बल्कि सरकारी सहायता से सिद्ध हुआ ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा हुआ है कि श्रीनाथ जी की ड्यौढ़ी बंद हो जाने की दशा में जब विट्ठलनाथ जी परासोली में रहा करते थे, तब एक बार राजा बीरबल गोसाईं जी से मिलने के लिए गोकुल आये । वहाँ पर राजा बीरबल को गोसांई जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी से ज्ञात हुआ कि अधिकारी कृष्णदास ने गोसांई जी को श्रीनाथ जी के दर्शनों से वंचित कर दिया है, और गोसांई जी इसके कारण दुखित मन से परासोली में रहते हैं । इधर बीरबल ने मथुरा आकर कृष्णदास को बंदी करने के लिए पाँचसौ आदमी गोवर्धन के लिए रवाना किये, उधर विट्ठलनाथजी परासोली से गोकुल आ गये । कृष्णदास के बंदी होने के समाचार उनको गोकुल ही में मिले । जब विट्ठलनाथ जी की चेष्टा से कृष्णदास बंधन मुक्त हुए, तब भी वे गोसांई जी से गोकुल में ठकुरानी घाट पर ही मिले थे । इसके विरुद्ध 'अष्टसखान की वार्ता' से ज्ञात होता है कि कि जब बीरबल के आदमी कृष्णदास को बंदी करने गोवर्धन गये, उस समय गोसांई जी परासोली में थे और बंधन मुक्त होने पर कृष्णदास भी गोसांई जी से परासोली में ही मिले थे* ।

कृष्णदास के बंदी और बंधन मुक्त होने की अवस्था में गोसांई जी परासोली में थे अथवा गोकुल में—इस विषय पर 'चौरासी वार्ता' और 'अष्टसखान की वार्ता' का परस्पर विरुद्ध कथन इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना बीरबल द्वारा गोसांई जी की सहायता करना है । 'चौरासी वार्ता' में तो बीरबल द्वारा पाँच सौ आदमी भेजने का ही उल्लेख है, किंतु 'अष्टसखान की वार्ता' में बीरबल को मथुरा का फौजदार भी बतलाया गया है† । श्री गोपीनाथ जी के देहावसान-काल और 'अष्टछाप' के स्थापन-काल की संगति के आधार पर कृष्णदास और गोसांई जी का विरोध सं० १५९९ के पश्चात् और सं० १६०७ के पूर्व ही होना संभव है । हम गत पृष्ठों में 'संवाद' के आधार

* प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० २३२, २३३

† प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० २३१

पर इस घटना का समय सं० १६०६ निश्चित कर चुके हैं। सं० १६०४ की पौष शु० ५ से सं० १६०६ की आषाढ़ शु० ५ तक विट्ठलनाथ जी श्रीनाथ जी के दर्शनों से वंचित रहे थे। उस समय बीरबल द्वारा गोसाईं जी की सहायता करना इतिहास के विरुद्ध है। बीरबल की महत्व-वृद्धि अकबर के शासन में हुई थी और अकबर स्वयं संवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा था। इसके अतिरिक्त बीरबल मथुरा के कभी फौजदार नहीं रहे, इसलिए इस घटना का बीरबल से कोई संबंध सिद्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार 'चौरासी वार्ता' में यह भी लिखा हुआ है कि जब कृष्णदास बंगालियों को निकालने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए गोसाईं जी के पास अड़ैल गये थे, तब उन्होंने कृष्णदास की सहायता करने के लिए एक पत्र राजा टोडरमल के नाम और दूसरा राजा बीरबल के नाम लिखा था। यह घटना उपर्युक्त घटना से भी पूर्व की है। राजा टोडरमल अकबर के पूर्व भी महत्वपूर्ण राजकीय पद पर नियत थे, किंतु बीरबल की तत्कालीन स्थिति इतिहास से सिद्ध नहीं है, अतः इस घटना से भी बीरबल का कोई संबंध ज्ञात नहीं होता है। हम गत पृष्ठों में लिख चुके हैं कि सं० १६२८ के लगभग बंगालियों ने अकबर के शासन-काल में पुनः श्रीनाथ जी की सेवा का झगड़ा उठाया था। उस समय बीरबल के नाम गोसाईं जी का पत्र आना संभव है। हमारे मतानुसार गिरिधर जी की सहायता बीरबल के अतिरिक्त मथुरा के तत्कालीन हाकिम द्वारा हुई होगी। कृष्णदास के बंदी और बंधनमुक्त होने के समय गोसाईं जी की उपस्थिति भी गोकुल के अतिरिक्त परासोली में होना अधिक संभव है।

चौरासी वार्ता में कृष्णदास की वेश्यासक्ति विषयक एक विचित्र कथा लिखी गयी है। वार्ता से ज्ञात होता है कि एक बार वे मंदिर के कार्य से आगरा गये थे। वहाँ उन्होंने एक सुंदरी वेश्या को गाती हुई देखा। कृष्णदास उसके गायन पर इतने मुग्ध हुए कि वे उसे श्रीनाथ जी के सन्मुख नृत्य-गान करने के लिए गोवर्धन ले आये। उनकी इच्छा थी कि वह सुंदरी वेश्या श्रीनाथ जी की सदैव सेवा करती रहे, अतः उन्होंने मन ही मन उसे श्रीनाथजी के अर्पित कर दिया। वार्ता में लिखा है कि जैसे ही उक्त वेश्या ने कृष्णदास के सिखाये हुए एक पद का गायन किया कि उसकी मृत्यु हो गयी और वह दिव्य स्वरूप धारण कर श्रीनाथ जी के चरणों में लीन हो गयी। इस प्रकार श्रीनाथ जी ने कृष्णदास द्वारा अर्पित वस्तु को सहर्ष स्वीकार कर लिया!

यह घटना भी कृष्णदास के चरित्र पर दोषारोपण करने के लिए उपस्थित की जा सकती है। यदि यह घटना केवल भावना मात्र न होकर वास्तविक रूप से घटित हुई हो, तब भी उससे उनकी वेश्यासक्ति की अपेक्षा उनकी निष्कलंक रसिकता और शुद्ध कला-प्रियता ही ज्ञात होती है और साथही साथ पुष्टि संप्रदाय के सिद्धांतानुसार सर्वोत्तम वस्तु को अपने आराध्य देव के अर्पित करने की उनकी सदभिलाषा भी सिद्ध होती है। कुछ लोग इस घटना को कपोल कल्पित मान सकते हैं, किंतु प्रियदास द्वारा भक्तमाल की टीका में इसका उल्लेख† होने से इसको एक दम निराधार भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रकार की घटना हुई अवश्य थी; जो वार्ता की भावनायुक्त शैली में लिखी हुई प्राप्त होती है।

चौरासी वार्ता में कृष्णदास के उत्तर जीवन की एक ऐसी घटना का भी उल्लेख हुआ है, जिसके कारण कुछ लोग उनकी अर्थ-लोलुपता सिद्ध कर सकते हैं। वार्ता में लिखा है कि एक वैष्णव ने कृष्णदास को तीनसौ रुपया इस अभिप्राय से दिये थे कि वे उनसे एक कूआ बनवा दें। कृष्णदास ने दोसौ रुपया कूआ बनवाने में व्यय किए और एक सौ रुपया एक वृक्ष के नीचे गाड़ दिये। अंत में वे उसी कूए में गिर कर मर गये और प्रेत की निकृष्ट योनि को प्राप्त हुए। बाद में गो० विट्ठलनाथ जी के उद्योग से उनकी मुक्ति हुई।

इस घटना के कारण कृष्णदास की अर्थ-लोलुपता अथवा उनके द्वारा 'अमानत में ख़यानत' होने की बात नहीं कही जा सकती। चौरासी वार्ता से भी यह ज्ञात नहीं होता कि उन्होंने एक सौ रुपया के लिए अपनी नीयत बिगाड़ी हो। उससे तो केवल यही ज्ञात होता है कि उन्होंने आरंभिक व्यय के लिए दोसौ रुपया ले लिये थे और शेष रुपया वे बाद में व्यय करना चाहते

---

† राग सुनि भक्तिनी कौ,भए अनुराग वस, ससिमुख ! लालजू कों जाइकैं सुनाइयै।
देखि रिझवार रीझि निकट बुलाइ लई, लइ सँग चले, जग-लाज कौ बहाइयै॥

* * *

नीकैं अन्हवाय, पट-आभरन पहिराइ, गंध हू लगाइ, हरि मंदिर में ल्याये हैं।
देखि भई मतवारी,कीनीं लै अलापचारी,कह्यौ लाल देखें बोली देखे में ही भाये हैं॥
नृत्य, गान, तान, भाव भरि, मुसकानि दृग, रूप लपटानि,नाथ निपट रिझाये हैं।
ह्वै कै तदाकार, तन छूट्यौ अंगीकार करी,धरी उर प्रीति मन सबके भिजाये हैं॥

थे‡। 'अष्टसखान को वार्ता' में इसका स्पष्टीकरण भी हो गया है†। फिर भी उन पर अर्थ-लोलुपता का दोषारोपण करने वालों को यह सोचना चाहिए कि जो कृष्णदास बाल्यावस्था में ही अपने पिता की अनुचित अर्थ-लिप्सा के विरोध में घर छोड़ कर चले आये, वे मंदिर के अधिकारी और इतने बड़े भक्त होते हुए अपनी अंतिम अवस्था में केवल एकसौ रुपयों के लिए अपनी नियत कैसे बिगाड़ सकते थे! वार्ता में उन रुपयों के लिए कृष्णदास पर आक्षेप नहीं किया गया है, किंतु कूए में गिर कर उनके प्रेत हो जाने की बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है।

नाभा जी एक प्राचीन महात्मा हो गये हैं, जो अष्टछाप के कवियों के कुछ ही बाद हुए थे। उन्होंने अपनी 'भक्तमाल' नामक रचना में प्राचीन भक्तों के पक्षपात रहित संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत का कथन किया है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका लिखते हुए उन चरित्रों का और भी विस्तार किया है। नाभा जी और प्रियादास दोनों ने कृष्णदास के विषय में लिखा है, किंतु उनके चरित्र को कलंकित करने वाली किसी प्रमुख घटना का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। नाभा जी ने अपने छप्पय में, जो पहले दिया जा चुका है, उनका प्रशंसात्मक संक्षिप्त परिचय मात्र दिया है, किंतु प्रियादास ने उनके जीवन की कई प्रमुख घटनाओं का भी उल्लेख किया है। प्रियादास के समय में वार्ताओं के उल्लेख की यथेष्ट प्रसिद्धि थी, अतः उन्होंने कृष्णदास की कूआ में गिर कर मृत्यु हो जाने का उल्लेख किया है, और साथ ही साथ उनकी प्रेत-योनि का भी संकेत किया है*। ऐसा ज्ञात होता है उनकी मृत्यु कूए में गिर कर अवश्य हुई, किंतु उनके प्रेत हो जाने की बात कल्पना मात्र है। भला

‡ "तब कृष्णदास ने उन रुपैयान में ते एक सौ रुपैया एक कुल्हरा में धरि के आम के वृक्ष के नीचे गाड़ दिये। कह्यौ जो दोय सै रुपैया लाग चुकेंगे तब इनको काढ़ेंगे।"
—कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ८

† 'तब कितनेक दिन पाछे कुवा बनि के तैयार भयौ, और दोयसै रुपैया लगे। पाछे कुवा को मोहड़ो बनवावनो रह्यौ, सो कृष्णदास जी मन में बिचारे, जो—सौ रुपैया में मोहड़ो आछो बनेगो।"
—कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ६

* कुआँ में खिसिल, देह छुटि गई, नई भई, भई यों असंका कछु और उर आई है।
रसिकन मन दुख जान सो सुजान नाथ, दियौ दरसाय, तन ग्वाल सुखदाई है॥
गोवर्धन तीर कही आगें बलवीर गये, श्री गोसांई धीर सों प्रनाम यों जनाई है।
धन हू बतायौ, खोदि पायौ, बिसवास आयौ, हियें सुख छायौ, संक-पंक लै बहाई है॥

जीवन भर अनन्य भाव से श्रीनाथ जी की भक्ति करने वाला महात्मा मृत्यु के उपरांत प्रेत-योनि कैसे प्राप्त कर सकता है ! वार्ता में लिखा है कि प्रेत हो जाने पर भी कृष्णदास को श्रीनाथ जी के दर्शन होते रहे, किंतु फिर भी उनकी मुक्ति नहीं हुई ! चूँकि उन्होंने विट्ठलनाथ जी का अपराध किया था, अतः वे ही उनको मुक्ति दिला सकते थे और अंत में उन्हीं के उद्योग से उनकी मुक्ति भी हुई ।

गोविंद से बढ़ कर गुरु का माहात्म्य बतलाने के लिए इसी प्रकार की कल्पना करनी पड़ती है, किंतु इससे धर्म के मौलिक सिद्धांतों पर कितना आघात पहुँचता है ! कृष्णदास ने यदि विट्ठलनाथ जी का कुछ अपराध किया था, तो उसकी निवृत्ति उनके पश्चात्ताप पूर्वक क्षमा याचना करने से हो गयी थी । इसके प्रमाण के लिए 'कृष्णदास सुर तें असुर भए, असुर तें सुर भए, चरनन छोय' वाला पदांश उपस्थित किया जा सकता है । जिस महात्मा को अपने जीवन-काल में और मृत्यु के अनंतर भी परमात्मा का सांनिध्य प्राप्त था, उसकी अधोगति की कल्पना करना भी अपराध है !

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि कृष्णदास के चरित्र पर कोई लांछन नहीं लगाया जा सकता है । विट्ठलनाथ जी से उनके विरोध का कारण भी यह था कि वे गोपीनाथ जी के पुत्र पुरुषोत्तम जी को आचार्य-गद्दी का वास्तविक उत्तराधिकारी मानते थे । मूल 'चौरासी वार्ता' से इस विषय पर समुचित प्रकाश नहीं पड़ता है, किंतु हरिराय जी कृत 'अष्टसखान की वार्ता' से इसकी स्पष्ट सूचना प्राप्त होती है—

"तब श्री गोपीनाथ जी श्री गुसाईं जी के बड़े भाई, तिन के पुत्र श्री पुरुषोत्तम जी हते । सो तिन सों कृष्णदास मिलि के कहे···जो-श्री गुसाईं जी ने अपनो सब हुकम करि राख्यो है । टीकेत तो तुम हो । तब श्री पुरुषोत्तम जी ने कही जो—हमारी सामर्थ्य नहीं है जो-श्री गुसाईं जी सों बिगारें । तब कृष्णदास ने कह्यो....जो—हम सब करि लेंइगे ।......तब कृष्णदास ने श्री गुसाईं जी सों कही जो—श्री पुरुषोत्तम जी न्हाय के मंदिर में पधारे हैं । टीकेत तो वे हैं. तासों जब वे आपको बुलायेंगे तब आपु परवत ऊपर आइयो । तासों अब आपु परवत ऊपर मति चढ़ो, जो-श्री गोवर्धनधर के दरशन न होंयगे†।"

† चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' पृ० १२८

इस गार्हस्थिक कलह में एक पक्ष का समर्थन करने के कारण दूसरे पक्ष के भक्तों ने कृष्णदास पर जो आक्षेप किये थे, उनका प्रभाव पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य पर पड़ा है और अन्य पुस्तकों में भी उन्हीं बातों को कुछ घटा-बढ़ी के साथ दुहराया गया है। हिंदी-साहित्य के वर्तमान इतिहास-ग्रंथों में इस प्रसंग की बहुत सी भ्रमात्मक बातें लिखी हुई हैं। हिंदी के माननीय विद्वान डा० श्यामसुंदरदास ने कृष्णदास और गंगाबाई का संबंध, विट्ठलनाथ जी का गद्दी से हटाया जाना और बीरबल द्वारा कृष्णदास को बंदी कर विट्ठलनाथ जी को पुनः गद्दी पर बैठाये जाने का उल्लेख किया है†, किंतु ये सभी बातें ठीक नहीं हैं, जैसा गत पृष्ठों में लिखा है जा चुका है। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के विवरण से ऐसा प्रकट होता है कि कृष्णदास का झगड़ा वल्लभाचार्य जी से हुआ, विट्ठलनाथ जी से नहीं और कृष्णदास स्वयं श्रीनाथ जी की ड्यौढ़ी छोड़ कर चले गये*! इसी प्रकार की भ्रमात्मक बातें हिंदी के अन्य इतिहास ग्रंथों में भी लिखी मिलती हैं, जिनके शीघ्र संशोधन की आवश्यकता है।

कृष्णदास योग्य शासक और कुशल प्रबंधक होने के अतिरिक्त काव्य और संगीत के भी अच्छे ज्ञाता थे। जब गो० विट्ठलनाथ जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमें कृष्णदास को भी सम्मिलित किया गया। अष्टछाप के अन्य कवियों की तरह उन्होंने भी कीर्तन के अनेक पदों की रचना की है। उन्होंने आरंभिक शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की और उनको काव्य एवं संगीत

---

† "ये श्रीनाथ जी की बड़ी सेवा करते थे, पर थे बड़े रसिक। इनका संबंध गंगाबाई नाम की एक स्त्री से हो गया था। कहा जाता है कि गोसांई जी द्वारा इसका विरोध होने पर इन्होंने उन्हें प्रयत्न करके गद्दी से हटा दिया, पर जब राजा बीरबल को इसका पता चला तो उन्होंने इन्हें पकड़ कर कारागृह में भेज दिया और गोसाईं जी को पुनः गद्दी पर बैठाया।"

—"हिंदी साहित्य" पृ० १३४

* "आप थे तो शूद्र, किंतु अपनी श्रद्धा, भक्ति तथा सेवा से आचार्यवल्लभ जी के कृपापात्र शिष्य हो गये। एक बार आपने कुछ रुष्ट होकर आचार्य जी की ड्योढ़ी छोड़ दी। इस पर बीरबल ने इन्हें कैद कर लिया, किंतु आचार्यजी ने इन्हें उससे मुक्त करा अपने मंदिर का प्रधान बना दिया।"

—'हिंदी साहित्य का इतिहास" पृ० २६६

का ज्ञान किस प्रकार हुआ, इसका उल्लेख हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' में भी नहीं हुआ है। भावप्रकाश से ज्ञात होता है कि वे तेरह वर्ष की आयु में गुजरात से व्रज में आकर वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए थे। जैसे ही आचार्य जी ने उनको दीक्षा दी कि उनको संपूर्ण लीला का अनुभव हो गया, और उसी समय उन्होंने आचार्य जी की स्तुति में एक पद की रचना भी कर डाली! यदि इस चमत्कार में विश्वास न किया जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि उनका संपूर्ण जीवन पुष्टि संप्रदाय के आचार्य, विद्वान्, कवि और कीर्तनकारों की संगति में व्यतीत हुआ था, अतः नियमित शिक्षा प्राप्त होने का साधन न होने पर भी वे सत्संग से ही आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सके होंगे। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि उन्होंने सूरदास से काव्य-शिक्षा प्राप्त की थी और 'साहित्य-लहरी' की रचना सूरदास ने उनके लिए ही की थी। यह कथन भ्रमात्मक है, जैसा गत पृष्ठों में हम सूरदास के प्रसंग में लिख चुके हैं।

वार्ता से प्रकट है कि कृष्णदास का देहांत कूए में गिर जाने की दुर्घटना से हुआ था, किंतु उनके देहावसान का यथार्थ संवत ज्ञात नहीं होता है। पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से विदित है कि कृष्णदास के पश्चात् श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी चांपाभाई हुए थे। कृष्णदास के जीवन-काल में चांपाभाई गोसाईं जी की विदेश यात्राओं में उनके भंडारी का कार्य करते थे। गोसाईं जी ने व्रज से गुजरात की प्रथम यात्रा सं० १६३१ में की थी, उसमें चांपाभाई की उपस्थिति का उल्लेख है, किंतु सं० १६३८ में की गयी दूसरी यात्रा में उनकी उपस्थिति का उल्लेख नहीं है। इससे समझा जा सकता है कि सं० १६३१ की प्रथम यात्रा के समय कृष्णदास जीवित थे, किंतु सं० १६३८ की द्वितीय यात्रा के अवसर पर उनका देहांत हो चुका था, अतः उनके स्थान पर चांपाभाई अधिकारी हो जाने से उस यात्रा में नहीं जा सके थे। इस प्रमाण से कृष्णदास का देहावसान सं० १६३१ के पश्चात और सं० १६३८ के पूर्व होना संभव है।

खोज रिपोर्टों में कृष्णदास द्वारा रचित कई ग्रंथों का नामोल्लेख किया गया है, जिनमें मुख्य ग्रंथ ये हैं—

जुगल मान चरित्र, भ्रमर गीत, प्रेम सत्व निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णव बंदन, कृष्णदास की बानी, प्रेमरस रासि, हिंडोरा लीला, दानलीला आदि।

हमारे मतानुसार कृष्णदास ने कीर्तन के केवल स्फुट पदों की रचना की थी, जो पुष्टि संप्रदायी संग्रहालयों एवं कीर्तन-ग्रंथों में सुरक्षित हैं।

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

कृष्णदास का जन्म सं० १५५३ में गुजरात के चिलोतरा नामक ग्राम में हुआ था। वे कुनबी पटेल थे। उनका पिता चिलोतरा ग्राम का मुखिया था। बचपन से ही कृष्णदास की रुचि सत्संग और कथा-वार्ता में थी। यदि उनके माता-पिता इस कार्य में बाधा डलते, तो वे उदास होकर खाना-पीना छोड़ देते थे। उनके इस आचरण से उनके घर वालों की यह धारणा हो गयी थी कि वे बड़े होने पर गृहस्थ में न रह कर विरक्त जीवन व्यतीत करेंगे।

जब कृष्णदास १२ वर्ष के थे, तब उनके ग्राम में एक बनजारा आया। उसने अपना सब माल उस ग्राम के लोगों को बेच दिया और बिक्री का चौदह हजार रुपया एकत्रित कर लिया। माल को बेचने और रुपया एकत्रित करने में वह दिन भर लगा रहा। अंत में अपने कार्य की समाप्ति पर सूर्यास्त हो जाने के कारण उसने निश्चय किया कि वह रात्रि भर उसी ग्राम में रह कर दूसरे दिन प्रातःकाल आगे जावेगा। निदान वह रात्रि में वहीं ठहर गया। कृष्णदास के पिता ने अपने कुछ आदमी भेज कर उसी रात्रि में बनजारे का संपूर्ण द्रव्य लुटवा दिया और कुछ रुपया उन आदमियों को देकर शेष धन अपने पास रख लिया। प्रातःकाल होने पर जब बनजारे ने अपने सर्वस्व का अपहरण देखा तो वह ग्राम के मुखिया के पास जाकर रोने लगा, किंतु कृष्णदास के पिता ने उसको ग्राम के बाहर निकलवा दिया। अपने पिता की इस अनीति और दुर्व्यवहार को देख कर बालक कृष्णदास को बड़ा क्लेश हुआ। उसने बनजारे के पास जाकर कहा कि तेरा रुपया चोरों ने नहीं, बल्कि इस ग्राम के मुखिया मेरे पिता ने लूट लिया है। तू मेरे पिता के विरुद्ध बादशाह से फरियाद कर और मैं साक्षी के रूप में इस बात को प्रमाणित करूँगा। अंत में कृष्णदास के साक्ष्य के कारण उनके पिता को बनजारे का रुपया देना पड़ा!

इस घटना के कारण कृष्णदास और उनके पिता में वैमनस्य हो गया, जिसके फलस्वरूप वे अपने पिता को नमस्कार कर विरक्त भाव से घर से निकल पड़े और तीर्थ-यात्रा करते हुए ब्रज में आ गये। उन दिनों श्रीनाथ जी के कार्य से महाप्रभु वल्लभाचार्य भी अड़ैल से ब्रज में आये हुए थे। इसी यात्रा में

उन्होंने गऊघाट पर सूरदास को अपना सेवक बनाया था । बल्लभाचार्य जी सूरदास के साथ कुछ दिन गोकुल में रहे, फिर वे मथुरा होते हुए गोवर्धन चले गये । इसी समय सं० १५६७ के लगभग कृष्णदास अपनी १३ वर्ष की आयु में बल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए । 'बल्लभ-दिग्विजय' के अनुसार मथुरा के विश्रामघाट पर और हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' के अनुसार गोवर्धन में बल्लभाचार्य जी ने कृष्णदास को शरण में लिया था ।

कृष्णदास ने गुजराती भाषा की आरंभिक शिक्षा अपने जन्म-स्थान चिलोतरा में प्राप्त की होगी, किंतु व्रजभाषा-काव्य एवं संगीत का ज्ञान उनको गोवर्धन में पुष्टि संप्रदाय के विद्वानों के सत्संग से हुआ होगा । वे आरंभ से ही हिसाब-किताब और कार्य-व्यवहार में कुशल थे । पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने पर बल्लभाचार्य जी ने पहले उनको श्रीनाथ जी की भेंट एकत्रित करने का कार्य दिया और बाद में उनको श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकारी बना दिया । कृष्णदास के विवाह और उनके गृहस्थ-जीवन का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है । ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने मृत्यु पर्यंत अविवाहित जीवन व्यतीत किया था ।

श्रीनाथजी के मंदिर की व्यवस्था—

श्रीनाथ जी के आरंभिक पुजारी विरक्त बंगाली वैष्णव थे । उनकी पूजा-पद्धति पुष्टि संप्रदाय के अनुकूल नहीं थी, और वे भेंट में प्राप्त श्रीनाथ जी के द्रव्य का दुरुपयोग भी करते थे । कृष्णदास मंदिर की सुव्यवस्था और उसके वैभव का विस्तार करना चाहते थे, किंतु वे उन बंगाली पुजारियों के कारण बड़े परेशान थे । यद्यपि कृष्णदास मंदिर के अधिकारी थे तथापि वे पुजारी लोग उनका अनुशासन न मान कर मन-मानी करते थे । महाप्रभु बल्लभाचार्य और श्री गोपीनाथ जी के जीवन-काल में यह व्यवस्था इसी प्रकार चलती रही, किंतु उनके देहावसान के अनंतर कृष्णदास ने इस व्यवस्था में सुधार करना चाहा । वे अड़ैल जाकर गोसाईं विट्ठलनाथ जी से मिले और उनसे बंगाली पुजारियों को मंदिर से निकालने की आज्ञा देने को कहा । गोसाईं जी ने कहा कि उन पुजारियों को उनके पिता श्री बल्लभाचार्य जी ने नियत किया था, अतः वे उनको नहीं निकालना चाहते । जब कृष्णदास ने बंगालियों द्वारा मंदिर की अव्यवस्था और श्रीनाथजी के द्रव्य के दुरुपयोग होने की बात कही, तो वे उनको निकालने के लिए राजी हो गये । उन्होंने कृष्णदास की इच्छानुसार बंगालियों

को श्रीनाथ जी की सेवा छोड़ देने के लिए लिखित आज्ञा-पत्र दे दिया और दो–एक पत्र आगरा–मथुरा के राज-कर्मचारियों के नाम भी इस अभिप्राय से लिख कर दे दिये कि आवश्यकता पड़ने पर कृष्णदास उनसे सहायता प्राप्त कर सकें ।

कृष्णदास उन पत्रों को लेकर गोवर्धन वापिस चल दिये । मार्ग में उन्होंने आगरा और मथुरा में रुक कर वहाँ के राज–कर्मचारियों से सहायता का आश्वासन ले लिया । कृष्णदास ने गोसाईं जी का आज्ञापत्र दिखला कर बंगाली पुजारियों से श्रीनाथ जी की सेवा छोड़ देने को कहा, किंतु वे इसके लिए राजी नहीं हुए और आज्ञापत्र की अवहेलना कर मरने–मारने के लिए तैयार हो गये । कृष्णदास चुप होगये और उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे । उन पुजारियों के रहने की झोंपड़ियाँ श्रीनाथ जी के मंदिर से कुछ दूर पर्वत के नीचे रुद्रकुंड पर बनी हुई थीं । दैवयोग से एक दिन उन झोंपड़ियों में आग लग गयी । जब उन पुजारियों ने अपने घरों को जलते हुए देखा तो वे घबड़ा कर श्रीनाथ जी के मंदिर से बाहर निकल आये और पर्वत से उतर कर आग बुझाने में लग गये । कृष्णदास ने उस अवसर का लाभ उठा कर मंदिर पर पूरा अधिकार कर लिया और अपने आदमियों को बंगाली पुजारियों के स्थान पर नियत कर दिया ।

जब पुजारियों ने यह देखा तो वे कृष्णदास से झगड़ा करना लगे, किंतु कृष्णदास के आदमियों ने उनको भगा दिया । अंत में वे बंगाली पुजारी मथुरा तथा आगरा के राज कर्मचारियों के पास भी जाकर रोये और उन्होंने बहुत-कुछ बखेड़ा किया, किंतु कृष्णदास के उद्योग से वहाँ भी उनकी दाल नहीं गली । इस घटना से कृष्णदास का प्रभाव बहुत बढ़ गया और वे बड़े अनुशासन पूर्वक मंदिर की सुव्यवस्था में लग गये । यह घटना सं० १६०० के उपरांत और सं० १६०५ के पूर्व हुई थी । वैसे वे बंगाली वैष्णव सं० १६२८ तक अकबर के दरबार में अपने अधिकारों की फरियाद करते रहे, किंतु उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई ।

इस घटना के उपरांत श्रीनाथ जी सेवा राजसी ठाट से होने लगी । मंदिर के विभिन्न कार्यों के संपादन के लिए अनेक कर्मचारी नियुक्त किये गये । मुखिया, पुजारी, कीर्तनिया, भंडारी, रोकड़िया, भेटिया समाधानी, पखावजी, ग्वाला, दरजी, सुनार, खाती आदि सेवकों के कर्त्तव्य और उनके नेग–बंधान निश्चित किये गये । संपूर्ण कार्य एक व्यवस्था के साथ होने लगा । अधिकारी

कृष्णदास मंदिर के समस्त कर्मचारियों के प्रधान थे। उनकी आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं हो सकता था। जब गोसांई जी गोवर्धन में रहते, तब भी उनका प्रयोजन केवल श्रीनाथ जी की सेवा और उनके शृंगार से ही रहता, मंदिर की व्यवस्था में वे कभी हस्तक्षेप नहीं करते थे। यदि कोई उनसे इस विषय की बातचीत भी करता, तो वे उसे कृष्णदास के पास भेज देते थे। इस प्रकार श्रीनाथ जी के अधिकारी की मर्यादा कायम की गयी।

उन दिनों कृष्णदास का वैभव और प्रभाव खूब बढ़ा हुआ था। जहाँ कहीं वे जाते थे, उनके साथ अनेक सेवक और कर्मचारियों के अतिरिक्त रथ, गाड़ी, घोड़ा, बैल, ऊँट आदि भी चलते थे। दूर-दूर तक उनके नाम की प्रसिद्धि हो गयी थी।

विट्ठलनाथ जी से विरोध—

सं० १५९९ में वल्लभाचार्य जी के उत्तराधिकारी श्री गोपीनाथ जी का देहावसान हो गया। गोपीनाथ जी के लघु भ्राता विट्ठलनाथजी अपनी योग्यता और सांप्रदायिक अनुभव के कारण सर्वप्रिय थे। गोपीनाथ जी के जीवन-काल में भी विट्ठलनाथ जी ही सांप्रदायिक कार्यों की देख-भाल करते थे, जब कि गोपीनाथ जी प्रायः गुजरात आदि सुदूर प्रदेशों की यात्रा और अड़ैल एवं गोकुल के एकांत वास में रहते थे। यद्यपि गोपीनाथ जी के योग्य उत्तराधिकारी विट्ठलनाथजी थे, तथापि नियमानुसार गोपीनाथ जी के एक मात्र पुत्र पुरुषोत्तम जी आचार्य गद्दी के अधिकारी थे। चूँकि पुरुषोत्तम जी उस समय केवल १२ वर्ष के बालक थे, अतः संप्रदाय के अनेक व्यक्ति उनको समस्त उत्तरदायित्व देना उचित न समझ कर विट्ठलनाथ जी को आचार्य बनाना चाहते थे।

गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी अपने पुत्र को आचार्य-गद्दी दिलाना चाहती थी। अधिकारी कृष्णदास भी न्यायतः गद्दी के वास्तविक अधिकारी पुरुषोत्तम जी को समझते थे, अतः उन्होंने उनका समर्थन किया। नियमानुसार गद्दी-स्थित आचार्य की उपस्थित में श्रीनाथ जी की सेवा करने का अधिकार अन्य व्यक्ति को नहीं है, अतः कृष्णदास ने श्रीनाथ जी की सेवा के लिए पुरुषोत्तम जी को आमंत्रित किया। उन्होंने विचार किया कि संप्रदाय के अधिकांश व्यक्ति विट्ठलनाथ जी के पक्ष का समर्थन कर रहे हैं, अतः उनके श्रीनाथ जी के मंदिर में जाने से उनको सेवा करने से रोकना कठिन हो जायगा

और पुरुषोत्तम जी अपने न्यायपूर्ण अधिकार को प्राप्त न कर सकेंगे। इस प्रकार की आशंका से उन्होंने एक ऐसा कार्य कर डाला, जिसके कारण उनको अपने जीवन-काल में और मृत्यु के अनंतर भी अनेक व्यक्तियों के लांछन का पात्र बनना पड़ा। उन्होंने विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के मंदिर में नहीं जाने दिया और द्वारपालों को आज्ञा दी कि जब तक पुरुषोत्तम जी न बुलावें, तब तक विट्ठलनाथ जी का मंदिर में प्रवेश न हो सके।

विट्ठलनाथ जी ने अपने इस अपमान का विरोध नहीं किया और अपने पिता द्वारा नियुक्त अधिकारी की आज्ञा मान कर उन्होंने श्रीनाथ जी के मंदिर में जाने का विचार छोड़ दिया। वे दुखित मन से गोवर्धन के पास परासोली ग्राम में चले गये और श्रीनाथ जी के दर्शनों से वंचित होने के कारण वे दूर से दिखायी देने वाली श्रीनाथ जी की ध्वजा को ही प्रति-दिन नमस्कार कर लेते थे।

सं० १६०५ की पौष शु० ५ से सं० १६०६ की आषाढ़ शु० ५ तक विट्ठलनाथ जी श्रीनाथ जी के दर्शनों से वंचित रहे। इस छै मास के काल में वे अधिकतर परासोली और कभी-कभी गोकुल में रहा करते थे। विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने इस दुर्घटना की शिकायत मथुरा के हाकिम से की, जिसने पाँच सौ सिपाही भेज कर कृष्णदास को बंदी कर लिया और विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के मंदिर में जाने के लिए कहलाया। जब कृष्णदास के बंदी होने का समाचार विट्ठलनाथ जी ने सुना तो उनको बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने कृष्णदास के बंधन से मुक्त न होने तक अन्न-जल ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की। विट्ठलनाथ जी की इस प्रतिज्ञा का समाचार जब मथुरा के हाकिम के पास पहुँचा, तो उसने कृष्णदास को बंधन मुक्त कर दिया।

विट्ठलनाथ जी की शांत प्रकृति और उदारता का अद्भुत प्रभाव कृष्णदास पर पड़ा। वे अपने पूर्व कृत्य पर पश्चात्ताप करने लगे और विट्ठलनाथ जी से क्षमा-याचना करने को उनके पास चल दिये। जब विट्ठलनाथ जी ने कृष्णदास को अपने पास आते हुए देखा तो उन्होंने खड़े होकर उनका स्वागत किया, किंतु कृष्णदास ने गोसाईं जी के चरणों में गिर कर उनसे क्षमा-याचना की। विट्ठलनाथ जी ने उनको सान्त्वना देते हुए पिछली बातें भूल जाने को कहा। उस समय कृष्णदास ने निम्न लिखित पद द्वारा विट्ठलनाथ जी के प्रति अपने भक्ति-भाव को प्रकट किया था—

ताही कों सिर नाइऐ जो, श्री-वल्लभ-सुत पद-रज-रत होय।
कीजै कहा आन ऊँचे पद, तिनसों कहा सगाई मोय॥
सारहिं-सार विचार मतौ करि,स्रुति-वच गोधन लियौ निचोय।
तहाँ नवनीत प्रगट पुरुषोत्तम, सहजई गोरस लियौ बिलोय॥
जाके मन में उग्र भरम है, श्री विट्ठल, श्री गिरिधर दोय।
ताकौ संग विषम विष हू तें, भूलिहू चतुर करहिं जिन कोय॥
निज प्रताप देखि अपने चख, असन सार जो मिटै न तोह।
'कृष्णदास' सुर तें असुर भए, असुर तें सुर भए चरनन छोह॥

इस घटना के समय तक बालक पुरुषोत्तम जी की अकाल मृत्यु हो चुकी थी। उसके कुछ समय पश्चात् उनकी माता भी निराश होकर अपनी संपत्ति सहित दक्षिण में अपने पिता के गृह चली गयीं थीं। इस प्रकार विट्ठलनाथ जी और उनके भावज-भतीजे में होने वाली पारिवारिक कलह स्वतः शांत हो गयी। विट्ठलनाथ जी के कतिपय विरोधी भी उनकी उदारता और योग्यता के कारण उनके दृढ़ भक्त बन गये थे। विट्ठलनाथ जी ने कृष्णदास को श्रीनाथ जी के मंदिर का पुनः अधिकारी बना दिया और उन्होंने भी फिर जीवन पर्यंत गोसाईं जी की अनन्य भाव से सेवा की।

अध्ययन, काव्य और संगीत—

जब कृष्णदास को मंदिर के कार्य से अवकाश मिलता, तब वे अपना समय धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन और काव्य एवं संगीत के अभ्यास में लगाते थे। अपनी किशोरावस्था में ही पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो जाने के कारण उनके अध्ययन और काव्य–संगीत विषयक उनकी ज्ञान-वृद्धि का कारण सांप्रदायिक विद्वानों का सत्संग ही कहा जा सकता है। कृष्णदास एक अलौकिक प्रतिभा संपन्न व्यक्ति थे, अतः उन्होंने इन विषयों में भी शीघ्र ही निपुणता प्राप्त करली होगी। वार्ता से ज्ञात होता है कि वे सांप्रदायिक सिद्धांत एवं सेवा-विधि के पूर्ण ज्ञाता थे। अष्टछाप के अन्य कवि तथा पुष्टि संप्रदाय के विद्वान् तक उनसे इस विषय की जानकारी प्राप्त करते थे।

कृष्णदास काव्य एवं संगीत शास्त्र के ज्ञाता और मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त सुकवि और गायक भी थे। उन्होंने अनेक सुंदर पदों की रचना की है, जिनको वे भक्तिभाव पूर्वक श्रीनाथ जी के सन्मुख गाया करते थे। इस प्रकार उनका कीर्तन भी बड़ा सुंदर होता था।

जब गो० विट्ठलनाथ ने सं० १६०२ में 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमें कृष्णदास को भी सम्मिलित किया गया। पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक इतिहास में उनका महत्व कुशल प्रबंधक होने के कारण तो है ही, किंतु सुकवि और कीर्तनकार के रूप में भी उनका महत्व कुछ कम नहीं है।

कला-प्रियता और रसिकता—

कृष्णदास कला के पारखी और रसिक भी थे। उनकी कला-प्रियता के उदाहरण स्वरूप एक अद्भुत घटना का उल्लेख किया जाता है। वार्ता में लिखा है कि वे एक बार मंदिर के कार्य से आगरा गये थे। वहाँ उन्होंने एक सुंदरी वेश्या को गायन और नृत्य करते हुए देखा। वे उसकी कला पर इतने मुग्ध हुए कि उसे श्रीनाथ जी के सन्मुख नृत्य-गायन करने के लिए अपने साथ गोवर्धन ले गये। वह वेश्या प्रायः ख्याल—टप्पा गाती थी, जो कृष्णदास को पसंद नहीं थे; अतः उन्होंने अपने रचे हुए कुछ पद उसे सिखा दिये और श्रीनाथ जी के सन्मुख उन्हीं को गाने का आदेश दिया।

पुष्टि संप्रदाय के सिद्धांतानुसार आदर्श भक्त वही है, जो अपना सर्वस्व भगवान् के चरणों में अर्पित करदे। कृष्णदास जैसे संप्रदाय के अनन्य सेवक के पास तो कोई भी ऐसी वस्तु नहीं हो सकती थी, जो श्रीनाथ जी के समर्पित न हो। उन्होंने सरल भाव से उस वेश्या को भी श्रीनाथ जी के अर्पित कर दिया, ताकि वह सदैव उनकी नृत्य-गान से सेवा करती रहे।

श्रीनाथ जी की उत्थापन-झाँकी के अवसर पर उस वेश्या का नृत्य और गायन आरंभ हुआ। उसने कृष्णदास रचित निम्न लिखित पद को पूर्वी राग में गाया—

> मो मन गिरधर-छवि पर अटक्यौ।
> ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयौ तहाँई ठटक्यौ॥
> सजल स्याम-घन चरन नील है, फिर चित अनत न भटक्यौ।
> 'कृष्णदास' कियौ प्रान न्यौछावर, ये तन जग सिर पटक्यौ॥

कहते हैं कि इस पद का गायन समाप्त होते ही उस वेश्या की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु चाहें स्वाभाविक रूप से ही हुई हो, किंतु उक्त पद के अंतिम चरण का भाव और वेश्या के आकस्मिक देहावसान से यह समझा गया कि कृष्णदास की भावना के अनुसार उनकी अर्पित की हुई वस्तु को श्रीनाथ जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है।

देहावसान—

कृष्णदास ने अनेक वर्षों तक मंदिर के अधिकारी पद से श्रीनाथ जी की सेवा की और उत्तमोत्तम पद-रचना द्वारा उनका कीर्तन किया। उनके देहावसान के कुछ समय पूर्व एक व्यक्ति ने कृष्णदास को तीनसौ रुपया देकर उनसे एक कूआ बनवाने की प्रार्थना की थी। कृष्णदास ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर कूआ बनवाने का कार्यारंभ कर दिया। उन्होंने आरंभिक व्यय के लिए दोसौ रुपया अपने पास रख लिये और शेष एक सौ रुपया एक वृक्ष के नीचे इस अभिप्राय से गाड़ दिये कि दोसौ रुपया समाप्त हो जाने पर उनका उपयोग किया जावेगा। कूए का निम्न भाग बन कर तैयार हो गया और ऊपरी भाग बनना शेष था कि दोसौ रुपया समाप्त हो गये। अब कृष्णदास शेष एकसौ रुपया लगा कर कूआ को पूर्ण करना चाहते थे कि आकस्मिक दुर्घटना से यह कार्य न हो सका।

कहते हैं एक दिन कृष्णदास उस अधूरे बने हुए कूए का निरीक्षण करने गये थे। वे कूए के किनारे पर अपने हाथ की छड़ी के सहारे खड़े थे कि अकस्मात छड़ी के फिसल जाने से वे कूए में गिर गये और उनकी मृत्यु हो गयी। इस दुर्घटना के कारण वह कूआ भी अधूरा बना पड़ा रहा। कुछ समय पश्चात् गो० विट्ठलनाथ जी को कूआ बनने और उसके अपूर्ण रह जाने की बात ज्ञात हुई और किसी साधन से उनको यह भी मालूम हो गया कि उस कार्य के लिए एकसौ रुपया अमुक वृक्ष के नीचे गड़े हुए हैं। उन्होंने विचार किया कि कृष्णदास की अकस्मात मृत्यु हो जाने के कारण यह गड़बड़ी हो गयी है और जब तक कुल अमानती रुपया लगाकर कूए को पूरी तरह न बनवा दिया जावेगा, तब तक कृष्णदास की दिवंगत आत्मा को भी शांति मिलना असंभव है, अतः उन्होंने वृक्ष के नीचे गड़े हुए रुपयों को निकलवा कर कूआ को पूर्ण करा दिया। यह कूआ गोवर्धन के पूछरी स्थान के पास 'कृष्णदास का कूआ' नाम से प्रसिद्ध है। उनका देहावसान सं० १६३८ से पूर्व, संभवतः सं० १६३६ में हुआ था।

काव्य-रचना—

कृष्णदास ने शृंगार-भक्ति पूर्ण अनेक पदों की रचना की है। वार्ता से ज्ञात होता है कि वे प्रायः सूरदास की प्रतियोगिता में अपने पदों की रचना किया करते थे, जिसके कारण कभी-कभी उनकी रचना में सूरदास के भावों की छाया भी आ जाती थी। उनकी आसक्ति रास-लीला में थी, अतः उनके काव्य में प्रिया-प्रियतम के विहार विषयक पदों की अधिकता है। उन्होंने अतिशय शृंगार प्रधान खंडिता के पद भी प्रचुर संख्या में रचे हैं।

काव्य-संग्रह

बाल-लीला—

नंद कौ लाल ब्रज पालने झूलैं ।
अलक अलकावली,तिलक गोरोचना,चरन अंगुष्ट मुख किलकि फूलैं ॥
नैन अंजन-रेख,भेख अभिराम सुठि,कंठ केहर करज किंकिनि कटि-मूलैं ।
'कृष्णदास' नाथ रसिक पिय गिरवर-धरन,निरखि नागर देह-गेह भूलैं ॥१॥

★

आरती करत जसोदा प्रमुदित फूली अंग न मात ।
बलि-बलि कहि दुलरावति, आनँद मगन भई पुलकात ॥
कनक-थार रतनन-दीपावलि, चित्र लिखी सी पाँति ।
कल सिंदूर दूब दधि अच्छत, तिलक करत बहु भाँति ॥
अनंत चतुर विधि बिबिध भोग दै,बाजत दुंदुभी बहु जाति ।
नाँचत गोप कुमकुमा छिरकत, देत अखिल नग दाँति ॥
बरषत कुसुम निकर सुर नर मुनि, व्रज जुवती मुसिकात ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर श्री मुख, निरखत जस ससि-काँति ॥२॥

★

जै-जै लाल गोवर्धन धारी, इंद्र-मान भंग कीनौं ।
बाम बाहु राख्यौ गिरि-नायक, दासन कों सुख दीनौं ॥
सात दिवस सुरपति पचि हारयौ,गोसुत-सींग न भीनौं ।
'कृष्णदास' स्वामी मोहन के, पाँय परयौ मति-हीनौं ॥३॥

★

जीत्यौ-जीत्यौ जसोदा कौ नंदन, मधुवनि वृष्टि निवारी ।
बाम बाहु राख्यौ गिरि-नायक, गोकुल आरति टारी ॥
इंद्र खिसाय जोरि कर बिनवै, मैं अपराध कियौ भारी ।
तू दयालु करुनामय माधौ, प्रनत हृदै भय-हारी ॥
बाल-बिनोद बाल-लीला रस, अद्भुत केलि बिहारी ।
'कृष्णदास' व्रजवासी बोलत, लाल गोवर्धन-धारी ॥४॥

★

हरि मोहन की मोहन बानिक ।
मोहन रूप मनोहर मूरति, मोहन मोहे अचानक ॥
मोहन बरुहा चंद सिर भूषन, मोहन नैन सलोल ।
मोहन तिलकु भाल मनमोहन, मोहन चारु कपोल ॥
मोहन श्रवन मनोहर कुंडल, मृदु मोहन के बोल ।
'कृष्णदास' गिरिधरन मनोहर, नख सिख प्रेम कलोल ॥५॥

छवि-वर्णन—

आवत बनहिं कान्ह गोप-बालक सँग,
नेंचुकी-खुर-रेनु छुरित अलकावली।
भौंहैं मनमथ-चाप, वक्र लोचन बान,
सीस सोभित मत्त मयूर चंद्रावली॥
उदित उडुराज सुंदर सिरोमनि बदन,
निरखि फूली नवल जुवती-कुमदावली॥
सकुच अरून बिंबाफल हसति,
कहत कछु प्रगट होत कुंद रसनावली॥
श्रवन कुंडल, भाल तिलक, वेसरि नाक,
कंठ कौस्तुभ-मनि सुभग त्रिवलावली।
रत्न हाटक खचित, पुरसि पदकनि-पाँति,
बीच राजत सुभ पुलक मुक्तावली॥
वलय कंकन बाजूबंद, सोभित आजानु भुज,
मुद्रिका कर दल, बिराजति नखावली।
कर तर मुरलिका मोहित अखिल विस्व,
गोपिका जनमसि ग्रसित प्रेमावली॥
कटि छुद्र घंटिका जटित हीरा मई,
नाभि अंबुज वलित भृंग रोमावली॥
धाय बहुतक चलत भक्त-हित जानि पिय,
गंड मंडल रुचिर स्रम-जल कनावली॥
पीत कौसेय परिधान सुंदर अंग,
चरन-नूपर-वाद्य गीत सबदावली॥
हृदय 'कृष्णदास' गिरिवरधरन लाल की,
चरन-नख-चंद्रिका हरति तिमिरावली॥६॥

★

लाल! तेरे चपल नैंन अनियारे।
नंदकुमार सुरति-रसभीने, प्रेम रंग रतनारे॥
कछु असरीझे चकित चहूँ दिसि, नव वर जोवन तारे॥
मानों सरद कमल पर खंजन, मधुप अलक घुँघराले॥
एजू मीन घनस्याम सिंधु में, विलसत लेत झकारे।
गोवर्धनधर जान मुकुटमनि, 'कृष्णदास' प्रभु प्यारे॥७॥

हिंडोरे माई झूलत लाल बिहारी।
संग झुलति वृषभानु-नंदिनी, प्रानन हूँ तें प्यारी॥
नीलांबर पीतांबर की छवि, घन दामिनि मनुहारी।
बलि-बलि जाय जुगल चंदन पर,'कृष्णदास'बलिहारी॥८॥

*

झूलै मेरी प्यारी हिंडोरे, गोपाल लाल झुलावत हैं रे।
कंचन रतन जटित के खंभन, डोरी लाल श्रमोरे॥
नौतन बसन आभूषन पहरैं, कंचुकी सौंधे बोरे।
काजर रेख बनी नैनन में, पीतम कौ चित चोरे॥
ललितादिक झुलवति आनंद भरि, छवि की उठत झकोरे।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर की छवि, सदा रहो मन मोरे॥९॥

*

पौढ़ि रही सुख-सेज छबीली, दिनकर-किरन झरोखहिं आई।
उठि बैठे लाल, बिलोकि बदन-बिधु, निरखत नैना रहे लुभाई॥
अधर खुले पलक ललन मुख चितवत, मृदु मुसकात हँसि लेत जँभाई।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर नागर, लटक-लटकि हँसि कंठ लगाई॥१०॥

*

नव निकुंज तें आवति राधा, बनी है चाल सुहावनी।
मन की हरन, बिगसन मुख-कमल की, सोभा कहा कहों देखन उदित तरुनी॥
तरुन जलद नव स्याम के संग में, रसभरी भेटति भूतल भरनी।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर पिय सों, कीनों तैं रसिक रसीली बरनी॥११॥

*

नैननि देखि लजाने नव कुरंग।
मेरे जानें अस गुन बदन चंद कौ, क्लांत कियौ मान-भंग॥
रोम-रोम सौभाग्य देखियत, को कहि बरन, जानें न अंग।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर प्रीतम, बिलसत है वर सुहहिं तरंग॥१२॥

*

तेरे चपल नयन जुग खंजन तें नीके।
ताप हरन अति विदित विस्व महिं, देखत सब दल लागत फीके।
स्याम स्वेत राते अनियारे, गिरिधर कुंजर रसद सुख जीके॥
'कृष्णदास' सुरति कौतुक बस, प्यारी दुलरावति आपने पिय के॥१३॥

झूलत सुरंग हिंडोरे मुकुट धरि, बैठे हैं नंदलाल।
लाल काछिनी कटि पर बाँधें, उर सोभित बनमाल॥
बाम भाग वृषभानु-नंदिनी, चंचल नैन विसाल।
'कृष्णदास' दंपति-छवि निरखत, अँखियाँ भईं निहाल॥१४॥

*

अदभुत जोट स्याम-स्यामा वर, विहरत वृंदाबन चारी।
रूप कांति बल वैभव महिमा, रटत वेद-श्रुति-मति हारी॥
पदहिं विलास कुनित मनि-नूपुर, रुनित मेखला कुनकारी।
गावत, हस्तक-भेद दिखावत, नाँचत गति मिलवत न्यारी॥
किलकत, हँसत, कनखियन चितवत, प्यारे तन प्रीतम प्यारी।
कंठ बाहु धरि मिलि गावत हैं, ललितादिक सखि बलिहारी॥
मूरतिवंत सिंगार सुकीरति, निरखि चकित मृग अलि-नारी।
'कृष्णदास' प्रभु गोवरधन-धर, अतिसय रसिक वृषभानु कुँवारी॥१५॥

*

तेरे नैनन की बलि जाऊँ।
मोहनलाल बाल रसभीने, जिय भावत यह नाऊँ॥
बलि-बलि चारु विलोकनि ऊपर, बलि-बलि गोकुल गाऊँ।
बलि-बाल 'कृष्णदास' बलिहारी, गुनिजन-चित विश्राऊँ॥१६॥

*

बरनत तौ न बनै सुनि सजनी, रँगमग्यौ भेष बन्यौ गोपाल कौ।
कहि न सकैं रसना होइ कोटिक, रूप गोवरधन-धारी लाल कौ॥
स्याम-धाम कमनीय बरन सखि, मानों तरुन घन नव तमाल कौ।
जुवती लता गात उरझानी, पान करत मधु मधुप-माल कौ॥
नख-सिख कोटिं मदन लावन्य छबि, भूषन बसनहिं नैन बिसाल कौ।
'कृष्णदास' प्रभु सुरति सुधानिधि, ताप हरन त्रय बिरह-ज्वाल कौ॥१७॥

*

वृंदाबन अदभुत नभ देखियत, बिहरत कान्हर प्यारौ।
गोवरधन-धर स्याम चंद्रमा, जुबतिन-लोचन तारौ॥
सुखद किरन रोमावलि वैभव, उर नव मनिगन हारौ।
ललन-जूथ पर भेष विराजत, सुरति स्रमित अनुसारौ॥
ब्रज-जन-नैन-चकोर मुदित मन, पान करत रसधारौ।
'कृष्णदास' निरखि रजनीकर, जलधि हुलस बारंबारौ॥१८॥

राधा-वर्णन—

भादों सुदि आठैं उजियारी, आनँद की निधि आई ॥
रस की रासि, रूप की सीमा, अँग-अँग सुंदरताई ।
कोटि बदन वारों सुसिकनि पर,मुख-छवि वरनि न जाई ॥
पूरन सुख पायौ ब्रज-वासी, नैंनन निरखि सिहाई ।
'कृष्णदास' स्वामिन ब्रज प्रगटीं, श्री गिरिधर सुखदाई ॥१६॥

*

प्यारी लाड़िली पालनैं झूलैं ।
रंग महल रचि रच्यौ विधाता, निरखि-निरखि मन फूलैं ॥
नव निधि-सिधि जाकी आज्ञाकारिनि,सोइ-जोई कीरति-बाला ।
सरस सरोवर भान-भवन में, प्रगटी है कुल-पाला ॥
आजु उदौ सब ब्रज मंडल कौ, गोरी रसिक गुपाल ।
'कृष्णदास' प्रभु अति आनंदे, जोरी परम रसाल ॥२०॥

*

ब्रज में रतन राधिका गोरी ।
हरि लीनी वृषभान-सुवन में नंद-सुवन तन चोरी ॥
गुंझा अलक सहित कुसुमावलि और सुरंग पत्र डोरी ।
पिय भुज कंध धरै सोभित मनों,घन-दामिनि की जोरी ॥
कालिंदी तट केलि कुलाहल, सघन कुंज बन खोरी ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर नागर, नागरि नवल किसोरी ॥२१॥

*

रसिकिनी राधा रस भीनीं ।
मोहन रसिक लाल गिरिधर पिय, अपने कंठमनि कीनीं ॥
रसमय अंग, अंग रस रसमय, रसिक रसिकता चीन्हीं ।
उभय स्वरूप की रति न्यौछावर, 'कृष्णदास' कों दीनीं ॥२२॥

*

भजहिं सखि मोहन नँदनंदनहिं ।
तू ब्रज-सर की नवल कुमुदिनी, नवल रूप वृंदावन-चंदहिं ॥
जिहि बंदसु होयहिं नटनागर, सुनि नागरि रचहिं ता बंदहिं ।
नव निकुंज मिलि लीलासागर,सुभल करहिं मलयानिल मंदहिं ॥
किसलय दल कोमल सज्या पर, सुमुखि अनुभवहिं केलि सुछंदहिं ।
मोहनलाल गोवर्धनधारी, 'कृष्णदास' प्रभु आनँदकंदहिं ॥२३॥

रास—

रास–रस गोविंद करत बिहार।
सूर-सुता के पुलिन रम्य महँ, फूले कुंद मँदार॥
अद्भुत सत दल निकसति कोमल, मुकुलित कुमुद कल्हार।
मलय पौन बहै, सरद पूर्निमा-चंद्र, मधुप झंकार॥
सुघर राय, संगीत–कला–निधि, मोहन नंद-कुमार।
ब्रज-भामिनि सँग प्रमुदित नाँचत, तन चर्चित घनसार॥
उभय स्वरूप सुभगता सीसा, कोक-कला सुखसार।
'कृष्णदास' स्वामी गिरिधर पिय, पहिरैं रस मय हार॥२४॥

*

नूतन गोपाल संग राधिका बनी।
बाहु दंड भुजन मेलि, मंडल मधि करत केलि,
सरस गान स्याम धरैं संग भामिनी॥
मोर मुकुट कुंडल छवि, काछिनी बनी विचित्र,
झलकत उर हार विमल, थकित चाँदनी।
परम मुदित सुर नर मुनि, बरषत सब कुसुम अति,
वारति तन मन प्रान, 'कृष्णदास' स्वामिनी॥२५॥

*

जै-जै स्याम धाम विलोल लोचन, सुभग नंद–किसोर।
कुनित बेंनु सुराग संचित, राधिका–मन–चोर॥
जै-जै चरन नूपुर पीत पट पर, कुलित किंकिनि जाल।
उर सुदेस दुरे अलंकृत, वैजयंती माल॥
जै–जै कमल वरन बन्यौ टिपारौ, ओढ़नी रंग लाल।
मकर कुंडलि कुटिल कुंतल, त्रिजग नैंन विसाल॥
जै–जै कमल वरन, लंपट अलक, जै मधुकरन की माल।
कहै 'कृष्णदास' विलास जै, गिरवरधरन मोहनलाल॥२६॥

*

नाँचत रास में गोपाल संग, मुदित गोकुल की नारी।
तरुन तमाल स्याम लाल, कनक बेलि प्यारी॥
चलि नितंब नूपुर कटि, लोल बंक ग्रीवा।
राग तान मान सहित, बेंनु गान सींवा॥
स्रम–जल कन-कन भरत, सुभग रंग रेनु सोहैं।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिवरधर, व्रज–जन मन मोहैं॥२७।

रूपासक्ति—

ग्वालिन कृष्न-दरस सों अटकी।
बार बार पनघट पर आवत, सिर यमुना जल मटकी॥
मन मोहन कौ रूप सुधानिधि, पिवत प्रेम-रस गटकी।
'कृष्णदास' धन्य धन्य राधिका, लोक-लाज सब पटकी॥२८॥

*

लागी रे लगनियाँ सोहना सौं, लागी रे लगनियाँ।
सुंदर स्याम कमल दल लोचन, नंद जू कौ छैल छिकनियाँ॥
कछु टौना सौं डारि गयौ री, कैसे भरन जाऊँ पनियाँ।
'कृष्णदास' की प्यास बुझै जब, निरखौं गिरि के धरनियाँ॥२९॥

*

गिरिधर देखेंई सुख होय।
नैनवंत कों यहै परम फल, यौंही बिधित त्रई लोय॥
महामत्त नील अंबुज कौं, रूप लियौ है निचोय।
'कृष्णदास' नाथ नव रंगहिं, मिलें बिरहै दुख होय॥३०॥

*

पिय कौ मुख देख्यौ री नैननि लागी चटपटी।
भूल्यौ है खंडिता भाव, तन कोटि गनौं चाव, उँमगि परी मिलन सटपटी॥
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर प्यारी, तासौं मिले करत खटपटी।
वारौं तन मन प्रान जीवन धन, देखत पाग लटपटी॥३१॥

*

कमल मुख देखत कौन अघाय।
सुन री सखी! लोचन अलि मेरे, मुदित रहे अरुझाय॥
मुक्तामाल लाल उर ऊपर, जनु फूली बनजाय।
गोवर्धन के अंग-अंग पर, 'कृष्णदास' बलिजाय॥३२॥

*

नीकौ मोहि लागै श्री गिरिधर गावै।
तत्थेई, तत्थेई, तत्थेई, तत्थेई, भैरव राग मिलि मुरली बजावै॥
नाँचत नृप वृषभान-नंदिनी, औंघर गति तरंग उपजावै।
नूपुर रुनित, कुनित मनि-कंकन, जुवति-जूथ रस-रासि बढ़ावै॥
सुरति देत मधु मत्त मधुप-कुल, एक ताल सब के जिय भावै।
गिरिधर पिय प्यारी के पद-रज, 'कृष्णदास' न्यौछावरि पावै॥३३॥

प्रेमासक्ति—

सुंदर नंदनँदन जो हौं पाऊँ ।
अंग सँग लाग मदन मनोहर, या जाड़े कों देस निकारौ दिवाऊँ ॥
मृग मद अगर कपूर कुमकुमा, मिले अरगजा देह चढ़ाऊँ ।
विविध सुगंध सुबन बेसन सखि, सघन निकुंज में सैन बिछाऊँ ॥
राग रागिनी उरप सुरप गति, सुर सच मधुरें गाऊँ ।
'कृष्णदास' प्रभु गोवर्धन-धर, रसिक सिरोमनि सुविधि रिझाऊँ ॥३४॥

*

आजु सुहावनी रात, लालन मेरैं ही आए ।
तन मन फूली अंग ना सँमावत, कुंजन करत बधाए ॥
इक रसना गुन कहँ लगि बरनौं, नखसिख रूप मेरे हिए समाए ।
गिरिवर-धर पिय रस बस करि लीनौं, 'कृष्णदास' बलि जाए ॥३५॥

*

छाँड़ि चटपटी करि मिलन की करनी ।
तेरे अंग-अंग पर बलि-बलि जाय, प्यारे के सन्मुख सखि धारै पग धरनी ॥
हौं तोकों लैन पठाई मुदित-मुदित आई, तू आगें तें तानि रही जीय कछु अरनी ।
केहू न कहत बनै गुन रासि कौन कहि, 'कृष्णदास' प्रभू गिरधर-मन-हरनी॥३६॥

*

कंचुकी के बंद तरकि-तरकि टूटे, देखत मदनमोहन घनस्यामहिं ।
काहे कों दुराव करत है री नागरि ! उमगत उरज दुरत क्यों यामहिं ॥
कछु मुसकात, दसन छवि सुंदर, हँसत कपोल लोल भ्रू भ्राजहिं ।
रवि-ससि जुगल परे रति फंदन, स्रवननि पलक ताटंक के नामहिं ॥
वदन-कमल पर, अलक मधुप वर, खंजन नैंन लेत विस्रामहिं ।
सुन'कृष्णदास' रसिक गिरधर रँग, रंगित सुमुखि लजावत कामहिं ॥३७॥

*

निकुंज में बेंनु मधुर कल गावै ।
सप्त सुरन में रसिकराय पिय, रसिकिनि ! तोय बुलावै ॥
सरद-चंद रजनी द्रुम रंजित, मनमथ मोह बढ़ावै ।
औवर तान, मान संपूरन, संगीत सुर उपजावै ॥
वृंदा विपिन विविधि कुसुमावलि, मधुप कमल उरझावै ।
कोकिल, मोर, चकोर सोर, सुक, मंगल सब्द सुनावै ॥
सुंदर-सुभग, सुखद जमुना तट, रसिकन कों जिय भावै ।
'कृष्णदास' गिरिधर सुख-सागर, भाग बड़े सोई पावै ॥३८॥

हरि–मुख देखें ही जीजै।
सुनहु सुंदरी नैन सुभग-पुट, स्याम-सुधा पीजै॥
न करि विलंब रसिक मनहर, गति पल-पल सुख छीजै।
बासर केलि नवल जोवन धन, बिलसि लाभ लीजै॥
गिरिधरलाल उरझि बीथिन में, बर भूषन कीजै।
पद्मराग-रज 'कृष्णदास' कों, न्यौछावरि दीजै॥३९॥

*

तरनि-तनया तीर आवत है प्रात समै, गेंदुक खेलत देख्यौ आनँद कौ कंदवा।
काछिनी किंकिनी कटि पीतांबर कसि बाँधैं,लाल उपरैना सिर मोरन के चंदवा॥
पंकज नैना सलोल बोलत मधुरे बोल, गोकुल सुंदरि सँग आनँद सों छंदवा।
'कृष्णदास' प्रभु गिरगोवरधनधारी लाल, चारि चित मनि खोलत कंचुकीके बंदवा॥

★

माई री! तैं अधिक चातुरी जानी, जु कंचुकी न सँभारी।
आनंद रस बस देह भूलि गई, मिलत गोवरधन-धारी॥
कहा कहूँ गुन-रासि अंग अँग, चलत सु मधुर गति भारी।
'कृष्णदास' प्रभु रसिक लाल के, तन मन प्रान पियारी॥४१॥

*

कंचन मनि मरकत रस-ओपी।
नंद-सुवन के संगम सुख कर, अधिक विराजति गोपी॥
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित, सुरति-धुजा सुख रोपी।
बदन कांति कै सुनरी भामिनि! सघन चंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन कों, भौंह भुजंगम कोपी।
'कृष्णदास' स्वामी वस कीन्हें, प्रेम-पुंज की चोपी॥४२॥

*

जानी माई तेरे मन की रीति।
छुटी अलक लट निरखि नँचावति, लाल गोपाल सों बाढ़ी है प्रीति॥
गति डगमगत, चपल चख अचंचल, सिखवत कोकिला की नीति।
रसिकराय गिरिवरधर मिलतहिं, 'कृष्णदास' गावत तब गीति॥४३॥

★

नव कंज दल नैन रति-रंग रँगे।
प्रिया प्रेमावली रस-रास रसमसें, आलस बर माधुरी अंग अंगे॥
रूप जोवन चपल ताहि गुन आगरे, मीन खंजन मधुप मान भंगे।
कहै 'कृष्णदास' कामिनी उर मध्य गति, गिरिधरन सुखद प्रतिबिंब संगे॥४३॥

केलि-वर्णन—

अरुन उदय डगमगति चरन गति, कवन भवन तें तू आई री।
सरद-सरोवर स्याम अंग महिं, प्रमुदित तन-मन न्हाई री॥
प्रीय की प्रीति की फूल जनावति, बिकसति बदन जँभाई री।
नव विलास सों गिरिधर कीरति, 'कृष्णदास' हँसि गाई री॥४५॥

★

अबहीं तू तौ नंदनँदन संग खेली।
रूप निधान रसिक नट नागर, पायौ तैं परम सहेली॥
महिमा कहा कहौं सुनि सजनी, स्यामसिंधु में झेली।
सब गुन सहित अनंदी मानों,प्रमुदित मिली मदन गिरि पेली॥
मोहनलाल गोवरधन-धारी, मानी प्रीति-पहेली।
'कृष्णदास' प्रभु अपुने कंठ की, नव उर माला मेली॥४६॥

★

कहि न परै तेरे बदन की ओप।
झलकनि नव मोतिनहिं लजावति, निरखत ससि सोभा भई लोप॥
पग्न न लागति चाहति प्रिय तन, उन्नत भौंह घटाटोप।
चपल कटाच्छ कुसुम सर तानति, फुरत अधर कछु प्रेम प्रकोप॥
प्रात समय आए स्याम मनोहर, तम ही लड़ावत अपनी चोप।
'कृष्णदास' प्रभु गोवरधन-धर, अति नागर वर धरै वेष गोप॥४७॥

★

कटि-तट सोहति हेमनि दाम।
पीत काछ पर अधिक विराजत, न्याइ लजावत काम॥
कोहै न मोहन कों चित मोहति, चपल कुटिल भ्रू बाम।
अनु छिनु रटत, बेंनु कल कूजित, सुनि राधे तुव नाम॥
तेरे नील पट ओढ़ि रसिकवर, लेत दिवस के जाम।
'कृष्णदास' प्रभु गोवरधन-धर, सुभग सींव अभिराम॥४८॥

★

राधा रंग भरी नहिं बोलति।
मोहन मदनगोपल लाल सों, अपनौ यौवन तोलति॥
चाहति मिलन प्रान प्यारे कों, भेरौ मन टकटोलति।
छाँड़हुँ बहुत चातुरी भामिनि, कहँ हमसों झकझोरति॥
प्रात होन लागौ सुनि सजनी, अबहीं तमचर बोलति।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर पिय हित, सारँग नैन सलोलति॥४९॥

झूमत अलक तेरे कमल बदन पर, अधिक नीके लागत नैंन आलस री।
कहा कहूँ सोभा उरज युगल नव, लै चली रसिक वर मंगल कलस री॥
जानी मैं तैं निधि पाई निकुंज महिं, यातें करत ही नैंन ललस री।
'कृष्णदास'प्रभु गिरिधर प्रतीति बाढ़ी, नख-पद पाँति सोहै मोहन ललस री॥५०॥

*

देखो माई ! मानों कसौटी कसी।
कनक-बेलि वृषभानु-नंदिनी, गिरिधर उर जु बसी॥
मानों स्याम तमाल कलेवर, सुंदर अँग मालती घुसी।
चंचलता तजि कैं सौदामिनि, जलधर अंग लसी॥
तेरौ बदन सुधार सुधानिधि, विधि कौने भाँति हँसी।
'कृष्णदास' सुमेरु-सिंधु तें, सुरसरि धरनि धँसी॥५१॥

*

भ्रकुटि धनुषयुत नैन कुसुम-सर, जिहिं कै लागत सो परितानै।
सहजहिं सुभग छबीली सोई, गोवरधन-धर जाकी मानै॥
हाव-भाव नव सुरति तरंगिनि, सब कोक कला सोइ जानै।
'कृष्णदास'प्रभु जुबति-जूथपति,करि लीन्हों तिहिं अपनौ लानै॥५२॥

*

गोवरधन-धारी लाल नित्य नव रंग।
नव बर वृंदावन, नव घनस्याम तन, नवल रूप देखत थकित कुरंग॥
अँग-अँग नवल कटि पीत पट, नवल घोष सुंदरी लीने पिय संग।
'कृष्णदास' प्रभु हरि नवल,नवल,सीमा, नवल नयन चल सुरति तरंग॥५३॥

*

तैं गोपाल हेत कसूंभी कंचुकी रँगाय लई,
भली भई सुफल करी आजु निसि सुहावनी।
रोम-रोम फूल चाव, चपल नैंन भृकुटि भाव,
अभरन चल अंग चाल, डगमगी सुहावनी॥
सुभग सारी झुकत तन, स्याम पाट कुसुम नींकी,
तनसुख पचरंग छींट, ओढ़नी सुहावनी।
सोहत अलक बिथुरि बदन, मोहन लावन्य-सदन,
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर, केलि अति सुहावनी॥५४॥

हरि अनुभवति जुवति बड़भागी ।
राधा रसिक नंदनंदन के सुखनिधि चरन-कमल अनुरागी ॥
कोक-कला संगीत निपुन सखि, पिय संगम रति-रस निसि जागी ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर पिय-मुख, देखत नैन टकटकी लागी ॥५५॥

★

इक चितवनि चितै रसिक तन, गुपत प्रीति कौ भेद जनायौ ।
मुख की रुखाई मिटत नहिं कबहूँ, हृदै कौ प्रेम कैसै जात दुरायौ ॥
सगबगी अलक बदन पर बिथुरीं, यह बिधि लाल रहसि चित लायौ ।
'कृष्णदास' प्रभु रसिक मुकुट-मनि, नव निकुंज अपनों करि पायौ ॥५ ॥

★

संध्या बदे बोल मनमोहन, प्रात आय कीन्हे सब साँच ।
तन-मन उनहीं अभासत प्रीतम, काहे कों लाल ! करत छै-पाँच ॥
यह तौ बिथा सो जानै गिरिधर, जाकें लगी बिरह की आँच ।
'कृष्णदास' जाऊँ बलि ताकी, जिन लीन्हे सरबस दै जाँच ॥५७॥

★

बने हो रसमसे आए प्रात ।
आलस भरे बदन की सोभा, निरखि लजत जल-जात ॥
संध्या बदे बोल कीये साँचे, काहे कों लाल लजात ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर चितवत, जुवति मृगी तकि बात ॥५८॥

★

कौन के भुराये भोर आए हो भवन मेरे,
ऊँची दृष्टि क्यों न करौ,कौन सों लजाने हो ।
जाही के भवन भाव, ताही के धारिए पाँव,
काहै ऐसी चाव परी, कौन गली आने हो ॥
भोरी-भोरी बतियन भोरवन लागे मोहि,
श्री गिरधारी तुम तौ निपट सयाने हो ।
'कृष्णदास' प्रभु छोड़ो, अटपटी रहे हो लाल,
आजही तुम्हें मैं नीके करि जाने हो ॥५९॥

★

अरुन उदय नीके लागत हैं, सुनि सजनी ! तेरे नैन रसमसे ।
मानहु सरद-कमल संपुट महँ, जुग अलि मधुबस बिवस बसे ॥
स्याम-स्वेत आलस रस भावित, भाव समूह कषाय कसमसे ।
'कृष्णदास' रसिक गिरिधर प्रिय, सुखद सहज अंजन सों मसमसे ॥६०॥

तुमसों बोलिवे की नाँहीं।
घर-घर गवन करत हो सुंदर, पिय चित नाँहीं एक ठाँहीं॥
कहा कहौं साँवल घन तुमसों, समुझत हो मन माँहीं।
'कृष्णदास' प्रभु प्यारी के बचन सुनि, हृदय माँझ मुसिक्याँहीं॥६१॥

★

ऐसी मानत ही अपुने जिय में, पिय से मिलत ही करोंगी लड़ाई।
देखत बदन धीरज न धरौ मन, लाल गिरिधर नहिं हौं जान पाई॥
कहा कहौं, सरबस चोरौ हखि, रूप दिखाय ठगौरी लाई।
'कृष्णदास' प्रभु रसिक-सिरोमनि, लै भुज बीच बातहिं अरुझाई॥६२॥

★

इहिं मन कैसे कै रहति रहै राखौ।
जेहि मधुपति होइ गिरिधर प्रिय कौ, बदन कमल रस चाखौ॥
जो कछु मैं कीन्हौं पर बस होइ, इतनौ ही सत साखौ।
बार-बार बहु विधि समुझायौ, ऊँचौ-नीचौ भाखौ॥
केहु न मानत, महा हठीलौ, कही तुम्हारी आखौ।
'कृष्णदास' कहैं कहाँ लौं बरनौं पाँच चोर मिलि काखौ॥६३॥

★

रंग रसिक नंदनंदन, रसिकिनी नारि,
मृग-नैनी कमल-नैन नागर-नागरी।
गिरिधर कल हंस-हँसनी, मानों तरुन-तरुनि दोऊ,
समतूल गुनन सागर-सागरी॥
करहिं केलि बन-विहार, निरखि जोट लजित नारि,
गावत मिलि बदन चारु, ललित राग री।
खग मृग पसु सुनत नाद, पिवत अधर सुधा स्वाद,
'कृष्णदास' बदत बाद सुफल भाग री॥६४॥

★

जिहिं विधि प्रिय बेगि मिलहिं, करहिं किन सोई बंद।
विरह-पीर-हरन रसिक, सुंदर प्यारौ गोविंद॥
ब्रज-सर की कुमुदिनी तू, हरि हैं वृंदाबन-चंद।
बचन किरन बिगलत अमिय, पीवहिं श्रुति-पुट स्वच्छंद॥
तू करनी वर नंदसुत लाल हैं मद गयंद।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर नागर, रति-सुख आनंद-कंद॥६५॥

उत्सव संबंधी—

मानों ब्रज-करिनि चली मदमाती हो।
गिरिधर गज पै जाय,ग्वालि मदमाती हो॥
कुल-अंकुस मानै नहीं, चली संकल-भेद तुराय।
वृंदाबन-बीथिन फिरै, तैसिय चालि सुभाय॥
अवगाहै जमुना नदी, करति तरुनि जल केलि।
सब मिलि छिरकैं स्याम कौं, सुंड-दंड भुज पेलि॥
कुच-कुंभस्थल ऊभरे, मुकुता-हार रुराय।
मानौं गिरि बिच सुरसरी, जुगल प्रवाह बहाय॥
घूमत गलबँहियाँ गहै, लोक-लाज तजि कान।
मनौं महावत पेलिकैं, देत सुरति सुख दान।
किंकिनि-नूपुर बाजहीं, घुँघरू घंट समान॥
मनौं करेब-करेबनी, केलि-किलाबा जान॥
तिनके पट अंचल उड़े, घन-दामिनि उनहारि।
'कृष्णदास' क्रीड़ा करैं, ब्रजपति ब्रज की नारि॥६६॥

*

माई! मोरन संग मदनमोहन लिऐं तरंग नाँचै।
दच्छिन अंग टेढ़ौ, सिर टेढ़ौ तैसोई धर,
टेढ़े किऐं चरन-जुगल नृत्य-भेद साँचै॥
मृदंग मेघ बजावैं, दादुर सुर-धुनि मिलावैं,
कोकिला अलाप गावैं, वृंदाबन रंग राँचै।
गावैं तहाँ 'कृष्णदास' गिरिधर गोपाल पास,
राग धम्मार, राग मलार मोद मन माँचैं॥६७॥

*

वृंदाबन-कुंजन में सुचि खसखानौ रच्यौ,
सीतल बयारि झुकि गौखन बहत हैं।
सुगंध गुलाबी जल, नाना बहु भाँतिन के,
लाय-लाय आय सखी सब छिरकत हैं।
धार धुरवा की छूटत है तहाँ पै नीकी,
दादुर-मोर-पिक स्वाँति-जल पियवत हैं।
'कृष्णदास' फुहारे छूटे, आनंद रितु मन लूटे,
झुकि-झुकि मेघ-धारैं हौदन भरत हैं॥६८॥

विनय—

जय-जय तरुन घनस्याम वर, सौदामिनी रुचिवास।
बिमल भूषन तारिकागन, तिलक चंद बिलास॥
जय नृत्य मान संगीत रस बस, भामिनी सँग रास।
बदन स्रम-जल-कन बिराजित, मधुर ईषद हास॥
बन्यौ अद्भुत भेष गावत, मुरलिका उल्लास।
'कृष्णदास' नमित चरन, हरिदासवर्य निवास॥ ६९॥

*

वंदे धरनि गिरिवर भूप।
राधिका मुख कमल लंपट मत्त मधुप सरूप॥
वंदे रसिक संगीत गुन-निधि कुनित बेंनु अनूप।
कहै 'कृष्णदास' विलास उर पर लोल माल अनूप॥ ७०॥

*

ध्यावत कान्ह विमल जस तेरौ।
गावत सिव-सारद मुनि नारद, प्रान जीवन-धन मेरौ॥
गावत वेद बंदिजन निसि-दिन, अरु मुनि-जूथ घनेरौ।
गावत सेष महेस विविध विधि, रस रसिकहिं सुख केरौ॥
गिरिधर पिय गावत ब्रजवासी, मिले प्रेम के घेरौ।
'कृष्णदास' द्वारे दुलरावत, श्री वल्लभ कौ चेरौ॥ ७१॥

*

जब तें स्याम-सरन मैं पायौ।
जब तें भेंट भई श्री वल्लभ, निज पति नाम सुनायौ।
और अविद्या छाँड़ि मलिन मति,श्रुतिपति दृगहिं दृढ़ायौ।
'कृष्णदास' सब जुग जन खोजत, अब निश्चय मन आयौ॥ ७२॥

*

परम कृपाल श्री नँद के नंदन, करी कृपा मोहि अपुनौ जानि कै।
मेरे सब अपराध निवारे, श्री वल्लभ की कानि मानि कै॥
श्री जमुनाजल–पान करायौ, कोटिन अघ कटवाए प्रान कै।
पुष्टि तुष्टि मन नेम अहर्निसि, 'कृष्णदास' गिरिधरन आन कै॥७३॥

*

मेरौ तौ गिरिधर ही गुनगान।
यह मूरत खेलत नैनन में, यही हृदय में ध्यान।
चरन-रेंनु चाहत मन मेरौ, यही दीजिऐ दान।
'कृष्णदास' कौ जीवन गिरिधर, मंगल रूप निधान॥ ७४॥

कदमखंडी में तानसेन के साथ संगीत संबंधी वार्तालाप करते हुए—

गोविंदस्वामी

जन्म सं० १५६२] [देहावसान सं० १६४२

★

५. गोविंदस्वामी

[सं० १५६२ से सं० १६४२ तक]

जीवन-सामग्री और उसकी आलोचना—

गोविंदस्वामी का जीवन-वृत्तांत 'अष्टसखान की वार्ता' सं० ६ और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' सं० १ में दिया हुआ है। वार्ता से इनके माता-पिता के नाम और इनके आरंभिक जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है। वार्ता से ज्ञात होता है कि पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर वे अपनी बहिन के साथ रहा करते थे। उनकी बहिन भी गो० विट्ठलनाथजी की शिष्या हो गयी थी। एक स्थान पर उनकी लड़की का उनसे मिलने आने का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व वे गृहस्थ थे और उनके संतान भी थी—कम से कम एक लड़की अवश्य थी।

वार्ता से ज्ञात होता है कि आरंभ में वे आंतरी ग्राम में रहा करते थे। आंतरी ग्राम की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई इसे दक्षिण के सतारा ज़िले का और कोई ग्वालियर रियासत का एक ग्राम बतलाते हैं, किंतु द्वारिकादास परीख के मतानुसार यहाँ पर भरतपुर राज्यांतर्गत आंतरी ग्राम से अभिप्राय है*। डा० दीनदयाल गुप्त भी इसी मत का समर्थन करते हैं†। वार्ता से ज्ञात होता है कि गोविंदस्वामी की लड़की उनसे मिल कर अकेली आंतरी ग्राम को वापिस चली गयी थी। इससे यह ग्राम ब्रज के निकट ही होना चाहिए; सुदूर दक्षिण और ग्वालियर रियासत में इसका स्थिति होना संभव नहीं है। फिर गोविंदस्वामी के काव्य में शुद्ध ब्रजभाषा के अतिरिक्त दक्षिण अथवा अन्य किसी स्थान की भाषा के शब्द भी नहीं मिलते हैं, अतः उनके जन्म और आरंभिक जीवन का संबंध ब्रज के निकटवर्ती भरतपुर राज्यांतर्गत आंतरी ग्राम से होना ही सिद्ध होता है।

---

* प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, गुजराती विभाग पृ० ६४

† " " ऐतिहासिक विवरण पृ० १८

श्री कंठमणि शास्त्री के मतानुसार उनका जन्म संवत् १५६०$, डा० दीनदयाल गुप्त के मतानुसार १५६२‡ और श्री द्वारिकादास परीख के मतानुसार सं० १५७३* में हुआ था। वार्ता में उनके जन्म-संवत् का उल्लेख न होने से अंतःसाक्ष्यों के आधार पर उपर्युक्त विद्वानों ने उनके जन्म संवत् का अनुमान किया है, किंतु इस संबंध में श्री परीख का अनुमान ठीक नहीं मालूम होता है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के प्रमाणानुसार उपर्युक्त तीनों विद्वान उनका संप्रदाय-प्रवेश सं० १५९२ में मानते हैं। संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व वे गृहस्थ का उपभोग कर चुके थे और उनके संतान भी थी। इसके साथ ही वे सुप्रसिद्ध गायक और कवि के रूप में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे और उनके कितने ही शिष्य भी थे। इन सब बातों से सिद्ध है कि संप्रदाय-प्रवेश के समय उनकी आयु कम से कम ३० वर्ष की अवश्य होनी चाहिए, अतः उनका जन्म संवत् १५६२ के लगभग ही मानना उचित है।

उनके देहावसान का यथार्थ संवत् भी अज्ञात है। उन्होंने गोसाईं जी के सातों बालकों की बधाई के पदों की रचना की है, अतः सातवें बालक घनश्याम जी के जन्म-काल—सं० १६२८ तक तो उनकी स्थिति मानी ही जा सकती है। 'श्री गिरिधरलाल जी के १२० वचनामृत' नामक ग्रंथ में गोसाईं जी के लीला-संवरण के पश्चात् ही उनके देहावसान का उल्लेख मिलता है। गोसाईं जी का देहावसान गत पृष्ठों में सं० १६४२ लिखा जा चुका है, अतः गोविंदस्वामी का देहावसान भी उसी संवत् में मानना चाहिए। श्री द्वारिकादास परीख के मतानुसार उनका देहावसान सं० १६४२ की माघ कृ०७को हुआ था†।

वार्ता से ज्ञात होता है कि वे सुकवि होने के अतिरिक्त अपने समय के विख्यात संगीतज्ञ भी थे। पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व ही वे कवि और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। 'दोसौ बावन वार्ता' के अंतर्गत राजा आसकरन की वार्ता में लिखा है कि संगीत-सम्राट तानसेन ने भी उनसे संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। उनका रचा हुआ कोई ग्रंथ प्रसिद्ध नहीं है। उनके स्फुट पदों का एक संकलन 'गोविंदस्वामी जी के कीर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है।

$ कांकरौली का इतिहास पृ०, १२०.ख

‡ प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, ऐतिहासिक विवरण पृ० १४

* ” ” गुजराती विभाग पृ० ६६

† ” ” ” पृ० ६५

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

गोविंदस्वामी का जन्म सं० १५६२ में वर्तमान भरतपुर राज्यांतर्गत आंतरी ग्राम में हुआ था। वे सनाढय ब्राह्मण थे। उनके माता-पिता तथा कुटुंब-परिवार के विषय में कोई विशेष वृतांत प्रकट नहीं है, किंतु यह निश्चित है कि वे विवाहित थे और उनकी एक लड़की भी थी। ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ समय तक गृहस्थ का उपभोग करने पर उनको संसार से विरक्ति हो गयी थी और वे व्रज के महावन ग्राम में जाकर भगवद्भजन और कीर्तन करने लगे थे। वे प्रायः महावन के ऊँचे टीलों पर बैठ कर संगीत शास्त्रोक्त विधि से सस्वर गायन किया करते थे।

उनकी शिक्षा के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं होता है, किंतु वे साधारणतः पढ़े-लिखे अवश्य थे। काव्य एवं संगीत शास्त्र का उन्होंने विधिपूर्वक अभ्यास किया था। वार्ता से ज्ञात होता है कि वे गायन विद्या के आचार्य, परमोच्च श्रेणी के गायक और उत्तम कवि थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे महावन में विख्यात थे और अनेक व्यक्ति उनके शिष्य हो गये थे। उनके सिखाये हुए पदों को कुछ लोग गोकुल में जाकर गो० विट्ठलनाथ जी को सुनाया करते थे। गोसाईं जी अत्यंत प्रसन्न होकर उन लोगों को ठाकुर जी का प्रसाद दिया करते थे। इससे ज्ञात होता है कि गो० विट्ठलनाथजी और गोविंस्वामी का साक्षात्कार होने से पूर्व ही वे एक दूसरे से परिचित हो गये थे।

पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा—

गोसाईं विट्ठलनाथ जी के अलौकिक चरित्र और उनकी भगवद् भक्ति से आकर्षित होकर सं० १५९२ में गोविंदस्वामी गोकुल आये और गोसाईं जी के सेवक होकर पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होगये। तब वे गोविंदस्वामी से गोविंददास होकर संप्रदाय के एकनिष्ट सेवक और गोसांई जी के परम भक्त बन गये। उनके साथ उनकी बहिन कान बाई भी रहती थी, जो स्वयं विट्ठलनाथ जी की सेविका थी।

स्थायी निवास और जीवनचर्या—

पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के अनंतर वे महावन से गोवर्धन चले गये और वहीं पर स्थायी रूप से रहने लगे। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की भक्ति और

कीर्तन–सेवा करते हुए उन्होंने अपने जीवन को सार्थक किया था। गोवर्धन के निकट कदंब वृक्षों के एक मनोरम उपवन में वे रहा करते थे। यह स्थान अभी तक 'गोविंददास की कदमखंडी' के नाम से प्रसिद्ध है।

वे संगीत शास्त्र के धुरंधर विद्वान और सुप्रसिद्ध गायक थे। अकबरी दरबार के विख्यात गायक संगीत सम्राट तानसेन भी गोविंदस्वामी की गायन कला पर अत्यंत मुग्ध थे। वार्ता से ज्ञात होता है कि तानसेन प्रायः गोविंद-स्वामी से मिलने आया करते थे और गोविंदस्वामी से उन्होंने गायन कला की कुछ शिक्षा भी प्राप्त की थी। अष्टछाप के कवियों में सूरदास और परमा-नंददास के अतिरिक्त गोविंदस्वामी ही सुप्रसिद्ध गायक थे। सं० १६०२ में जब गो० विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमें गोविंदस्वामी को भी सम्मिलित किया गया।

वार्ता के कई प्रसंगों में उनका श्रीनाथ जी के साथ हास्य-विनोद करने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उनकी भक्ति सखा भाव की थी। इस संबंध की कई कथाएँ वार्ता में लिखी हुई हैं। उनसे ज्ञात होता है कि श्रीनाथ जी बाल रूप में गोविंदस्वामी के साथ खेला करते थे और वे उनके साथ बाल–स्वाभोचित नटखटी भी किया करते थे। इससे सिद्ध होता है कि गोविंदस्वामी परम भक्त और सिद्ध कोटि के महात्मा थे।

अनन्य भाव—

गोवर्धन में रहते हुए वे सांसारिक संबंधों को भूल कर एकनिष्ट भाव से भगवद्‌भक्ति में लीन रहा करते थे। वार्ता से ज्ञात होता है कि विरक्त होकर घर छोड़ने के बहुत दिनों बाद उनकी लड़की उनसे मिलने आयी, और कुछ दिनों तक उनके साथ भी रही, किंतु उन्होंने एक बार भी उससे बातचीत नहीं की। उनकी बहिन ने जब उनसे इस उपेक्षा का कारण पूछा, तब उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि उनका मन एक मात्र श्रीनाथजी में लगा हुआ है, उसमें किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है।

वार्ता में लिखा है कि एक दिन प्रातःकाल गोविंदस्वामी गोकुल के यशोदा घाट पर बैठ कर भैरव राग का आलाप कर रहे थे। प्रातःकाल के शांत और सुखद वातावरण में राग का ऐसा समाँ बँधा कि आने–जाने वाले राहगीर भी मंत्र मुग्ध से हो गये। कहते हैं कि उन्हीं राहगीरों में अकबर बादशाह भी एक

साधारण यवन के वेष में छिप कर गाना सुन रहे थे । राग के गायन पर मुग्ध होकर अकस्मात बादशाह के मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनि निकल पड़ी । इन प्रशंसात्मक शब्दों को सुनकर गोविंदस्वामी ने उनकी ओर देखा और खिन्न मन से वे अपना गायन बंद कर उठ खड़े हुए । उन्होंने कहा कि उनका राग एक यवन के स्पर्श से भ्रष्ट हो गया और अब वह ठाकुरजी के काम का नहीं रहा । वे अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि फिर जीवन पर्यंत उन्होंने भैरव राग में श्रीनाथ जी का कीर्तन नहीं किया ।

देहावसान—

वार्ता में गोविंदस्वामी के अंतिम काल विषयक प्रसंग का कथन नहीं हुआ है, अतः उनके देहावसान का यथार्थ संवत् और तत्संबंधी अन्य बातें अज्ञात हैं । 'श्री गिरिधरलाल जी के १२० वचनामृत' नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि गोसाईं जी के लीला-संवरण का समाचार सुन कर वे इतने शोक संतप्त हुए कि उन्होंने उसी समय गोवर्धन की एक कंदरा में अपनी देह छोड़ दी थी । गोसाईं जी का निधन-काल गत पृष्ठों में सं० १६४२ लिखा जा चुका है । पुष्टि संप्रदाय की मान्यता के आधार पर गोविंदस्वामी का देहावसान भी सं० १६४२ की फाल्गुन कृ० ७ को हुआ था । गिरिराज पहाड़ी की जिस कंदरा में उनका देहांत हुआ था, उनके स्मरण में एक चबूतरा अभी तक उक्त कंदरा के निकट बना हुआ है ।

काव्य-रचना—

गोविंदस्वामी जैसी परमोच्च श्रेणी के गायक थे, उनकी काव्य-रचना वैसी उच्च कोटि की नहीं है ।उनका रचा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं है । ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने श्रीनाथजी के कीर्तन स्वरूप केवल स्फुट पदों की ही रचना की थी । उनके रचे हुए २५२ पदों का एक संग्रह पुष्टि संप्रदाय में विशेष प्रसिद्ध है। इन पदों के अतिरिक्त उनके रचे हुए कुछ अन्य पद कीर्तन संग्रहों में भी मिलते हैं । खोज में उनके प्रायः ६०० पद अभी तक प्राप्त हो चुके हैं । उनके काव्य के विषय राधा-कृष्ण की शृंगारात्मक लीलाएँ हैं । उनके रचे हुए कुछ पद बाल-लीला के भी प्रसिद्ध हैं ।

काव्य-संग्रह

बाल-लीला— झूलो पालने बलि जाऊँ।
स्याम सुंदर कमल लोचन, देखत अति सुख पाऊँ॥
अति उदार बिलोकि आनन, पीवत नाँहिं अघाऊँ।
चुटकी दै-दै नचाऊँ, हरि कौ, मुख चूँमि-चूँमि उर लाऊँ॥
रुचिर बाल-विनोद तिहारे, निकट बैठि कै गाऊँ।
बिबिधि भाँति खिलौना लै-लै, 'गोविंद' प्रभू कों खिलाऊँ॥१॥

★

झूलें पालने महर-सुत कर लिऐं नवनीत।
नैनन अंजन, स्याम बिंदुका, तन राजत पट पीत॥
बैंनी देखत मंद हँसत हैं, कछुक होत भयभीत।
दै करताल नँचावत गोपी, गावत मधुरे गीत॥
राई लौंन उतारत, बारत, होत सब्द जै-जीत।
पूरन ब्रह्म गोकुल में 'गोविंद', रसना करो पुनीत॥२॥

★

पीरीसी झगुली झीनी, कंठ सोहैं मोतीमनियाँ, रुनुकु-झुनुकु पाँय बाजत पैजनियाँ।
ताथेई ताथेई नाँचत आँगनियां, निरखि-निरखि हँसै नंदजू की रनियाँ॥
गृह-गृह तें जुरि आईं गोपी धनियाँ, मैया जू उठाय लीनीं लाइ दुरि कनियाँ।
करत न्यौछावर धन अरु धेंनियाँ, प्यारे पर वारि-वारि पीवै सब पनियाँ॥
ललित लढ़ैंते सिर सोहै सोंधे सनियाँ, मानहुँ जलज लागे आले-आले घनियाँ।
कुंडल की झलक ससि की किरनियाँ, गावै जन 'गोविंद' चतुर सुजनियाँ॥३॥

★

अहो दधि मथति घोष की रानी।
दिव्य चीर पहरै दक्खिन कौ, कटि किंकिनि की रुनझुन बानी॥
सुत के क्रम गावत आनँद भरि, बाल-चरित जानि जानी।
स्रम-जल राजै बदन कमल पर, मनहुँ सरद बरपानी॥
पुत्र-सनेह चुचात पयोधर, प्रमुदित अति हरपानी।
'गोविंद' प्रभु घुटुरुनि चलि आए, पकरी रई-मथानी॥ ४ ॥

★

कीड़त मनिमय आँगन रंग।
पीत ताफता कौ झगुला बन्यौ, है कुलही लाल सुरंग।
कटि किंकिनी घोर विस्मित सखी, धाय चलत बल संग॥
गोसुत-पूछ भ्रमावत कर गहि, पंक-राग सोहै अंग॥
गजमोतिन-लर लटकन सोहैं, सुंदर लहरत रंग।
'गोविंद' प्रभु के जू अंग-अंग पर, वारौं कोटि अनंग॥५॥

प्रात समय उठि जसुमति जननी, गिरिधर सुत कों उबटि न्हवावति ।
करि सिंगार, बसन भूषन सजि, फूलन रचि-रचि पाग बनावति ॥
छूटे बंद, बागे अति सोभित, बिच-बिच चोव अरगजा लावति ।
सूथन लाल फुंदना सोभित, आजु की छबि कछु कहत न आवति ॥
बिबिध कुसुम की माला उर धरि, श्री कर मुरली बेंनु गहावति ।
लै दर्पन देखै श्री मुख कों, 'गोविंद' प्रभु–चरनन सिर नावति ॥६॥

★

प्रात समय उठि जसोमति, दधि मंथन कीन्हों ।
प्रेम सहित नवनीत लै, सुत के मुख दीन्हों ॥
औंटि दूध धैया कियौ, हरि रुचि सों लीन्हों ।
मधु मेवा पकवान लै, हरि आगै कीन्हों ॥
इहि बिधि नित क्रीड़ा करें, जननी सुख पावै ।
'गोविंद' प्रभु आनंद सों, आँगन में धावै ॥७॥

★

जागो कृष्ण, जसोदा बोलै, इहि अवसर कोउ सोवै हो ।
गावत गुन गोपाल ग्वालिनी, हरषित दही बिलोवै हो ॥
गो–दोहन–धुनि पूरि रही ब्रज, गोपी दीप सँजोवै हो ।
सुरभी हूँक बछरुआ जागे, अनिमिष मारग जोवै हो ॥
बेंनु मधुर धुनि महुवर बाजत, बेंत गहे कर सेली हो ।
अपनी गाय सब ग्वाल दुहत हैं, तुम्हरी गाय अकेली हो ॥
जागे कृष्ण जगत के जीवन, अरुन नैंन सुख सोहै हो ।
'गोविंद' प्रभु जु दुहत हैं धौरी, ब्रज गोप-बधू मन मोहै हो ॥८॥

★

कनक कटोरा प्रात ही, दधि-घिरत मिठाई ।
खेलत खात गिराय देत, झगरत दोऊ भाई ॥
अरस-परस चुटिया गहैं, बरजत है माई ।
महा ढीठ मानत नहीं, कछु लहुरि–बड़ाई ॥
अलप सुलप दसनावली, सुंदर किलकाई ।
देखत बोली रोहिनी, जसोमति मुसिकाई ॥
घर–घर तें ब्रज सुंदरी, देखन कों आईं ।
महासिंधु आनँद बढ्यौ, गृह–सुधि बिसराई ॥
'गोविंद' के चरनारविंद तजि, अनत न जाई ।
धरनीधर श्री जगन्नाथ, माधौ बलिजाई ॥९॥

हौं बलि जाउँ कलेऊ कीजै।
खीर-खाँड़-घृत अति मीठौ है, अबकि कौर बछ लीजै ॥
बैंनी बढ़ै सुनो मनमोहन ! मेरौ कह्यौ पतीजै।
औटयौ दूध सद्य धौरी कौ, सात घूँट जो पीजै ॥
हौं वारी या बदन कमल पर, अंचल प्रेम-जल भीजै।
बहुरि जाय खेलो जमुना तट, 'गोविंद' संग करि लीजै ॥१०॥

★

जसुमति थार परोसि धरयौ है, तुम्हें बुलावै चलो दोऊ भैया।
बाबा नंद की गोद में भोजन, करहु मैं लेहुँ बलैया ॥
पाछैं करो केलि मनमोहन, तुमकों दैहौं बहौत मिठैया।
'गोविंद' प्रभु गिरिराज-धरन, चलो बैठी जसोदा मैया ॥११॥

★

कीजिऐ नंदलाल कलेऊ, कीजिऐ नंदलाल।
खीर खाँड़ माखन अरु मिश्री, लीजिए परम रसाल ॥
औटयौ दूध सद्य धौरी कौ, तुमकों देहुँ गोपाल।
बैनी बढ़ै होय बल की सी, पीजिए हो मेरे लाल ॥
हौं वारी या बदन कमल पर, चुंबन दैहो लाल।
'गोविंद' प्रभू कलेवा कीनौं, जननी बचन प्रतिपाल ॥१२॥

★

हा हा लैहो एक कौर, बहुत बेर भई है देखेरी ओर।
माखन मिश्री दूध औटयौ, पीयो बहु जोर ॥
अब ही सखन टेरत हे, तेरे ग्वाल भयौ भोर।
जागे पंछी द्रुम-द्रुम सुनि, करन लगे सोर ॥
खेलवे कों उठि भागोगे, मानि मेरौ निहोर।
लैहौं ललन बलाय तिहारी, छोर अंचल ओर ॥
बदन मंद बिलोक सीतल, होत हृदयौ मोर।
बैठि जननी गोद जेंवन, लागे 'गोविंद' थोर ॥
रसिकवर श्री स्याम लीला, करत माखन चोर ॥१३॥

★

पक्क खजूर जंबु बदरीफल, लै कालिनी टेरी द्वार।
लरिका जूथ संग बल मोहन, चौंके करत बिहार ॥
सुंदर कर जननी कनें दोनों, लै धाए सुकुमार।
हीरा रतन सों पूरित भाजन, ऐसे परम उदार ॥
लिए लगाइ उदर सों खावत, मीठे परम रसाल।
जूठी गुठली मारत 'गोविंद', हँसत-हँसावत ग्वाल ॥१४॥

वन-लीला—

गोवरधन गिरि-सृंग सिलन पर, बैठे छाक खात दधि ओदन।
आस-पास ब्रज बाल मंडली मधि बल-मोहन, खात खवावत प्रेम प्रमोदन ॥
काहू कौ छीकौ नाँय छोरि गहि, डारत वह वा पर वह बाकी हो कोदन।
बाल केलि क्रीड़त 'गोविंद' प्रभु, हँसि गिर जात सुबल की हो गोदन ॥१५॥

*

बैठे गोवरधन-गिरि गोद।
मंडली सखा मध्य बल-मोहन, खेलत हँसत प्रमोद ॥
भई अबार भूख जब लागी, चितऐ घर ही की कोद।
'गोविंद' तहाँ छाक लै आयौ, पठई मात जसोद ॥१६॥

*

कदम चढ़ि कान्ह बुलावत गैया।
मोहन मुरली कौ सबद सुनत ही, जहाँ-तहाँ तें उठि धैया ॥
आवहु, आवहु सखा सिमिटि सब, पाई हैं इकठैया।
'गोविंद' प्रभु बलदाउ सों कहन लागे, अब घर कों बगदैया ॥१७॥

*

लाड़िलौ लड़ाइ बुलावत धैंन।
चढ़ि कदंब, धौरि धूँमरि काजर अरु पीयरी पूरत मधुर सुन बैंन ॥
पुचकारत, पौंछत सुंदर कर, सकल सुभग सुख-ऐंन।
'गोविंद' प्रभु कौ मुख देखि हूँकि-हूँकि, सबै स्रवत पय-फैंन ॥१८॥

★

आउ मेरे गोविंद, गोकुल-चंदा !
भई बड़ी वार खेलत जमुना-तट, बदन दिखाय देहु आनंदा ॥
गायन की आवनि की बिरियाँ, दिनमनि-किरन होत अति मंदा।
आए, तात-मात-छतियाँ लगे, 'गोविंद' प्रभु ब्रज-जन सुख-कंदा ॥१९॥

*

ब्रजजन-लोचन ही कौ तारौ।
सुनि जसुमति तेरौ पूत सपूत अति, कुल दीपक उजियारौ ॥
धेंनु चरावन जात दूरि जब, होत भवन अति भारौ।
घोष सँजीवन मूरि हमारौ, छिन इत-उत जिन टारौ ॥
सात द्यौस गिरिराज धरचौ कर, सात बरस कौ बारौ।
'गोविंद प्रभु चिरजीवो रानी ! तेरौ सुत गोप-बंस रखवारौ ॥२०॥

दान-लीला—

गोरस बेचन लै चली, गोकुल-मथुरा बीच ।
मटुकी ढोरी सीस तें, गोरस की मची कीच ॥
टेढ़ी पाग बनाइकै, दान कहति हैं लैन ।
ललित त्रिभंग ठाढ़े भए, ग्वालन दै-दै सैन ॥
झगा झलमले बदन सों, चितवन नैन विसाल ।
लटक मटक लकुटी गहैं, हठ रोकी व्रजबाल ॥
काजर दीयौ रँगमगौ, उलटे बोलत बैन ।
कर पल्लव सुचि बदन पै,हँसि लटक नँचावत नैन ॥
सिर सीमंत जड़ाव की, बेंदी दिएँ लिलार ।
तिरछी घूँघट चितवननि, हँस मोहे नंद-कुँवार ॥
संग सहेली जो मिलै, जो कहुँ प्रीतम होय ।
नव किसोर नव व्रज-बधू, यह विधि मिलनौ होय ॥
पीठ मोर आगै चली, ऊतर नारि बनाय ।
सारी झलकै बदन पै, सोभा बरनी न जाय ॥
चमकि चली चंद्रावली, पायल पाँय बजाय ।
बैनी लटकै पीठ पै, हँसि दौरि मिली है आय ॥
अति सुख पायौ सुंदरी, बृंदा विपिन बिलास ।
'गोविंद' प्रभू स्याम मिलि, पूजी मन की आस ॥२१॥

*

स्यामसुंदर हँसि बूझत हैं, कहिऔं मोल या दधि कौ री ग्वालनि ।
बेचैगी तौ ठाढ़ी रहियो, देखैं धौं कैसौ जमायौ,
काहे कों भजीय जात नैन-विसालनि ॥
वृषभान-नंदिनी कौ निरमोलक दह्यौ स्याम, हीरा तुम पै न दियौ जाय,
हँसि-हँसि कहत चलत गज-चालनि ।
'गोविंद' प्रभु पीय प्यारी नेह जान्यौ, तब मुसिक्याय ठाढ़ी भई,
सैना-बैनी करहिं सब आलनि ॥२२॥

*

महा दानि है री वृषभान-दुलारी ! कृपा अवलोकन दान दै री ।
तृषित लोचन चकोर मेरे, तुव बदन इंदु किरन पान दै री ॥
सब विधि सुघर सुजान सुंदर, सुनिलै बिनती कान दै री ।
'गोविंद' प्रभु पिय-चरन परसि कैं, जाचक कों तू मान दै री ॥२३॥

उपालंभ—

तुम पैंड़ो ही रोकै रहति, कैसे कैं आवैं-जाय ब्रज-बधू,
तुम ही विचारि देखो जू परम सुजान ।
खरिक दुहावन दिन-दिन ही आयौ चाहें, ऐसे कैसे बनें गुसाईं,
इत-उत गेह वरु गैलहु न है आन ॥
ऐसी अटपटी कहि देत हौ जू लड़ैते कुँवर,
जो कबहूँ परि है ब्रजराज के कान ।
'गोविंद' प्रभु सों कहति प्यारी की सखी,
तुम इत सरकौ हमें देहु धौं जान ॥२४॥

★

देखो जू मोहन ! काहू अबै मेरी ईडुरी दुराई ।
सूधें-सूधें बेगि क्यों न मानों, यह कीनीं कौनें चतुराई ॥
कछु जु परस्पर करत सैंना-बैंनी, नाहिं मोहि क्यों न देहु बताई ।
सबै समिटि यहाँ कहत कौन सों, ताकी फैंट पकरें किन धाई ॥
जापै होइ सोई किन मानहु, ताही कों है ब्रजराज दुहाई ।
'गोविंद' प्रभु कछु हँसत बहुत से, मेरें जान तुमहीं जु चुराई ॥२५॥

★

अब हौं या ढोटा तें हारी ।
गोरस लेत अटक जब कीनीं, हँसत देत फिर गारी ॥
निसि-दिन हू घर-घेरौ करत है, बालक-जूथ मँझारी ।
'गोविंद'बलि,इमि कहति ग्वालिनी, ये बातें कैसें जात सहारी ॥२६॥

बरजि-बरजि सुत अपुनौ बारौ ।
सदा बिग्रह गृह-काज करैं क्यों, चोर चपल चातुर अति भारौ ॥
धरत उठाय दूध-दधि-भाजन, जहाँ री सखी ! होय बहुत अँधियारौ ।
कंठ चरन कर दुति बहु मनिगन, जहाँ री जाय, तहाँ अंग उज्यारौ ॥
बैठौ मनों कछु जानत नाँहीं, छाँब सूधौ, पर-भवन है कारौ ।
बदन छिपाय हँसी जननी तब, 'गोविंद' प्रभु ब्रज लोचन तारौ ॥२७॥

★

अब ही तें ढोटा चित चोरत, आगै-आगै कहा जू करोगे ।
नैंन वड़े किन होउ बलि जाऊँ, त्रिभुवन जुबतिन के मन जु हरोगे ॥
देखन के नन्हे उदर में सप्तद्वीप नव खंड दिखाए, सोई साँची अनुसरोगे ।
'गोविंद' प्रभु के जु नैन बैन रस-सिंचित, मेरे जान मनमथ सों लरोगे ॥२८॥

गोर्वधन-पूजा—

आज ब्रज कहा है तिहारैं तात !
नाँचत गावत, करत कुलाहल, फूली अंग न समात ॥
घर-घर मंगल-चार मुदित मन, उँमगैं ब्रजवासी ।
गाय सिंगारत खिरक-खिरक जाय, आनंद हाँसी ॥
कहैं नंद सुनि मन मोहन, उच्छव है आजु हमारैं ।
सबै भोज पकवान बिबिध फल, सुरपति कौं बलिसारैं ॥
वे तौ देवराज मघवा पति, मेघन बरसैं भारी ।
यातैं सुखी रहै सब गोकुल, श्री बृंदा विपिन बिहारी ॥
तब हँसि कै हरि कह्यौ उनहिं प्रति, मघवा दीन विचारौ ।
जो चाहौ गोधन, गोरस बहु, अर्थ-धर्म फल चारौ ॥
तौ तुम गोवर्धनहिं पूजौ, सोचि सबै अनुसारौ ।
वे हैं प्रगट भाग्नि, वांछित फल दैं हैं सकल तिहारौ ॥
तब ब्रजपति वृषभान आदि सब बैठे मंत्र विचारे ।
आनि अरिष्ट टरे बहु भारे, अरु बहु असुर सँहारे ॥
याकौ बचन सत्य करि जानों, मानों वचन हमारे ।
पूरन ब्रह्म जसोदानंदन (कहैं, सोइ करो भैयारे ॥
जोरे सकट, विविध अँग भूषन, मनि मुक्ताहल हीरा ।
दुंदुभि धुनि, मृदंग-भेरि सुनि, गाजत गुन गंभीरा ॥
राजत गोप-भूप ब्रजपति सँग, मनौं सुभट रनधीरा ।
भागे सकल अमंगल जग के, काहु न बदत अहीरा ॥
नव सत साजि सिंगार भामिनी,दामिन-दुति देखि लजाई ।
गावत गुन प्रमुदित चलीं, गिरि गोवर्धन कौं आई ॥
विधिवत वेद मंत्र नंदादिक, पूजाहु दुहुन कराई ।
धूप दीप नैवेद्य निवेदित, जैसैं कान्ह बताई ॥
प्रथमहिं छीर न्हवाइ, बहुरि गंगाजल लै ढरकायौ ।
दीपक-पांति कांति कंचन, गिर लागत पर सुहायौ ॥
जब परवत पर प्रगट भए हरि, अद्भुत रूप रसाला ।
मोर मुकुट मंजुल, मुरली मुख, पीत बसन, उर माला ॥
तन अति स्याम, काम कोटिक छवि, चंचल नैंन विसाला ।
निरखत ब्रज-जन नर-नारी सब, भोजन करत गुपाला ॥
श्री वृषभान आदि ब्रजवासी, महा मनोरथ पायौ ।
गोपीजन सुप्रेम मगन, 'गोविंद' जन मंगल गायौ ॥२६॥

रास—

निर्तत लाल गोपाल रास में, सकल ब्रज-बधू संगैं।
गिड़ गिड़ तैथंग, ततथेई ततथेई, भामिनि रति-रस रंगैं॥
सरद विमल नभ उडुपति राजत, गावत तान तरंगैं।
ताल, मृदंग, झाँझ और झालरि बाजत, सरस सुगंधैं॥
सिव, विरंचि मोहे, सुर धुनि सुनि, सुर, नर,मुनि गति भंगैं।
'गोविंद' प्रभू रस-रासि रसिक मनि, भामिनि लेत उछंगैं॥ ३०॥

★

आजु गोपाल रच्यौ है रास, देखत होत जिय हुलास,
नाँचत वृषभान–सुता संग रंगभीने।
गिडि गिड़ि तक, थंग थंग, तत तत तत, थेई थेई,
गावत केदारौ राग, सरस तान लीने॥
फूले बहु भाँति फूल, परम सुभग जमुना कूल,
मलय पवन बहत गगन, उडुपति गति छीने।
'गोविंद' प्रभु करत केलि, भामिनि रस-सिंधु मेलि,
जै-जै सुर सब्द करत, आनंद रस कीने॥ ३१॥

हिंडोरा-झूलन—

झूलन आई ब्रज-नारि,
गिरिधरन लालजू कैं सुरंग हिंडोरना।
सुभग कंचन तन, पहेरैं कसूंभी सारी,
गावत परसपर हँसि मृदु बोलना॥
इत नंदलाल रसिकवर सुंदर,
उत वृषभान–सुता छवि सोहना।
रमक तरंग रह्यौ पीय-प्यारी,
'गोविंद' वलि-वलि रति-पति जोहना॥३२॥

★

दंपति झूलत सुरंग हिंडोरैं।
गौर–स्याम तन अति छवि राजत,
मानों घन दामिनि जाति भोरैं॥
विद्रुम-खंभ जटित नग पटुली,
कनिक डांड़ी सोभा देत चहुँ ओरैं।
'गोविंद' प्रभू कों देखि ललितादिक,
निरखि हँसत बन नवल किसोरैं॥३३॥

रूप-वर्णन—

आज सखी अति बने गिरिधरन।
निरखि मदन विथकित भई आली, सिथिल भई गति चरन ॥
कसूंभी पाग लटकि रही आधे सिर, हरित चारु अवतंस करन।
सिंघद्वार ठाड़े पिय मोहन, श्रीदामा-अंस भुज धरन ॥
चंपक माल हृदै अवलंबित, अरु अति छवि पीत उपरैना फरहरन।
'गोविंद'प्रभु चित चोरयौ चितै करि,ईषद हास त्रिलोकी जुवतिन मनहरन।३४

★

कहा कहूँ मोहन-मुख सोभा।
बदन इंदु, लोचन चकोर मेरे, पिवत किरन रूप-रस लोभा ॥
अंग-अंग उल्लिलित रूप-छटा, कोटि मदन उपजत तन गोभा।
'गोविंद' प्रभु देखें विवस भई प्यारी, चपल कटाच्छ लग्यौ हृदै चोभा ॥३५॥

★

बदन कमल ऊपर बैठे री, मानों जुगल खंज री।
ता ऊपर मानों मीन चपल अरु, ता पर अलिकावली गुंजरी ॥
अरु ऐसी छवि लागै मानों उदित रवि री, निकट फूली करन कदंब मंजरी।
'गोविंद' बलि-बलि सोभा कहाँ लौं बरनौं, सु मदन कोटि दल लंज री ॥३६॥

★

केसर-तिलक ललन सिर राजै।
कपोल-झलक पर मनमथ कोटि वारौं,
स्रवन खचित कनकफूल विराजै ॥
कुटिल अलक छवि मनहुँ सुभग अलि,
बदन कमल पर रहे लुभ्याइ मत्त मधु काजै।
'गोविंद' प्रभु की बलि-बलि बानिक पर,
मोतिन-माल कंठ कौस्तुभ-मनि भ्राजै ॥३७॥

★

विमल कदंब मूल अवलंबित, ठाड़े हैं पिय भानुसुता-तट।
सीस टिपारौ, कटि लाल कछिनी, उपरैना फरहरत पीत पट ॥
पारिजात अवतंस रुरित सखि, सीस सेहरौ, बनी अलक-लट।
विमल कपोल कुंडल की सोभा, मंद हास, जीते कोटि मदन भट ॥
बाम कपोल बाम भुज पर धरि, मुरलिया बजावत तान बिकट।
'गोविंद' प्रभु के श्रीदामा प्रभृति सखा, करत प्रसंसा, जै नागर नट ॥३८॥

रूपासक्ति—

मोहन नैनन तें नहिं टरत ।
बिन देखें तलाबेली सी लागत, देखत मन जो हरत ॥
असन-बसन सैन न सुधि आवे, अब मन कछु न करत ।
'गोविंद' वलि, इमि कहत पियारी, सिख दैरी कैसेक आवै भरत ॥३९॥

*

लालन सिर घाली हो ठगौरी ।
सुंदर मुख जौलों नहिं देखियत, भई रहति तौलों बौरी ॥
वह मुख कमल पराग चाखि, मेरे नैन मधुप लागे दौरी ।
'गोविंद' प्रभु बन ते व्रज आवत, रहत हृदै कैसे तौरी ॥४०॥

*

कहि न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई ।
कोटि मदन नख-ज्योति विलोकत, परसत इंदु किरन की जुन्हाई ॥
कंकन वलय हार गज-मोती, देखियत अंग-अंग वह झाई ।
सुघर सुजान स्वरूप सुलच्छन, 'गोविंद' प्रभु सब बिधि सुंदरताई ॥४१॥

*

अब कहा करौं मेरी आली री, अँखियन लागैई रहत ।
निसि-दिन फिरत रूप-रस माती, आवै नहीं गृह-काज करत ॥
मात पिता पति सुत गृह देखत, तौहू न धीरज धरौं मोहन बैनु सुनत ।
'गोविंद' प्रभु कौं हौं जौलों न देखौं आली, तौलों छिनु-छिनु कैसे मेरे प्रान रहत४२

*

पीय जु करत मनुहारी, समुझि देखि री पिय प्यारी ।
कुंज के द्वार कबके बैठे मोहन, ललना निठुर वृषभान दुलारी ॥
अलक सँवारन के मिसि भामिन, फेरत पिया तन नैन निवारी ।
'गोविंद' प्रभु रूप देखि पिया कौ, सुख भयौ तन, दृष्टि सों भरत अंकवारी॥४३॥

*

नैक चितै चलेरी लालन, सखी लै जु गयौ चितचोर ।
कब की ठाढ़ी चितवत प्रीतम-तन, मुसिक्यानी मुख मोर ॥
हौं दधि मंथन करत ही भवन में, उझकि चले व्रजराज-किसोर ।
लटपटी पाग केस बिलुलित सखी, ना जानौं कहाँ तें उठि आये भोर ॥
सब निसि जागे डगमगत धरत पग, खिस-खिस परत पीत पट छोर ।
'गोविंद' प्रभु की लखी जात गति, ऐसी वो चतुर नागरी कोर ॥४४॥

अरी ! यह सुंदरता की हद ।
कुंडल लोल कपोल बिराजत, बिलगित भुव ज्योती उनमद ॥
विद्रुम अधर दसन दारयौ दुति, दुलरी कंठ हार उर बिसद ।
'गोविंद' प्रभु बन तें ब्रज आवत, मानहु मदन गजराज धरत मद ॥४५॥

★

चितै मुसिकानी हो वृषभानु-कुमारी ।
खसित मुरली कर नंदनँदन के, लियौ है लाल मनुहारी ॥
गजगति चाल चलत ब्रज-सुंदरि, स्याम के रस मत्त प्यारी ।
कटि किंकिनी हार तरलित हैं, ताटंक अलक घूँघर वारी ॥
देखि बिवस भए मदनमोहन पिय, चंपक तन सोहत नील सारी ।
अंकन भरि मिली नवल नागरी, 'गोविंद' जन बलिहारी ॥४६॥

★

मोहन सिर घाली ठगौरी ।
सुंदर मुख जौलौं नहिं देखियत, भई ही रहति तौलौं बौरी ॥
वह मुख कमल पराग चारु, मेरे नैन कमल लागी ठौरी ।
'गोविंद' प्रभु बन तें ब्रज आवत हैं, रहति हिरदौ कैसे तौरी ॥४७॥

★

तेरे नैन लली लोने री, जिन मोहे स्याम सलौने ।
अति दीरघ विधि विलोल कटाछनि, मानौं पिय रस-रीझे हैं कौने ॥
बदन-जोति चंदा हू तें निरमल, कुच कठोर बंकट बौने ।
जन 'गोविंद' प्रभु चलत ललित गति,कसौटी पै लीक परी मनों सोने ॥४८॥

★

तैं कछु घाली री ठगौरीए पिय पर प्यारी ।
निसि-दिन तुही-तुही जपत प्रानपतिऐ,तेरी सों लालन गिरिवर-धारी ॥
चालहु बेगि, आवेस रूप तव, सुधि न कछू तन की री बिहारी ।
रसना रटत तुव नाम राधे-राधे, 'गोविंद' प्रभु ध्यान सों भरत अंकवारी ॥४९॥

★

नैननि लागी हो चटपटी ।
मदनमोहन ,पिय निकसे द्वार है, सोहत पाग लटपटी ।
दूर जाय फिरि चितऐ री मो तन, नैन कमल मनहरन भ्रुकुटी ।
'गोविंद' प्रभु पिय चलत ललित गति, कछुक सखा अपनी गटी ॥५०॥

प्रेमासक्ति—

चितवत रहति सदा श्री गोकुल तन ।
बारंबार खिरक ह्वै झाँकत, अति आतुर पुलकित मन ॥
नम्र सखा सुख संगहिं चाहत, भरत कमल-दल लोचन ।
ताही समै मिले 'गोविंद' प्रभु, कुँवर विरह-दुख मोचन ॥४१॥

*

विनती करत प्यारी कीं सखी, ललन मुरली नैंक बजाइऐ ।
जानत हौं सकल गुनिन-सिरमौर, यातें घोषराज कुँवर ह्वै तान सुनाइऐ ॥
जैसै खग-मृग-द्रुम-लता-बेली मोहीं, ऐसै ही हमारी सखियन कौं रिझाइऐ ।
'गोविंद' प्रभु सकल-कला गुन प्रवीन नागर, याहीतें हमारे स्रवनन सुख उपजाइऐ ।४२

*

हमैं ब्रज-लाड़िले सौं काज ।
जस-अपजस कौ हमैं डर नाहीं, कहनी होय सो कहिऐ आज ॥
काहू कछु प्रीति करी कै न करी जो, सन्मुख ब्रजनृप युवराज ।
'गोविंद' प्रभु की कृपा चाहिऐ, वे हैं सकल घोष-सिरताज ॥४३॥

*

प्रीतम प्रीति ही तें पैयै ।
जदपि रूप, गुन, सील, सुघरता, इन बातन न रिझैयै ॥
सतकुल जनम, करम सुभ लच्छन, वेद पुरान पढ़ैयै ।
'गोविंद' प्रभु बिन स्नेह सुवा लौं, रसना कहा नचैयै ॥४४॥

*

कहा करौं बैकुंठहिं जाय ।
नहीं जहँ कुंज-लता, अलि, कोकिल, मंद सुगंध न वायु बहाय ॥
नहीं जहँ सुनियत स्रवनन बंसी धुन, कृष्ण न मूरत अधर लगाय ।
सारस हंस मोर नहीं बोलत, तहँ कौ बसिवौ कौन सुहाय ॥
नहीं जहँ ब्रज, वृंदाबन-बीथिन, गोपी, नंद, जसोदा माय ।
'गोविंद' प्रभु गोपी चरनन की, ब्रज-रज तजि वहाँ जाय बलाय ॥४५॥

*

कहा री भयौ मुख मोरै कछू काहू जु कह्यौ ।
रसिक सुजान लाड़िलौ ललन, मेरीं अँखियन माँझ रह्यौ ॥
अब कछु बात फिरि परी जु औरै, प्रेम-जामिन दियौ भयौ दूध तें दह्यौ ।
त्रैलोक अति सुजान सर्वस हरयौ हौ, 'गोविंद' प्रभु जू लह्यौ ॥४६॥

त्रिविध लीला-वर्णन—

कुँवर बैठे प्यारी संग, अंग-अंग भरे रंग,
वलि-वलि वलि त्रिभंगी जुवतिन सुखदाई ।
नव निकुंज भँवर पुंज, कोकिल कल गुँजत पुंज,
सीतल सुखद सुगंध मंद, बहत पवन सुखदाई ॥
ललित गति विलास हास, दंपति मन अति हुलास,
विगलित कच सुवन बास, स्फुटत कुसुमन तैसीए सरद-रैनि जुन्हाई ।
'गोविंद' प्रभु सरस जोरी, नव किसोर नव किसोरी,
निरखि बदन ठगौरी मन,छैल छबीलौ गोपाल कुँवर ब्रज कुल-मनि-राई॥५७॥

*

लहरिया मेरौ भीजैगौ वह देखोरी आवत मेह ।
सुरंग रंगन रँग्यौ है साँवरौ, अब ही घटेगौ नेह ॥
सघन कुंज में चलो साँवरे ! ओट पीतांबर देह ।
'गोविंद' प्रभु पिय ऐसे चलौगे, तो बहु बिधि बढ़ै सनेह ॥५८॥

*

मोहन देहो बसन हमारे ।
जाय कहोंगी ब्रजपति जू के आगै करत अनीति लला रे ।।
तुम ब्रजराज कुमार लाड़िले, हौ सबके प्रान पियारे ।
'गोविंद' प्रभु पिय दासी तिहारी, सुंदर घोष कुमारे ॥५९॥

*

जाहि तन मन धन दीजै , तासों आली रूसिवौ कैसै बनि आवै ।
घोष नृपति सुत तातें कहत हौं,समुझि चित अन-खन कैसे पीय पावै ॥
नवल निकुंज नवल बैठे तातें हौं पठई,ऐसौ रूमयौ तोही सी बड़ भागिन पावै ।
सोई विचित्र गुन रूप तिया जो, 'गोविंद' प्रभु कों रीझि रिझावै ॥६०॥

*

नैक निहारि नागरी-नारी, पैयाँ परत मुरारि ।
चारि पहर रजनी गई बीती अब तौ रूसिवौ निवारि ॥
तेरे तन पर मन तरसत है, नैक चितैं उर धारि ।
'गोविंद' प्रभु पिय प्यारी पै उठि चलि,हँसि-हँसि घूँघट टारि ॥६१॥

*

कब की वकत प्यारी अजहुँ न रिस गई ।
मोहनी मौन धरि कहत कह्यौ न काहुकौ करै,
सन्मुख ही लरत ज्यों-ज्यों बरनै त्यों-त्यों भई दुन-दुनरी ॥
बावरी भई री प्यारी मेरे मान पिय कहै, कह्यौ न काहुकौ मानै हिरदौ सुनरी ।
'गोविंद' प्रभु चरन परस आँकौ-भर मिलें,रंग रह्यौ जैसै हरद चुनरी ॥६२॥

सेत आँगिया सोभित तन पर,
देखन कों पिय प्यारी अपुनाई ।
छोटेई कुचन पर तनिकई स्यामताई,
मनों गुलाब फूल रहे अलि-छौना उरलाई ॥
पहिरें सुरंग सारी, अंग अंग की निकाई,
आनन पर अलकि अलकि द्रगन चंचलताई ।
लीजिऐ मनाय, रिझाय 'गोविंद' प्रभु,
घुमड़ि आए बादर तामैं बिजुरी लहलहाई ॥६३॥

*

जुवती-जूथ में बनी आवति, माई राधिका प्यारी ।
निकसि सकल व्रजराज भवन तें, सिंहद्वार ठाड़े ललन कुँवर गिरिधारी ॥
निरख वदन भौंह मोरि, तोरि त्रन, चालि और चितवारी ।
तिहि छिन अँचरा सँभारि, घूँघट की ओट, ह्वै लियौ है लाल मनुहारी ॥
'गोविंद' प्रभु दंपति रंग मूरति, इष्ट सों भरत अंकवारी ॥६४॥

*

हौं नीके जानत री आली, तेरे हिरदै की सब बात ।
सकल घोष जुवतिन कों सरवसु, तैंही हरयौ री आली साँवरे गात ॥
जाकौं कारज सिध करत विधाता, ताहिन कहा री काहु की परवाह ।
'गोविंद', प्रभु निधि नीकौ धन पायौ, कैहै रह्यो कोऊ पाँच-सात ॥
तैंही छिपायौ मोसों कित दुरत हैरी, जो तू डार-डार तौ हौं पात-पात ॥६५॥

*

चार पहर कीने रस रंग, अरुन नैन रति-रसमसे अंग,
लाल ! रंग-भीने हो ।
अधरन कौ रंग फीकौ लागत, मिट गयौ तिलक लिलाट,
लाल ! रंग-भीने हो ॥
केस सिथिल, वर बेस सिथिल भए सब गात,
लाल ! रंग-भीने हो ।
'गोविंद' प्रभु की छबि निरखि-निरखि कै, रंग विवस भई बाल,
लाल ! रंग-भीने हो ॥६६॥

*

आज की बानक कही न जाय मोपै, बैठे निकसहिं कुंज द्वार पर ।
लटपटी पाग सिर, सिथिल चहुँवा,हास्य रस भरे व्रजराज कुँवर वर ॥
स्रम जल बूंद कपोल विराजत, मनहु ओस-कन नील कमल पर ।
'गोविंद' प्रभु लाड़िलौ ललन वर, कहा कहौं अंग-अंग सुंदरवर ॥६७॥

आए हो उठि भोरहि तें, रसमसे नंद-दुलारे।
अरुन नैन अरु बैन अटपटे, मुखन देखियत अधरन रँग भारे॥
एतौ बाद कित करत गुसाईं, जहीं जाउ जाके हो प्रान प्यारे।
'गोविंद' प्रभु पिय भले जू भले जानि,जैसे तन स्याम वैसेई मनकारे॥ ६८॥

★

लाल न्यारे अति बिलच्छन, बस किए री सुहाग।
विविध कुसुम सुवास सीतल विचित्र,
सैया रची जातें मदनमोहन निसि जाग॥
बैठे कुंज के द्वार तव पथ जोवत,
भरि-भरि आवत नैन-बिसाल तब अनुराग।
दूती के वचन सुनि प्रेम व्याकुल भई,
मिली जाय 'गोविंद' प्रभु कौ मेट्यौ हृदय-दाग॥६६॥

★

छबीले लाल की ये बानक, बरनत बरनी न जाय।
देखत तन-मन कर्यौ न्यौछावर, आनँद उर न समाय॥
कंद मूल फल आगै धरिकै, रहति सचल सिर नाय।
'गोविंद' प्रभु प्रिय सों रति मानीं, पठई रसिक रिझाय॥७०॥

★

विराजत स्याम मनोहर प्यारौ। प्रभु तिहुँ लोक उजियारौ॥
सरवसतम ब्रज सोभा, श्री ब्रजराज विराज।
सुर, नर, मुनि सब कौतुक भूले, देखि मदनकुल लाज॥
रंग सुरंग कुसुम नाना रंग, सोभा कहत न आवै।
नवल किसोर अरु नवल किसोरी, राग-रागिनी गावै॥
चोवा, चंदन, अगर, कुमकुमा, उड़त गुलाल, अबीर।
छिरकत केसरि, नव बंसीवट, कालिंदी के तीर॥
ताल सुरंग उपंग मुरज ढफ, ढोल भेरि सहनाई।
अद्‌भुत चरित रच्यौ ब्रजभूषन, सोभा बरनि न जाई॥
दुरि-दुरि सब ब्रज जुवतिनि, निरखि-निरखि सचु पावैं।
त्रन तोरें, बलि जाँय बदन पर, तन त्रैताप नसावैं॥
या ब्रज केलि प्रभू की कीरति,सुर, नर, मुनि सब गावैं।
निरखि हरषि 'गोविंद' बलिहारी, चरन-रेंनु धन पावैं॥७१॥
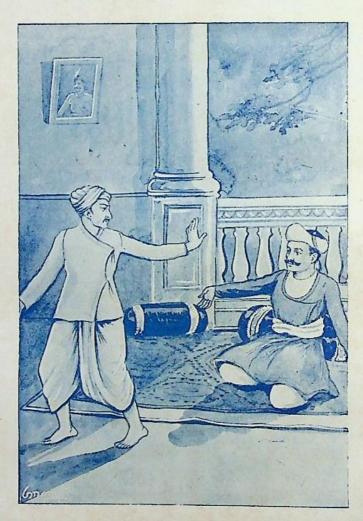
राजा बीरबल से वार्तालाप में रुष्ट होकर जाते हुए—

छीतस्वामी

जन्म सं० १५७३] [देहावसान सं० १६४२

★

६. छीतस्वामी

[सं० १५७२ से सं १६४२ तक]

जीवन-सामग्री और उसकी आलोचना—

छीतस्वामी का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' सं० २ और 'अष्टसखान की वार्ता' सं० ४ पर दिया हुआ है। इन दोनों वार्ता पुस्तकों से उनके सांप्रदायिक महत्व पर ही थोड़ा सा प्रकाश पड़ता है; उनके माता-पिता, कुटुंब-परिवार आदि के संबंध में उनसे कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती है। अन्य साधनों से भी उनके भौतिक चरित्र की बहुत कम सामग्री प्राप्त हुई है। अष्टछाप के आठों कवियों में छीतस्वामी का जीवन-वृत्तांत सब से न्यून परिमाण में उपलब्ध होता है।

वार्ता से ज्ञात होता है कि वे मथुरा के चौबे थे और अपने आरंभिक जीवन में वे अपनी दुष्ट प्रकृति के लिए बदनाम थे। अंत में गो० विट्ठलनाथ जी के अलौकिक प्रभाव से उनकी प्रवृत्ति एक दम बदल गयी और वे पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा लेकर भगवद्भक्त बन गये। वार्ता के कथन से ऐसा अनुमान होता है कि वे गृहस्थ थे, किंतु उनकी स्त्री तथा बाल-बच्चों के विषय में कोई स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं होती है। वार्ता के विवरण से उनकी शिक्षा आदि के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं होता है, किंतु ऐसा अनुमान है कि वे साधारण लिखे-पढ़े व्यक्ति थे। काव्य और संगीत की ओर उनकी बचपन से ही रुचि ज्ञात होती है, क्योंकि पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा लेते ही उनके द्वारा पद-रचना करने का उल्लेख मिलता है। नागरीदास कृत 'पद-प्रसंग-माला' से ज्ञात होता है कि वे गोसाईं जी के सेवक होने के पूर्व शैव थे।

श्री कंठमणि शास्त्री के अनुमान से उनका जन्म सं० १५७५ के लगभग और देहावसान सं० १६४२ में हुआ था‡। श्री द्वारिकादास परीख का अनुमान है कि उनका जन्म सं० १५७२ मार्गशीर्ष कृ० १० शनिवार को हुआ था†। काल-क्रम के विचार से परीख का मत युक्तिसंगत ज्ञात होता है। छीतस्वामी का शरणागत-काल 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार सं० १५९२ है।

---

‡ 'कांकरौली का इतिहास' पृ० १२०। ग

† 'प्राचीन वार्ता रहस्य', द्वितीय भाग, गुजराती विभाग, पृ० ६३

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

छीतस्वामी का जन्म सं० १५७२ के लगभग मथुरा में हुआ था। आरंभ में वे शैव मतानुयायी थे*। वे मथुरा के चौबे और तीर्थ पंडा थे तथा उनके घर में यजमानी-पुरोहिताई का काम होता था। वे अकबर बादशाह के सुप्रसिद्ध मंत्री राजा बीरबल के पुरोहित थे।

अपने आरंभिक जीवन में वे बड़ी दुष्ट प्रकृति के पुरुष थे। मथुरा के प्रसिद्ध गुंडों में उनकी गणना थी और वे 'छीतू चौबे' कहलाते थे। वे स्त्रियों से छेड़छाड़ तथा गुंडई के अन्य कार्य किया करते थे $। जिस समय उनकी आयु २० वर्ष के लगभग थी, उस समय ब्रज में गो० विट्ठलनाथ जी के अलौकिक व्यक्तित्व की बड़ी चर्चा थी। छीतू चौबे और उनके साथियों ने गुसाईं जी के साथ दुष्टता करने का विचार किया। वे एक खोटा रुपया और थोथा नारियल लेकर गोकुल गये और वहाँ पर गो० विट्ठलनाथ जी से मिल कर वह रुपया और नारियल उनकी भेंट किया।

वार्ता में लिखा है कि गुसाईं जी के अलौकिक चमत्कार से खोटा रुपया और थोथा नारियल दोनों अच्छे हो गये! उन्होंने छीतू चौबे के समक्ष उस नारियल के टुकड़े करवाए तो उसमें से अच्छी सफेद गिरी निकली और रुपया को बाज़ार में चलने के लिए भेज कर उसके पैसे मँगवा लिए। गुसाईं जी के इस चमत्कार को देख कर छीतू चौबे को अपनी दुष्टता पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उनके चित्त की वृति बदल गयी और वे सच्चे भगवद्भक्त बन गये। वे गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्य बनकर पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो गये। उन्होंने सं० १५९२ में पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा ली थी।

एकनिष्ट भाव और निस्पृह जीवन—

राजा बीरबल के पुरोहित होने के कारण छीतस्वामी को उनसे वार्षिक वृत्ति मिलती थी, जिससे उनके परिवार का पालन होता था। एक बार वे राजा साहब के पास वार्षिक वृत्ति का रुपया लेने गये थे। वहाँ बातचीत में राजा बीरबल ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी के देवत्व में कुछ संदेह प्रकट किया। छीतस्वामी विट्ठलनाथ जी को साक्षात् परमात्मा का स्वरूप मानते थे, अतः वे बीरबल से रुष्ट होकर अपने स्थान पर वापिस आ गये और उनकी वृत्ति को भी उन्होंने सदा के लिए त्याग दिया! 'अष्टसखान की वार्ता' में लिखा है, जब इसकी

---

* नागर-समुच्चय पृ० २०७ $ प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वि० भाग, पृ० २४७

सूचना गो० विट्ठलनाथजी को हुई, तो उन्होंने छीतस्वामी के परिवार के भरण-पोषणार्थ उनको अपना पत्र देकर अपने एक शिष्य के पास लाहौर भेजना चाहा, ताकि उनको वहाँ से कुछ धन प्राप्त हो जाय, किंतु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा-- 'मैं भिक्षा के लिए वैष्णव नहीं हुआ हूँ।'' अंत में गोसाईं जी ने वह पत्र अपने दूत के द्वारा लाहौर भेज दिया, वहाँ से छीतस्वामी के लिए वार्षिक वृत्ति नियत हो गयी। इस घटना से प्रकट है कि गोसाईं जी अपने सेवकों के हित का कितना ध्यान रखते थे।

स्थायी निवास और जीवनचर्या—

पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा लेने के अनंतर वे स्थायी रूप से गोवर्धन के पास पूँछरी स्थान पर एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे रहने लगे। वहीं पर रहते हुए वे श्रीनाथजी के भजन-कीर्तन में अपने समय का सदुपयोग करते थे।

काव्य और संगीत में उनकी आरंभ से ही रुचि थी। बचपन से ही वे काव्य की रचना किया करते थे। पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने पर उनको ठाकुर जी के कीर्तन में योग देने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसके फल स्वरूप उनकी काव्य और संगीत विषयक प्रतिभा का और भी विकास हुआ और वे संप्रदाय के प्रमुख कवियों में गिने जाने लगे। सं० १६०२ में गो० विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप की स्थापना की तब उसमें छीतस्वामी को भी सम्मिलित किया गया।

देहावसान—

अंत में गो० विट्ठलनाथ जी के लीला संवरण का समाचार सुन कर वे इतने शोक संतप्त हुआ कि उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया। उनका देहावसान ७० वर्ष की आयु में गोवर्धन के पूँछरी स्थान पर सं १६४२ में हुआ था। उस स्थान पर उनका स्मारक भी बना हुआ है।

काव्य-रचना—

उनका रचा हुआ कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इससे अनुमान होता है कि उन्होंने कीर्तन के केवल स्फुट पदों की रचना की थी। उनके पद भी बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं। उनके रचे हुए अधिक से अधिक २०० पद प्राप्त हो सके हैं, जिनमें से अधिकांश कीर्तन संग्रहों में दिये हुए हैं। उनकी कविता भक्तिपूर्ण है, जिसकी भाषा सीधी और सरल है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से उनकी कविता विशेष उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती है।

काव्य-संग्रह

बाल-लीला— प्रात भयौ, जागो बल मोहन सुखदाई।
जननी कहै बार-बार, उठो प्रान के अधार,
मेरे दुखहार, स्यामसुंदर कन्हाई॥
दूध दही, माखन, घृत, मिश्री, मेवा, बदाम,
पकवान भाँति-भाँति विविध रस मलाई।
'छीतस्वामी' गोवरधन-धर, लाल भोजन कर,
ग्वालन के संग बन, गोचारन जाई॥ १॥

*

करत कलेऊ मोहन लाल।
माखन, मिश्री, दूध, मलाई, फल-मेवा परम रसाल॥
दधि ओदन पकवान मिठाई, खात खवावत ग्वाल।
'छीतस्वामी' बन गाय चरावन, चले लटकि पसुपाल॥ २॥

*

खिरक खिलावत गायन ठाढ़े।
इत नंदलाल ललित लरिकन सँग, उतै गोप महाबल ठाढ़े॥
सुनि निज नाम नैंचुकी निकसीं, चलि बछरा जब काढ़े।
अपनी जननी जानि लागि ये, पीवत नवल अषाढ़े॥
निर्तत, गावत, बसन फिरावत, गिरिहिं सिखरि पर आढ़े।
'छीतस्वामी' हमही बसे जब तें, इनहि मेलि सकल सुख बाढ़े॥ ३॥

*

गायन के पाछै-पाछै, नटवर बपु काछै,
मुरली बजावत, आवत है री मोहन।
अति ही छबीले पग, धरनी धरत डगमग,
उपजत मग लागै जिय सोहन॥
खिरक निकट जान, आगै धरत स्याम,
ठठकी गाय, लागीं सब गोहन॥
'छीतस्वामी' गिरिधारी, विट्ठलेस बपु धारी,
आवत निरखि-निरखि गोपी लागीं जोहन॥४॥

*

भई भेंट अचानक आई।
हौं अपन गृह तें चली जमुना, वे उततें चले चारन गाई॥
निरखत रूप ठगौरी लागी, उत कौ डगर चल्यौ नहिं जाई।
'छीतस्वामी' गिरिधरन कृपा कर, मो तन चितए मुरि मुसकाई॥ ५॥

मज्जन करत गोपाल चौकी पर।
अति ही सुगंध फुलेल उबटनौ, विविध भाँति की सौंज धर॥
प्रथम न्हवाय फिर केसर चर्चित, सोभित अंग सुंदर वर।
ब्रज–गोपी सब मिलि गावत हैं, अंगहिं उबट परसि कर॥
एक जु अंग-वस्त्र लै आई, पौंछत है मन अति भर।
फिर सिंगार करन कों बैठे, चौकी आनि धरी तर॥
विविध भाँति सिंगार करत हैं, आपुनि रुची सुघर वर।
लै दरपन श्री मुखहिं दिखावत, निरखि-निरखि हँसे हर॥
भाँति-भाँति सामग्री करि-करि, लै आईं सब घर-घर।
'छीतस्वामी' गिरिधरन अरोगत, अति आनंद प्रफुलित सर॥ ६॥

★

भोग सिंगार जसोदा मैया, श्री विट्ठलनाथ के हाथ कौ भावै।
नीके न्हवाय सिंगार करत है, आछी रुचि सौं मोहि पाग बँधावै॥
तातें सदाँ हौं वाहीं रहत हौं; तू डर मोहि माखन-दूध छिपावै।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल, निरखत नैना अनत न जावै॥७॥

★

आज किसोर कुँवर कान्ह देखि री देखि आवत गावत,
भावत नैनन, चैन पावत सकल अंग-अंग।
मुरली कुनित सुभग बदन, मोहन लोल लोचन,
मधुप टोलन, मधुर बोलन, गुंजत संग-संग॥
चरन नूपुर, मेखला कटि, रति-रस भरे स्याम,
कनक कपिस अंबर करत मान भंग।
'छीतस्वामी' गिरिधरन हरत तन के मन के ताप-संताप,
बिरह-वेदन, छवि सौं जीति अनंग॥ ८॥

★

गोवरधन गिरि पर ठाढ़े लसत।
चहुँ दिसि धेंनु धरनि धावत, तब नव मुरली मुख लसत॥
मोर मुकुट बनमाल मरगजी, कछुक फूल सिर खसत।
नव उपहार लिऐं सब ग्वालिन, निरखि दगंचल हसत॥
'छीतस्वामी' बस कियौ चाहत हैं, संग सखा गुन ग्रसत।
झूठेहिं मिस करि इत-उत चाहत, श्री विट्ठल मन बसत॥ ६॥

आसक्ति—

मेरी अँखियन के भूषन गिरिधारी।
बलि–बलि जाऊँ छबीली छवि पर, अति आनंद सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिंतामनि, दरस–परस दुखहारी।
अतुल सुभाव तनक तुलसी दल, मानत सेवा भारी॥
'छीतस्वामी' गिरिधरन बिसद जस, गावत हैं कुल-नारी।
कहा बरन गुन-गाथ नाथ के, श्री विट्ठल हृदय बिहारी॥१०॥

*

मेरी अँखियन देखो गिरिधर भावै।
कहा कहौं तोसों सुनि सजनी, उतहीं कों उठि धावै॥
मोर मुकुट कानन कुंडल लखि, तन-गति सब बिसरावै।
बाजूबंद, कंठ मनि-भूषन, निरखि-निरखि सचु पावै॥
'छीतस्वामी' कटि छुद्र घंटिका, नूपुर पदही सुनावै।
इहिं छवि सदा श्री विट्ठल उर, मो मन मोद बढ़ावै॥११॥

*

अरी हौं स्याम-रूप लुभानी।
मारग जाति मिले नँदनंदन, तन की दसा भुलानी॥
मोर मुकट सीस पर बाँको, बाँकी चितवनि सोहै।
अंग अंग भूषन बने सजनी, जो देखै सो मोहै॥
मो तन मुरिकै जब मुसिकाने, तब हौं छाकि रही।
'छीतस्वामी' गिरिधर की चितवनि, जाति न कछू कही॥१२॥

*

मेरे नैनन इहै बान परी।
गिरिधरलाल मुखारविंद-छवि, छिन-छिन पिवत खरी॥
पाग सुदेस लाल अति सोहत, मोतिन की दुलरी।
हरि-नख उरहिं बिराजत, मनि-गन जटित कंठसिरी॥
'छीतस्वामी' गोवरधन-धर पर. वारौं तन-मन री।
विट्ठलनाथ निरखि कै फूलत, तन-सुधि सब बिसरी॥१३॥

*

प्रीतम प्यारे ने हौं मोही।
नैंक चितै इन चपल नैन सों, कहा कहूँ तोही॥
कहा कहूँ मोहि रह्यौ न जावै, जब देख्यौ चित गोही।
'छीतस्वामी' गिरिधरन निरखिकै,अपनी सुधि हौं खोही॥१४॥

रास-रंग—

लाल संग रास-रंग लेत मान रसिक रमन,
गिड़-गिड़ता, गिड़-गिड़ता, त त्त त्त त्त त्त थेई-थेई गति लीने ।
स रि ग म प ध नि, ग म प ध नि धुनि सुनि,
ब्रजराज तरुनि गावत री, अति गति यति भेद सहित,
ता न न नां न न न न न न न न अति गति असलीने ॥
उदित मुदित सरद-चंद, बंद छुटे कंचुकी के,
वैभव भव निरखि-निरखि कोटि काम होते ।
बिहरत बन रस-बिलास, दंपति वर ईषद हास,
'छीतस्वामी' गिरिवर-धर, रसबस कर लीने ॥१५॥

*

लाल ललित ललितादिक संग लिएँ,
बहरैं री बन बसंत रितु कला सुजान ।
फूलन की गेंद, कली टपकत पट उर छिएँ,
हँसत लसत हिल-मिलि सब,सकल गुन-निधान ॥
खेलत अति रस जु रह्यौ, रसना हू परै न कह्यौ,
निरखि-परखि थकित भयौ, सघन गगन-यान ।
'छीतस्वामी' गिरिधर श्री विट्ठल-पद-पदम-रेंनु,
वर प्रताप महिमा तें, कीयौ कीरति-गान ॥१६॥

*

आयौ ऋतुराज साज पंचमी बसंत आज,
बौरे द्रुम अति अनूप अंब रहे फूली ।
बेली पट पीत माल, सेत पीत कुसुम लाल,
उड़वति सब स्याम भाम भँवर रहे भूली ॥
रजनि अति भई स्वच्छ, सरिता सब विमल पच्छ,
उड़गन पति अति अकास बरषत रस-मूली ।
जती-सती, सिद्ध-साधु जित-तित तें उठे भाग,
बिमल सभी तपसी भए, मुनि-मन गति भूली ॥
जुवति-जूथ करति केलि, स्याम सुखद सिंधु भेलि,
लाज-लीक दई पेलि, परसि पगन तूली ।
बाजत आवज उमंग, बांसुरी मृदंग चंग,
यह सब सुख 'छीत' निरखि, इच्छा अनुकूली ॥१७॥

राधे रूप-निधान गुन-आगरी, नंदनंदन रसिक संग खेली ।
कुंज के सदन अति चतुर वर नागरी, चतुर नागर सों करति केली ॥
नील पट तन लसै,पीत कंचुकी कसै, सकल अंग भुवननि रूप रेली ।
परम आनंद सों लाल गिरिधरन,हृदै सौ लागि-लागि भुजन करि मेली ॥
'छीतस्वामी' नवल वृषभानु-नंदनी करति,सुख-रासि पीय संग नवेली ।
सहचरी मुदित सब जाम रंध्रनि निरखि, मानैं अपनौ भाग करत केली ॥१८॥

*

बादर झूम-झूम बरसन लागे ।
दामिनि दमकति, चौंकि चमकि स्याम, घन की गरज सुनि जागे ॥
गोपी जन द्वारैं ठाढ़ीं, नारि-नर भींजत मुख देखति अनुरागे ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल, ओत-प्रोत रस पागे ॥१६॥

*

भोर भयौ नीकौ मुख हँसत दिखाइए ।
रात के बिछुरे दोऊ पलक मेरे वारि फेरि डारौं कै नैंकु नैनन सिराइऐ ॥
कोमल उन्नत काहू ऊपर अमृत धर्यौ, तेरी छाती छबि अधिक बढ़ाइऐ ।
'छीतस्वामी' गिरिधर सकल गुन-निधान,कहा कहौं मुख करि प्रान हीतें पाइऐ ॥२०॥

*

मरगजी और कुंद माल, लोचन अलसात लाल,
डगमगात चरन धरन धरत, रैन जागे ।
भाल तें खस मोर मुकुट भृकुटी के आयौ निकट,
सिथिल चपल चंद्रिका सों बाँधी पाग तागे ॥
अतिसय कुसुम तन सुहाति,कहूँ-कहूँ कुमकुम की काँति,
मदन नृपति पीक छाप जुग कपोलन लागे।
'छीतस्वामी' गिरिवर-धर सोभित चहुँ ओर भ्रमर,
संग में गुन-गान करत फिरत आगै-आगे ॥॥२१॥

*

अति ही कठिन कुच ऊँचे दोऊ नितंबनि सौं,
गाढ़े उर लायकैं सो मेटी काम-हूक ।
खेलत में लर टूटी, उर पर पीक परी,
उपमा को बरनत भई मति मूक ॥
अधर अमृत-रस ऊपर तें अँचवायौ,
अंग-अंग सुख पायौ, गयौ दुख-दूक ।
'छीतस्वामी' गिरिवर-धर राय लूट्यौ मनमथ,
वृंदावन-कुंजन में, मैं हू सुनी कूक ॥२२॥

भक्त की भावना—

अहो विधना ! तो पै अँचरा पसारि माँगौं,
जनम-जनम दीजो मोहि याही व्रज बसिवौ ।
अहीर की जाति, समीप नंद घर,
हेरि-हेरि स्याम सुभग घरी-घरी हँसिबौ ॥
दधि के दान मिस, ब्रज की बीथिन में,
झकझोरन अंग-अंग कौ परसिवौ ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल,
सरद-रैन रस रास बिलसिवौ ॥२३॥

★

सुमरि मन गोपाल लाल, सुंदर अति रूप-जाल,
मिटि हैं जंजाल सकल, निरखत संग गोप-बाल ।
मोर-मुकुट सीस धरैं, बन-माल सुभग गरैं,
सबकौ मन हरैं देखि, कुंडल की झलक गाल ॥
आभूषन संग सोहैं, मोतिन के हार पोहैं,
कंठश्री सोहै दग, गोपी निरखत निहाल ।
'छीतस्वामी' गोवरधन धारी कुँवर नंद-सुवन,
गायन के पाछे–पाछे, धरत है लटकीली चाल ॥२४॥

★

धाइकै जाइवे जमुना–तीरे ।
तिनही की महिमा कहाँ लौं बरनिऐ,
जाइ परसत प्रेम अंग तीरे ॥
निसि-दिन केलि करत मनमोहन,
पिय के संग,भक्तन की है जु भीरे ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल,
ता बिन नैंक नहीं धरत धीरे ॥२५॥

★

आगै कृष्न, पाछै कृष्न, इत कृष्न, उत कृष्न,
जित देखौ तित कृष्न ही मई री ।
मोर मुकट, कुंडल किरनि धरै, सुभग,
मुरली मधुर तान लेत नई नई री ॥
काछनी काछै लाल, उपरना पीत पट,
तिहि काल देखति ही सोभा थकित भई री ।
'छीतस्वामी' गिरिधारी, विट्ठलेस वपुधारी,
निरखत छवि अंग-अंग ठई री ॥२६॥

श्री कृष्न कृपालु कृपानिधि, दीनबंधु दयाल ।
दामोदर बनबारी मोहन, गोपीनाथ गुपाल ॥
राधारमन बिहारी नटवर, सुंदर जसुमति बाल ।
माखन चोर गिरिधर मनहारी, सुखकारी नंदलाल ॥
गोचारी गोविंद गोपपति, भावन मंजुल ग्वाल ।
'छीतस्वामी' सोई अब प्रगटे, कलि में वल्लभ-लाल ॥२७॥

*

गाऊँ श्रीबल्लभनंदन के गुन, लाऊँ सदा मन अंग-सरोजन ।
पाऊँ प्रेम-प्रसाद तितच्छन, गाऊँ गोपाल गहें चित चोजन ॥
नवाऊँ सीस, लड़ाऊँ लालैं, आयौ सरन इहै प्रयोजन ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल, ऊपर वारौं कोटि मनोजन ॥२८॥

*

मोहि बल है दोऊ ठौर कौ ।
एक भरोसौ हरि-भक्तन कौ, दूजौ नंदकिसोर कौ ॥
मनसा वाचा करमना, वर नाहिं भरोसौ और कौ ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल, बल्लभ-कुल सिरमौर कौ ॥२९॥

*

जे बसुदेव किये पूरन तप, तेई फल फलित श्री विट्ठल देव ।
जे गोपाल हुते गोकुल में, सोई अब आनि बसे निज गेह ॥
जे वे गोप-बधू हीं व्रज में, सो अब वेद-ऋचा भईं येह ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल, तेई एई, एई तेई, कछु न संदेह ॥३०॥

*

जब तें भूतल प्रगट भये ।
तब तें सुख बरसत सबहिन पर, आनंद अमित दये ॥
श्री बल्लभ-कुल-कमल-अमल-रवि, आनँद उदित उदये ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल, जुग-जुग राज जये ॥३१॥

★

राधिकारमन, गिरिधरन, श्री गोपीनाथ, मदनमोहन, कृष्ण, नटवर, बिहारी ।
रासलीला-रसिक, व्रज-जुवति-प्रानपति, सकल दुख-हरन गोप-गायन चारी ॥
सुख-करन जग-तरन, नंदनंदन नवल, गोपपति-नारी बल्लभ मुरारी ।
'छीतस्वामी' हरि सकल जीव उद्धार-हित, प्रकट बल्लभ-सदन, दनुजहारी ॥३२॥

अपने पिता कुंभनदास से गायन की शिक्षा प्राप्त करते हुए—

चतुर्भुजदास

जन्म सं० १५८७] [देहावसान सं० १६४२

★

७. चतुर्भुजदास

[सं० १५८७ से सं० १६४२ तक]

जीवन-सामग्री और उसकी आलोचना—

चतुर्भुजदास का जीवन-वृत्तांत 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' सं० २ और 'अष्टसखान की वार्त्ता' सं० ७ में दिया हुआ है। इन दोनों पुस्तकों में उनकी जीवन-घटनाओं से संबंधित कई चमत्कारपूर्ण एवं अलौकिक कथाएँ दी हुई हैं। इस प्रकार की कथाओं में विश्वास रखने वाले भावुक भक्तों को इनसे आनंद प्राप्त हो सकता है, किंतु अन्य व्यक्तियों को इनमें रुचि होना कठिन है। अष्टछाप के कवियों की प्रामाणिक जीवन-घटनाएँ उपस्थित करने में सबसे बड़ी असुविधा यह है कि वार्ता साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से उन पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। जहाँ अन्य साधनों से काम नहीं चलता है, वहाँ बाध्य होकर वार्ता-साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता है।

चतुर्भुजदास ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी के देहावसान पर दुखित होकर कुछ पदों की रचना की थी। इससे प्रकट होता है कि वे गोसाईं जी के देहावसान तक विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं के अंतःसाक्ष्य से ऐसी कोई बात ज्ञात नहीं होती, जिससे उनके भौतिक चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता हो। बहिःसाक्ष्यों से भी उनके चरित्र विषयक कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती है। नाभादास जी ने अपने भक्तमाल ग्रंथ में चतुर्भुज नाम धारी दो अन्य भक्तों के वृत्तांत का कथन किया है, किंतु उन्होंने अष्टछाप के चतुर्भुजदास का कोई उल्लेख नहीं किया है। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने भी उनका कोई वृत्तांत नहीं दिया है। ध्रुवदास कृत भक्त-नामावली में एक चतुर्भुज नामक भक्त का उल्लेख हुआ है‡। यदि उसे अष्टछाप का चतुर्भुजदास समझा जाय, तब भी इससे उनकी भक्ति-भावना के अतिरिक्त उनके भौतिक चरित्र पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है। ऐसी दशा में 'दोसौ बावन वार्ता' और 'अष्टसखान की वार्ता' के अलौकिक विवरणों में से बुद्धिगम्य बातों के आधार पर ही उनका कुछ भौतिक जीवन-वृत्तांत लिखा जा सकता है।

---

‡ भक्त नामावली, दोहे सं० ४८, ४६

वार्ता साहित्य में चतुर्भुजदास के जन्म-संवत् का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उनके जन्म संवत् का अनुमान भिन्न-भिन्न रूप से किया है। श्री कंठमणि शास्त्री के मतानुसार उनका जन्म सं० १५७५ से १५८० तक किसी समय हुआ था†। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार उनका जन्म सं०१५९७ में हुआ था। यही संवत् डाक्टर दीनदयाल गुप्त को भी मान्य है$। यह संवत् स्वीकार करने से अष्टछाप की स्थापना के समय उनकी आयु केवल ५ वर्ष की होती है! वार्ता से ज्ञात होता है कि उनके जन्म के इकतालीसवें दिन गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उनको मंत्र–दीक्षा देकर उनका ब्रह्म-संबंध कराया था; तभी से वे पद-रचना करने लगे थे! अपनी बाल्यावस्था में वे श्री गोवर्धननाथ के साथ खेलते थे और उनकी अंतरंग लीलाओं में सम्मिलित होकर तत्संबंधी लीला-विषयक पदों की रचना करते थे! जिन लोगों को इन अलौकिक बातों में विश्वास हो, उनको 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में दिये हुए जन्म-संवत को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी, किंतु जिनकी बुद्धि इन चमत्कारपूर्ण बातों को ग्रहण करने में असमर्थ है, वे उक्त संवत् को कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। श्री द्वारिकादास जी परीख भी पहले चतुर्भुजदास का जन्म संवत् १५९७ मानने के पक्ष में थे, जैसा उन्होंने प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग में लिखा है*; किंतु अब वे सं० १५८७ में उनका जन्म होना मानते हैं। काल-क्रम के विचार से हमने भी यही संवत् स्वीकार किया है।

उनका शरण-काल 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार सं० १५९७ मानने में कोई बाधा नहीं है। उनका देहावसान भी गो० विट्ठलनाथ जी के लीला-प्रवेश के अनंतर सं० १६४२ में होना सर्वमान्य है।

हिंदी के इतिहास ग्रंथों में उनके रचे हुए कई ग्रंथों का नामोल्लेख मिलता है, किंतु वे इसी नाम के अन्य कवियों की रचनाएं हैं। चतुर्भुजदास ने कीर्तन के केवल स्फुट पदों की रचना की थी। श्री द्वारिकादास परीख ने चतुर्भुजदास कथित ब्रजभाषा गद्य की एक पुस्तक 'खट ऋतु की वार्ता' प्रकाशित की है, किंतु यह हरिराय जी की रचना ज्ञात होती है।

---

† 'कांकरौली का इतिहास' पृ० १२०। घ

$ 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' पृ० २६५

* प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, गुजराती विभाग, पृ० ९७

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

चतुर्भुजदास का जन्म सं० १५८७ के लगभग गोवर्धन के पास जमुनावतौ ग्राम में हुआ था। वे अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। उनकी जाति गौरवा क्षत्रिय थी। उनके छै बड़े भाई थे। सब से बड़े पाँच भाइयों की रुचि लौकिक विषयों में थी। उनको भगवद्भक्ति और श्रीनाथ जी की सेवा से कोई अनुराग नहीं था, इसलिए उनके पिता कुंभनदास उनसे असंतुष्ट रहते थे। छटा भाई कृष्णदास श्रीनाथ जी की गायों की रखवाली करता था, इसलिए कुंभनदास उससे कुछ संतुष्ट थे। इन छै पुत्रों के होते हुए भी कुंभनदास एक ऐसा पुत्र चाहते थे, जो उनके जैसा भक्त और श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा में मन लगाने वाला हो। कहते हैं गो० विट्ठलनाथ जी के आशीर्वाद से कुंभनदास के सातवें पुत्र के रूप में चतुर्भुजदास का जन्म हुआ था। बालक चतुर्भुजदास बचपन में ही अपने पिता के गुणों का अनुकरण करने लगे थे, इसलिए अपने सब पुत्रों की अपेक्षा कुंभनदास का इन पर विशेष स्नेह था।

सं० १५९७ में गो० विट्ठलनाथ जी अपने ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी का जन्मोत्सव कर जब गोकुल से गोवर्धन गये, तब कुंभनदास की प्रार्थना पर उन्होंने चतुर्भुजदास को पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा दी थी। उस समय चतुर्भुजदास की आयु १० वर्ष के लगभग थी।

जीवन-चर्या—

चतुर्भुजदास अपने पिता के आज्ञाकारी पुत्र थे। वे प्रत्येक कार्य में अपने पिता को सहयोग देते थे। खेती-बाड़ी, घर के काम-काज और श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा में वे सदैव अपने पिता की सहायता करते थे। उनको बचपन से ही काव्य और संगीत की शिक्षा प्राप्त हुई थी। अपने पिता के साथ श्रीनाथ जी के कीर्तन में सम्मिलित होने से वे छोटी अवस्था में ही उत्तम पदों की रचना कर उनका सुंदर रीति से गायन करते थे।

चतुर्भुजदास अपनी बाल्यावस्था में ही कितनी सुंदर आशु-कविता करने लगे थे, इसका वृत्तांत वार्ता के एक प्रसंग में दिया हुआ है। एक बार कुंभनदास और चतुर्भुजदास दोनों अपने ग्राम की झोंपड़ी में बैठे हुए थे। वहाँ से उनको श्रीनाथ जी का मंदिर दिखलायी देता था। अर्ध रात्रि के समय मंदिर के दीपक का प्रकाश झरोखों से निकलता हुआ दिखलायी दे रहा था।

लीला-रस में निमग्न कुंभनदास को श्रीनाथ जी के शयन करने का अनुभव हुआ। उन्होंने उसी समय पद की एक तुक का इस प्रकार गायन किया—

"वह देखो वरत झरोखन दीपक, हरि पौढ़े ऊँची चित्तरसारी।"

इस तुक को सुनते ही चतुर्भुजदास ने उसी रस का स्वयं अनुभव करते हुए तत्काल दूसरी तुक का इस प्रकार गायन किया—

"सुंदर बदन निहारन कारन, राखे हैं बहुत जतन कर प्यारी।"

इसे सुनकर कुंभनदास को बड़ी प्रसन्नता हुई। उनको विश्वास हो गया कि मेरा यह पुत्र वास्तव में वैसा ही है, जैसा मैं चाहता था। चतुर्भुजदास ने जीवन-पर्यंत श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए लीला विषयक अनेक पदों की रचना की थी। उनकी कविता से ज्ञात होता है कि उनको ब्रजभाषा और संस्कृत को अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी।

कुंभनदास की भक्ति-भावना के कारण उनके घर का वातावरण ही ऐसा बन गया था कि चतुर्भुजदास ने बचपन में ही सांप्रदायिक रहस्य का ज्ञान भली भाँति प्राप्त कर लिया। श्रीनाथ जी की भक्ति, अनन्य सेवा-भावना और कीर्तन के उत्तम पदों की रचना के कारण वे गो० विट्ठलनाथ जी के अत्यंत कृपापात्र शिष्यों में से थे।

सं० १६०२ में जब गोसाईं जी ने 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमें चतुर्भुजदास को भी सम्मिलित किया गया। जहाँ अष्टछाप में बड़े-बड़े भक्त, सुकवि और कीर्तनकार थे, वहाँ अपने वयोवृद्ध पिता के साथ युवक चतुर्भुजदास का भी उसमें सम्मिलित किया जाना, उनके लिए बड़े गौरव की बात थी। इससे उनके सांप्रदायिक महत्व की स्पष्ट सूचना मिलती है।

अपने पिता की तरह उन्होंने भी अनासक्त गृहस्थ जीवन स्वीकार किया था। वार्ता से ज्ञात होता है कि अपनी पत्नी के स्वर्गवास होने पर गो० विट्ठलनाथ जी के आग्रह से उन्होंने एक सजातीय विधवा से पुनर्विवाह किया था। उनके एक पुत्र का नाम राघवदास था। वह भी गोसाईं जी का शिष्य और पुष्टि संप्रदाय का एक सेवक था।

जन्म से मृत्यु पर्यंत चतुर्भुजदास का समस्त जीवन श्रीनाथजी की एकनिष्ट भाव से सेवा और उनका भजन-कीर्तन करने में ही व्यतीत हुआ। वे अपने जन्म-स्थान जमुनावतौ ग्राम में रहा करते थे; वहीं से वे प्रति दिन श्रीनाथ जी

के दर्शन और उनकी कीर्तन-सेवा के लिए जाया करते थे। गोसाईं जी के पुत्रों के साथ कभी कभी गोकुल जाने के अतिरिक्त, वे जीवन भर गोवर्धन छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं गये। एक बार गोसाईं जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को कुछ समय के लिए गोवर्धन से मथुरा ले गये थे। श्रीनाथजी के दर्शनों से वंचित होने के कारण चतुर्भुजदास ने वह अवधि बड़े कष्ट के साथ व्यतीत की, और उन्होंने जब पुनः श्रीनाथ जी का दर्शन किया, तब कहीं उनको चैन पड़ा। गोकुल में नवनीतप्रिय जी के दर्शनों का सुखानुभव करते हुए भी उनको श्रीनाथ जी का वियोग असह्य हो जाता था, अतः उनको शीघ्र ही वहाँ से वापिस आना पड़ता था।

देहावसान—

सं १६४२ में जब गो० विट्ठलनाथ जी का देहावसान हुआ, उस समय चतुर्भुजदास अपने निवास स्थान जमुनावतौ में थे। उस हृदय–विदारक समाचार को सुनकर वे बड़े दुखित भाव से गोवर्धन आये और श्रीनाथ जी के दर्शनों के अनंतर गोसाईं जी की स्तुति के पद गाते हुए उन्होंने रुद्रकुंड पर एक इमली के वृक्ष के नीचे अपने लौकिक शरीर को छोड़ दिया। उनका देहावसान गोसाईं जी के लीला-प्रवेश के अनंतर ही सं० १६४२ में हुआ था।

काव्य-रचना—

चतुर्भुजदास ने कीर्तन के स्फुट पदों की रचना की थी। उन्होंने संभवतः किसी ग्रंथ का निर्माण नहीं किया। उनके पदों के तीन संग्रह चतुर्भुज कीर्तन संग्रह, कीर्तनावली और दानलीला कांकरोली विद्या विभाग में हैं, जो स्वतंत्रग्रंथ न होकर उनके पदों के संग्रह हैं। ये संग्रह स्वयं उनके द्वारा अथवा उनके पश्चात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किये गये होंगे। खोज रिपोर्ट में चतुर्भुजदास कृत मधुमालती, भक्ति-प्रताप, द्वादशयश और हितजू कौ मंगल नामक कई ग्रंथों का उल्लेख हुआ है। हमारे मतानुसार ये ग्रंथ अष्टछाप के चतुर्भुजदास कृत न होकर इसी नाम के किसी अन्य कवि के रचे हुए हैं। अंतिम ग्रंथ तो स्पष्ट रूप से राधावल्लभ संप्रदायी चतुर्भुज कवि की रचना है।

चतुर्भुजदास की कविता में भक्ति-भावना और शृंगार की अच्छी छटा दिखलायी देती है। काव्य–सौंदर्य की दृष्टि से भी यह उत्तम रचना है। उन्होंने अपने पदों में भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर गोपी–विरह तक की ब्रजलीला का गायन किया है।

काव्य-संग्रह

बाल-लीला—

झूलौ पालने गोविंद ।
दधि मथौं, नवनीत काढ़ौं, तुमकों आनँदकंद ॥
कंठ कठुला, ललित लटकन, भ्रकुटि मन के फंद ।
निरखि छवि, छिन-छिन झुलाऊँ, गाऊ लीला छंद ॥
द्वै दूध की दतियाँ,सुखकी निधियाँ, हँसत जब कछू मंद ।
'चतुर्भुज' प्रभु जननी बलि, गिरिधरन गोकुल-चंद ॥ १ ॥

*

ललित लिलाट लर लटकन सोहै, लाड़िले ललन कों लड़ावैं ललना ।
प्रान प्यारे प्रानपति, उपजत अति रति, पल-पल पौढ़ै प्रेम पलना ॥
नैंन्हीं-नैंन्हीं दतियाँ द्वै-द्वै दूध की, देखिए हँसत, हरत दुख-दलना ।
सरोज सलोंने मुख स्यामघन जलधर,'चतुर्भुज' प्रभु बिन देखै परै कल ना॥ २॥

*

अपने बाल गुपालैं रानी जू, पालने झुलावै ।
बारंबार निहारि कमल मुख, प्रमुदित मंगल गावै ॥
लटकन भाल, भ्रकुटि मिस बिंदुक, कठुला कंठ बनावै ।
सद माखन मधु सानि अधिक रुचि,अपने करहिं चखावै ॥
कबहुँक सुरंग खिलौना लै-लै, नाना भाँति खिलावै ।
निरखि-निरखि मुसिक्यात साँवरौ, द्वै दतियाँ दरसावै ॥
सागर कुमुद चकोर चंद लौं, रूप सुधा बरसावै ।
'चतुर्भुज'प्रभु गिरिधरन चंद कौं, हँसि-हँसि कंठ लगावै ॥ ३ ॥

*

साँवरौ सुत पालनौ झूलै । निरखि-निरखि जसुमति जिय फूलै ॥
नैन विसाल भ्रकुटी मिस राजैं । निरखि बदन उडपति जियलाजैं ॥
भाल तिलक लर लटकनि सोहै । मंद हँसन सबकौ मन मोहै ॥
कठुला कंठ रुचिर पहुँची कर । सुभग कपोल नाक बिंबाधर ॥
माखन मिश्री मेलि चखावै । बारंबार प्रमुदित उर लावै ॥
गिरिधर कुँवर जननी दुलरावै ।'चतुर्भुजदास' विमल जस गावै ॥४॥

*

मंगल आरती गोपाल की ।
नित उठि मंगल होत निरखि मुख, चितवन नैन विसाल की ॥
मंगल रूप स्यामसुंदर कौ, मंगल छवि भ्रकुटी भाल की ।
'चतुर्भुजदास' सदा मंगल-निधि, बानिक गिरिधर लाल की ॥ ५ ॥

महा महोत्सव गोकुल गाँम ।
प्रेम मुदित गोपी जस गावत, लै-लै स्यामसुँदर कौ नाम ॥
जहाँ-तहाँ लीला अवगाहत, खरिक खोरि दधि-मंथन धाम ।
परम कुतूहल निसि अरु बासर, आनंद ही बीतन सब जाम ॥
नंदगोप-सुत सब सुखदायक, मोहन मूरति, पूरन काम ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर आनँद-निधि, नख-सिख रूप सुभग अभिराम ॥६॥

★

मोहन चलत बाजत पैंजनि पग ।
सब्द सुनत चकृत ह्वै चितवत, त्यौं ठुमकि-ठुमकि धरत है डग ॥
मुदित जसोदा चितवति सिसु तन, लै उछंग लावै कंठ सु लग ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल कों, ब्रज जन निरखत ठाड़े ठग-ठग ॥७॥

★

भोर भयौ नंद-जसुदा जी बोलत, जागो जागो मेरे गिरधर लाल ।
रतन जटित सिंहासन बैठो, देखन कों आई ब्रज-बाल ॥
नियरे जाय सुबेंनी खेंचत, बहुरौ हरि ढाँपत बदन रसाल ।
दूध-दही और माखन-मेवा, भामिनि भरि लाई हैं थाल ॥
तब हरि हरषि गोद उठि बैठे, करत कलेऊ तिलक दै भाल ।
दै बीरा आरति वारति हैं, 'चतुर्भुज' गावत गीत रसाल ॥८॥

★

जागो गोपाल लाल दोहौ धौरी गैया । सद्य दूध मथि पीवो भैया ॥
भोर भयौ खग तमचर बोलें । घर घर गोपर द्वार सब खोलें ॥
गोपी रई मथनिया धोवें । अपनौ अपनौ दह्यौ बिलोवें ॥
सकल सखा बुलावन आवें । कृष्ण नाम लै-लै मंगल गावें ॥
भूषन-वसन पलटि पहिराऊँ । चंदन तिलक ललाट बनाऊँ ॥
'चतुर्भुज' प्रभु श्री गोवरधन-धारी । या मुख-छबि पर बलि गई महतारी ॥९॥

★

कान्ह सों कहत जसोदा मैया ।
मेरे मोहन अनत न जैयै, घरहिं खेलौ दोऊ भैया ॥
ए तरुनी जोवन मदमाती, झूठेहिं दोष लगावै दैया ।
तुम तौ मेरे प्रान जीवन-धन, मथि कै दूध पिवाऊँ चैया ॥
'चतुर्भुजदास' गिरिधन कह्यौ तब, हौं बन जाउँ चरावन गैया ।
सुनि जननीमन अति हरषाती, मुख चूँमत और लेत बलैया ॥१०॥

मैया मोहि माखन मिश्री भावै।
मीठौ दधि मधु-घृत अपने कर, क्यों नहिं मोहि खवावै॥
कनक दोहिनी देकर मोकों, गो-दोहन क्यों न सिखावै।
औटयौ दूध धेंनु धौरी कौ, भरि कटोरा क्यों न प्यावै॥
अजहूँ ब्याह करत नहिं मेरौ, होय निसंक नींद क्यों आवै।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर की बतियाँ, लै उछंग पय-पान करावै॥११॥

★

माई लैन देहु जो मेरे लालैं भावै।
दधि-माखन चौगुनौ देउँगी, या सुत के लेखैं जाकौ जितनौ आवै।
पलना झूलत कुल देव आराध्यौ, जतन-जतन वारि घुटरुअन धावै।
सरवस ताहि देउँगी जो मेरे, नान्हरे गोविंद पाँ-पाँ चलन सिखावै॥
यह अभिलाष लेत दिन प्रति कब, मेरौ मोहन धेंनु चरावै।
'चतुर्भुज' गिरिधरन लाल कौं, निरखि-निरखि उर नैंन सिरावै॥१२॥

★

जसोमति ढूंढ़त है गोपालै।
काहू देखौ मेरौ अलक लड़ैतौ, खेलत हौ संग बालै॥
इत-उत हेरि रही, नहिं पावत, सुंदर स्याम तमालै।
चकित नैंन अतिसय अकुलानी, भई-भई बेहालै॥
साँवरे बरन, पीत सोहे झगुली, कच-लर लटकत भालै।
पग पैंजनी कुनित कहुँ देखौ, चाल लजात मरालै॥
घर-घर टेरि, कहति कहुँ देख्यौ, वरु बूझति गोपी-ग्वालै।
जो मेरे छगन-मगन हीं दिखावै, ताहि देउँ उर-मालै॥
काहू ब्रज-सुंदरि लै राख्यौ, निज गृह नेह विसालै।
नंदराय जू कौं आनि दिखावै, सुंदर रूप रसालै॥
गये प्रान मानौं फिरि आये, कियौ उछंग उतालै।
चूमति नैंन, सीस मुख ठोड़ी, अरु चूमति दोउ गालै॥
निज गृह आनि करी न्यौछावरि, तन-मन-धन तिहि कालै।
'चतुर्भुज' प्रभु कौं खेलत जानैं, जिवावति गिरिधर लालै॥१३॥

★

अरोगत नागर नंद किसोर।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि तें आईं, सघन घटा घनघोर॥
नेह नीर बूँदन बरसन लाग्यौ, चपला पवन झकोर।
'चतुर्भुज' प्रभु पातर लै भाजे, सघन कुंज की ओर॥१४॥

चुटिया तेरी बड़ी किधौं मेरी ।
अहो सुबल बैठहु भैया हो, हम तुम माँपैं इक बेरी ।
लै तिनका माँपत उनकी कछु, अपनी करत बड़ेरी ।
लैकर कमल दिखावत ग्वालन, ऐसी काहू न केरी ॥
मोकों मैया दूध पियावत, तातें होत घनेरी ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर इहि आनंद, नाँचत दै-दै फेरी ॥१५॥

*

घर–घर डोलत माखन खात ।
ग्वाल-बाल सब सखा संग लिएँ, सूने भवन धँसि जात ॥
जब ग्वालिनि जल भरि घर आई, तबहिं भजे मुसिकात ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल सों, नाहिंन कछू बसात ॥१६॥

*

सुनहु धौं अपने सुत की बात ।
देखि जसोमति कान न राखत, लै माखन-दधि खात ॥
भाजन फोरि, डारि सब गोरस, बाँटत है कर पात ।
जो बरजौं तौ उलटि डरावत, चपल नैंन की घात ॥
जो पावत सो गहित चपल गति, कहति न कछु सकुचात ।
हौं सकुचित अंचल करि धरिकै, रही ढाँपि मुख गात ॥
गिरिधर लाल हाल ऐसे करि, चपल धाय मुसिक्यात ।
'दास चतुर्भुज' प्रभु जानत है, यहै बूझि सोंहै दै खात ॥१७॥

*

जसोदा कहा कहौं हौं बात ।
तुम्हरे सुत के करतब मोपै, कहत कहे नहिं जात ॥
भाजन फोरि, ढोरि सब गोरस, लै माखन-दधि खात ।
जो बरजौं तो आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात ॥
और अटपटी कहा लौं बरनौं, छुवत पान सों गात ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर के गुन हौं, कहति-कहति सकुचात ॥१८॥

*

ग्वालिनि तोहि कहत क्यों आयौ ।
मेरौ कान्ह निपट बालक, क्यों चोरि माखन खायौ ॥
बूझि, विचार देखि जिय अपुने, कहा कहौं हौं तोहि ।
कंचुकि–बंद तोरे ये कैसें, सो समुझि परत नहिं मोहि ॥
'चतुर्भुजदास' लाल गिरिधर सों, झूठी कहति बनाय ।
मेरौ स्याम सकुच कौ लरिका, पर-घर कबहुँ न जाय ॥१६॥

दिन-दिन दैन उराहनौ आवै ।
ये ग्वालनि जोवन मदमाती, झूठे ही दोष लगावै ॥
कहिधौं भाजन धरे पराये, कहाँ मेरौ मोहन पावै ।
लरिका अति सुकुमार गहें कर, हलधर संगहिं लावै ॥
कबहूँ कहति कंचुकी फारी, कबहूँक और बतावै ।
कबहुँक रई मथानी लैके, आँगन हाथ नँचावै ॥
मन लाग्यौ कान्ह कमल दल लोचन,ऊतर बहुत बनावै ।
'चतुर्भुज'प्रभु गिरिधर मुख इहि मिस,छिन-छिन देखै भावै ॥२०॥

*

ऐसौ ही धरौ री दधि, बिन मंथन किए,
देहु जसुमति नैंक अपनी राई ।
अपनहुँ ढूँढि हारी, तैसी निसि अँधियारी,
पाऊँ न भवन माँझ कहाँ धौं गई ॥
कछु न जिय सुहाई, याही तें आतुर आई,
लौनी के लालच जिय चटपटी भई ।
दिन चारि करों काज, बाढ़ै नंद जू कौ राज,
जौलों बहुरि हौं ल्याऊँ नई ॥
'चतुर्भुजदास' रानी, मेरी अति चोप जानी,
ह्वै प्रसन्न मन महिमा आनि दई ।
भोर ही देऊँ असीस, बार जिनि खसौं सीस,
तिहारे गिरिधर की हौं बलि-बलि गई ॥२१॥

*

सुंदर सिला खेल की ठौर ।
मदन गुपाल जहाँ मधिनायक, चहुँ दिसि सखा-मंडली जौर ॥
बाँटत छाक गोवरधन ऊपर, बहु बिधि कानन बैठे ठौर ।
हँसि-हँसि भोजन करत परस्पर,चाखि-चाखि लै अरोगत कौर ॥
कबहुँक बोलि गिरि के सिखर पर, लै-लै नाम धूँमरी धौर ।
'चतुर्भुज'प्रभु लीला रस रीझे,श्री गिरिधर लाल रसिक सिरमौर ॥२२॥

*

बीरी सुबल स्याम कौं देत ।
स्याम सखा ग्वालन कों बाँटत उपजावत अति हेत ॥
वरषा बरसत तें सब बिगड़ी गायन की सुधि क्यों नहिं लेत ।
चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन बजाई, मुरली करन सुचेत ॥२३॥

रतन जटित कनक-थाल मध्य सोहै दीप-माल,
अगरादिक चंदन अति, बहु सुगंध माई।
घनन्नन घन घटा घोर, झनन्नन झालर टकोर,
तनन्नन तत थेई थेई, करत हैं एकदाई ॥
तनन्नन तन तान पान, राग रंग स्वर-बंधान,
गोपी जन गावैं गीत, मंगल बधाई।
'चतुर्भुज' गिरिधरन लाल, आरती बनी बिसाल,
वारत तन-मन-प्रान, जसोदा नंदराई ॥२४॥

*

नैन भरि देखौं गिरिधर कौ कमल-मुख।
मंगल-आरति करौं प्रात ही, वारत निरखत होत परम सुख ॥
लोचन बिमल छवि संचि हिए में, धरौं कृपा अवलोक भ्रकुटि-रुख।
'चतुर्भुजदास' प्रभु आनंद-निधि रूप, निरखि करौं दूर रैनकौ विरह-दुख ॥२५॥

*

दान-लीला—

ये को है री, जाय दान जु देहैं गोवरधन के गैड़े।
खेत न हार, न गाँम मढ़ैया, कान्हर डोलत मैड़े ॥
बाप देत कर कंसराय कों, पूत जगाती डोलत ऐड़े।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर नीके जानत, चले जाउ किन मैड़े ॥२६॥

*

कहो किनि कीनों दान दही कौ।
सदा सर्वदा बेचत इहि मग है मारग नित ही कौ ॥
भाजन दही समेत सीस तें, लेत छीन सब ही कौ।
ऐसौ कबहुँ सुन्यौ नहिं देख्यौ, नयौ न्याव अब ही कौ ॥
कमल नैन मुसक्याय मंद हँसि, अंचर पकर्यौ जब ही कौ।
'दास चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर मन, चोरि लियौ सब ही कौ ॥२७॥

*

मटुकिया मेरी मोहन दीजै।
जो कछु दधि चाखन कों चाहो, तौ रंचक पात लै पीजै ॥
उनआए घन अटक भोर ही, बनत न गौतन सारी भीजै।
रंग बहैगौ अवार मोहि ह्वै है, कहा कहै हौं जो घर कोऊ खीजै ॥
'चतुर्भुज' प्रभु हौं कालि आय हौं, साँची बात पतीजै।
गिरिधर लाल भयौ प्रगट दान तुव, आजु न हठ प्रभु कीजै ॥२८॥

छवि-वर्णन—

सुभग सिंगार निरख मोहन कौ, लै दर्पन कर पियहिं दिखावै ।
आपुन नैंक निहारि बलि जाऊँ,आज की छवि कछु कहत न आवै ॥
भूषन रहे ठाँव ठाँवहिं फबि, अँग-अँग अद्भुत, चितहिं चुरावै ।
रोम-रोम पुलकित तन सुंदर, फूलन रचि-रचि पाग बनावै ॥
अंचर फेरि करत न्यौछावर, तन-मन अति अभिलाष बढ़ावै ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर कौ रूप-सुधा,पीवत नैन-पुट तृप्ति न पावै ॥२९॥

*

आजु सिंगार निरखि स्यामा कौ,
नीकौ बनौ स्याम मन भावत ।
ये छवि तनहिं लखायौ चाहत,
कर गहि कैं नख चंद दिखावत ॥
मुख जोरै प्रतिबिंब विराजत,
निरखि–निरखि मन में मुसिकावत ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर श्री राधा,
अरस–परस दोउ, रीझि रिझावत ॥३०॥

*

नवल किसोरी नवल किसोर, बनी है विचित्र जोरि,
सोभा–सिंधु, मदनमोहन रूप-रासि भामिनी ।
राजत तन गौर–स्याम, प्यारी पिय भागवान्,
नव घन गिरधरन अंग, अंग मनहु दामिनी ॥
पहिरै पट पियरौ भूषन, भूषित सब मानौं अंग,
गज-गति गोपाल नागर, नागरी गज-गामिनी ।
'दास चतुर्भुज' दंपति की उपमा न कोऊ काम,
मूरति कमल--लोचन, मृगनैनी कामिनी ॥३१॥

*

भोर भावतौ श्री गिरिधर देखौं ।
सुभग कपोल, लोल लोचन-छवि, निरखि कैं नैन सुफल करि लेखौं ॥
नख-सिख रूप अनूप विराजत, अँग--अँग मन्मथ कोटि विसेखौं ।
'चतुर्भुज' प्रभु रस-रासि रसिक कौं, वड़े भाग–बल इक टक पेखौं ॥३२॥

भूली दधि कौ मंथन करिवौ ।
देखत रसिक नंदनंदन कौ, डगमगे पग धरिवौ ॥
रह गई चितै चित्र जैसे एक टक, नैंन निमेष न धरिवौ ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन जनायो नहीं, मैं मन मानिक हरिवौ ॥३३॥

*

आजु तन बसन और ही चटक ।
सोभा देत सरस सुंदर यह, चलनि हंस-गज लटक ॥
स्याम सरोज नैन तेरे षटपद, पियौ रूप-रस गटक ।
तृपत भए अँग-अंगन फूली, मन गई बिरह की खटक ॥
कुंज भवन कों चली निडर, तजि लोक-लाज की अटक ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिवर नागर सौं, लेत है रति-रन झटक ॥३४॥

*

आजु कौ सिंगार सुभग, साँवरे गोपाल कौ,
कहति न आवै, देखै ही बनि आवै ।
भूषन-बसन भाँति-भाँति, अंग-अंग अदभुत छवि,
लटपटी सुदेस चाल, चित्त कों चुरावै ॥
मकर कुंडल, तिलक भाल, करतूरी अति रसाल,
चितवनि लोचन विसाल, काम कों लजावै ।
कंठश्री बन-माल, फेंटा कटि अति उताल,
छवि निरखत त्रिभुवन तिय, धीरज मन न लावै ॥
मेरी ही संग निहारि, ठाड़े हरि कुंज-द्वार,
हित-चित की बात कहूँ, जो तेरे जिय भावै ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिवर-धर, नख सिख सुंदर सुघर,
ऐसी को बड़भागिन, जो जात ही लपटावै ॥३५॥

*

आजु अरुन नैनन की छवि नीकी ।
रति-रस रंग निरखि उपमा कों, कोटि मदन दुति फीकी ॥
रंगति ललित भ्रकुटी कपोल, तामें सोभा अधर मसी की ।
डगमगात अलसात भोर उठि, दरस दियौ सुभ लीकी ॥
'चतुर्भुज' प्रभु सुजान सुघर यह, रचना रची यह नीकी ।
गिरिधर लाल कहाँ पलटे पट, सोई कहो धौं जी की ॥३६॥

आज और, कालि और, दिन प्रति दिन और-और, देखिऐ रसिक गिरिराज-धरन ।
छिन प्रति छिन नव छवि, बरनैसो कौन कवि, नित ही सिंगार आगे बरन-बरन ॥
सोभासिंधु अंग-अंग, मोहित कोटि अनंग, छवि की उठत तरंग, बिस्व कौ मन-हरन ।
'चतुर्भुज' प्रभू गिरिधर कौ सरूप सुधा, पीजें जीजें रहिऐ सदा ही सरन ॥३७॥

*

नीकी बानिक गिरिधर लाल की ।
सहज ही मांझ हरत हँसि सरबसु, चितवनि नैन बिसाल की ॥
लटपटी पाग तिलक मृग-मद रुचि, अनुपम भ्रकुटी भाल की ।
कुंडल कौ प्रतिबिंब कपोलनि, उर राजत बन–माल की ॥
कोटि काम बिथकित अंग, निरखत, सुंदर स्याम तमाल की ।
'चतुर्भुज' प्रभु गढ़ी अंतर छवि, मोहन मदनगोपाल की ॥३८॥

*

कर लै निकसी धन दोहनी ।
भोर ही स्याम बदन देखन कों, आलस अंग छवि सोहनी ॥
मानों सोभा-निधि मथ कै काढ़ी, मनसिज मन की मोहनी ।
खिरक के डगर चली हित पागी, रसिक कुँवर कें गोहनी ॥
गाय दुहावन के मिस नव तिय, नंदनँदन मुख जोहनी ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल छवि, चितवनि मृदु मुसिकोहनी ॥३९॥

*

तोकों री स्याम कंचुकी सोहै ।
लहँगा पीत रंगमगी सारी, उपमा कों तहाँ कोहै ॥
चिबुक बिंदु, वर नैन, सु अंजन, धरिकै जब जोहै ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर नागर कों, चितै चतुर मन मोहै ॥४०॥

*

भोर तमचोर वेगि दीजै जू दरसना ।
आतुर ह्वै उठि धाए, डगमगात चरन आए,
आलस मैन नैन बैन, अटपटे रसना ॥
धाय कै जू सिधारे, वचन जीय में विचारे,
सकुचि कै मंद मंद प्रगटत सदना ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन सिधारे तहाँ,
जहाँ रति–रंग पलटि आये वसना ॥४१॥

रूपासक्ति—

गोपाल कौ मुखारविंद देख्यौ आज माई ।
तन मन त्रै ताप तिमिर, निरखत ही नसाई ॥
सरस सरोज सुधा, नैनन भरि पाई ।
सुख समुद्र सोभा मोपै कही हू न जाई ॥
धर्म कर्म लोक लाज सुत पति तजि धाई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर मैं जाँचे री माई ॥४२॥

*

मोती तें ही ठौर सब डारे ।
अब पोवत ही स्याम मनोहर, निकसे आय सवारे ॥
तब ही तें रहि गई एक टक, जब ब्रजनाथ निहारे ।
आधी लर कर लेय चली उठि, जित गोपाल सिधारे ॥
'दास चतुर्भुज'प्रभु मन चोर्यौ,सो घर के काज बिसारे ।
गिरिधरलाल भेंट भई बनमें,तृनसम तोरि सबै ब्रत डारे ॥४३॥

*

उलटी फिरि आवत निज द्वार ।
गृह आँगन सुहात न वा तें, देखो नंद-कुँवार ॥
सुंदर स्याम कमल दल लोचन, सोभा सिंधु अपार ।
ता दिन तें आतुर होइ तव तन, चितवत बारंबार ॥
भोर भवन तें निकसे मोहन, चलत गयंद सुढार ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरधरन मिलन के,करत अनेक विचार ॥४४॥

*

कहावत जो गोकुल गोपाल ।
ते मैं आजु दृष्टि भरि देखे, चलत डममगी चाल ॥
पहुनाई हौं करन गई ही, सजन हेत प्रतिपाल ।
औचक ही मिलि गये नंद-सुत, अँग-अँग रूप रसाल ॥
तन घनस्याम पीत पट ओढ़ै, उर राजत बनमाल ।
सीस मुकट, मुरली कर लीनें, चितवनि नैन विसाल ॥
'चतुर्भुजदास' रासि सब सुख की, सोभा भ्रकुटी भाल ।
तन बिसर्यौ, मन हर्यौ मनोहर,गोवरधन-धर लाल ॥४५॥

मथनियाँ दधि समेत छिटकाई ।
भूली सी रह गई चितै उत, छिनु न बिलोमन पाई ॥
आगैं ह्वै निकसे नँदनंदन, नैंनन हू की सैंन जनाई ।
छाँड़ि नेति दई कर तें, उठि पाछै ही बन धाई ॥
लोक-लाज अरु वेद मरजादा, सब तन तें बिसराई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन मम हँसि, कठिन ठगोरी लाई ॥४६॥

*

तेरे माई लागत हौं री पैयाँ ।
एकटक बात कहो मोहन की, आली री लेहुँ बलैयाँ ॥
या गोकुल विधि से दिन कीनें, आपु चरावत गैया ।
निघटा निघटत है नहीं सजनी, घड़ी-घड़ी जुग भैयाँ ॥
छिनु ब्रज तें बाहर निकसत है, बूझत जाय लुगैया ।
गो-रज छुरित अलक हू देखो, आवत कुँवर कन्हैया ॥
कछु न सुहाय ताहि बिन देखैं, सुत पति पिता न मैया ।
'चतुर्भुज' प्रभु देखैं ही जीजै, श्री गोवरधन-रैया ॥४७॥

*

नैंन कुरंगी रति-रसवाते, फिरत तरल अनियारे ।
नवल किसोर स्याम तन घन बनि, पाए हैं नव-निधि वारे ॥
नाना बरन भये सुख पोषे, स्याम–स्वेत--रतनारे ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन–कृपा रंग, रँग रचि रुचिर सँवारे ॥४८॥

*

नैननि ऐसी बानि परी ।
बिन देखै गिरिधरन लाल मुख, जुग भरि गनत घरी ॥
मारग जात उलटि तिन चितयौ, मो तन दृष्टि भरी ।
तबहीं तें लागी है एकटक, निमिष मरजाद टरी ॥
'चतुर्भुजदास' छुड़ावन कौं हठि, मैं विधि बहुत करी ।
नैं सर्वसु हरि कौं हरि दीनों, देह-दिसा बिसरी ॥४९॥

*

महा चित चोरयौ नैंन की कोर ।
लाज गई घूँघट-पट भूल्यौ, जब चितयौ यहि ओर ॥
वे सखी सिंहद्वार ह्वै निकसे, हौं जु खरिक चली भोर ।
दैकर सैंन मैन-सर मारी, नागर नंद–किसोर ॥
कमल मीन मृग खंजनकी सखि, दै न सकी उपमा कहुँ जोर ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर मुख बिधुए, अँखियाँ भई चकोर ॥५०॥

अब हौं कहा करों री माई ।
जब तें दृष्टि परयौ नँदनंदन, पल भर रह्यौ न जाई ॥
भीतर मात पिता मोहि त्रासत, तें कुल गारि लगाई ।
बाहर सब मुख जोरि कहत हैं, कान्ह-सनेह नसाई ॥
निसि-बासर मोहि कल न परत है, घर-आँगन न सुहाई ।
'चतुर्भुज'प्रभु गिरिधरन छबीले,हँसि मन लियौ है चुराई ॥२१॥

*

चितवत आपु ही भई चितेरौ ।
मंदिर लिखत छाँड़े हरि अकबक, देखत है मुख तेरौ ॥
मानहुँ ठगी परी जक एक टक, इत-उत करत न फेरौ ।
और न कछू सुनत समुझत कोऊ, स्रवन निकट ह्वै टेरौ ॥
'चतुर्भुज' प्रभु बिन काहु न पारयौ, कठिन काम कौ घेरौ ।
गोवरधन-धर स्याम सिंधु में, परयौ प्रान कौ बेरौ ॥२२॥

*

चितवनि तेरी जीय बसी ।
जब ब्रज-खोरि उलटि हरि मोहे, ईषद हास हँसी ॥
मोहन मुख आतुरता अति सखि, चलि दै नैन मसी ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर पथ चितवत,रसिकन मांझ रसी ॥२३॥

*

तब तें और न कछू सुहाय ।
सुंदर स्याम जबहिं तें देखे, खरिक दुहावत गाय ॥
आवति हुती चली मारग सखि, हौं अपने सत भाय ।
मदन गोपाल देखि कें इकटक, रही ठगी मुरझाय ॥
बिसरी लोक-लाज, गृह कारज, बंधु-पिता अरु माय ।
'दास चतुर्भुज' प्रभु गिरिवर-धर,तन-मन लियौ चुराय ॥२४॥

*

मोहन मोहिनी पढ़ि मेली ।
मुख देखत तन-दसा हिरानी, को घर जाय सहेली ॥
काके मात तात अरु भ्राता, को पति नेह नवेली ।
काके लोक-लाज अरु कुल-व्रत,बन में अवति अकेली ॥
यहि तें कहति मूल मत तोसों, एक संग नित खेली ॥
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर रस अटकी, श्रुति-मर्यादा पेली ॥२५॥

रास-रंग—

प्यारी भुज ग्रीवा मेलि, नृत्यत पीय सुजान ।
मुदित परस्पर, लेत गति में सुगति,
रूप-रासि राधे, गिरिधरन गुन-निधान ॥
सरस मुरली-धुनि सों मिले सप्त सुर,
रास-रंग भीने गावैं और तान बंधान ।
'चतुर्भुज' प्रभु स्याम-स्यामा की नटनि देखि,
मोहे खग मृग अरु थकित व्योम विमान ॥४६॥

*

श्री गोवरधन गिरि सघन कंदरा, रैनि निवास कियौ पिय-प्यारी ।
उठि चले भोर सुरति रंग भीने, नँद-नंदन वृषभान-दुलारी ॥
इत बिगलित कच माल मरगजी, अटपटे भूषन मरगजी सारी ।
उतही अधर मसि पाग रही फबि, दुहूँ दिसि छवि बाढ़ी अति भारी ॥
घूँमत आवत रति-रन जीते, करनी संग गजवर गिरिधारी ।
'चतुर्भुजदास' निरखि दंपति छवि, तन मन धन कीनों बलिहारी ॥४७॥

★

ठाँ ही ठाँ नाँचत मोर, सुनि सुनि नव घन की घोर,
बोलत हैं और अति ही सुहावने ।
घुमड़न की घटा निहारि, आगम सुख जिय विचारि,
चातक पिक मुदित गावत द्रुमनि बैठि सुहावने ॥
नवल बन पहिर तन कुसुंभी चीर, कनक बरनि स्यामसुंदर,
सुभग ओढ़ बसन पीत सुहावने ।
पावस रितु कौ रंग, बिलसि 'चतुर्भुज' प्रभु के संग,
मोहन कोटि अनंग, गिरिधर अंग-अंग सुहावने ॥४८॥

*

सावन तीज हरियारी सुहाई माई, रिमझिम रिमझिम बरसत मेह भारी ।
चुनरी की पाग बनी चुनरी पिछौरा कटि, चुनरी चोली बनी चुनरी की सारी ॥
दादुर मोर पपैया बोलत, कोयल सब्द करत किलकारी ।
गरजत गगन, दामिनी दमकत, गावत मलार तान लेत न्यारी ॥
कुंज महल में बैठे दोऊ, करत विलास भरत अंकवारी ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर छवि निरखत, तन मन धन न्यौछावर वारी ॥४६॥

प्रेमासक्ति—

बात हिलग की कासों कहिऐ ।
सुनि री सखी ! त्रिवसता तन की, समुझि-समुझि मन चुप कर रहिऐ ॥
मरमी बिना मरम को जानै, ये बातें सब जिय की सहिऐ ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन मिलें जब, सब सुख संपति तप की पहिऐ ॥ ६०॥

★

बेनु धर्‍यौ कर गोविंद गुन-निधान ।
जाति हुती बन काज सखिन संग, ठगी धुनि सुनि कान ॥
मोहन मोहे कल खग मृग पसु, बहु बिधि सप्तक सुर-बंधान ।
'चतुर्भुजदास' प्रभु गिरिधर तन-मन, चोरि लियौ करि मधुर गान ॥६१॥

★

स्याम ! सुन नियरौ आयौ मेहु ।
भीजैगी मेरी सुरंग, चूनरी, ओट पीत पट देहु ॥
दामिनि तें डरपति हौं मोहन ! निकट आपुनौ देहु ।
'दास चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर सों, बाढ़्यौ अधिक सनेहु ॥६२॥

★

ऐसैंहिं मोहू क्यों न सिखावहु ।
जैसें मधुर–मधुर कल मोहन, तुम मुरलिका बजावहु ॥
सारंग राग सरस नँदनंदन, सजि सप्तक सुर गावहु ।
ता बंधान सुजान सहज में, बहुत अनागत लावहु ॥
श्रुति संगीत करी परिमित, तो ताहू में अतित बढ़ावहु ।
खग मृग पसु कुल-बधू देव मुनि, सब की गति बिसरावहु ॥
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर गुन सागर, जो तुम यह न बनावहु ।
तौ बहुर्‍यौ आपुही अधर पिय, सुधा स्रवन पुट प्यावहु ॥६३॥

★

एकहि आँक जपे गोपाल ।
अब यह तन जानै नहीं, सखि और दूसरी चाल ॥
मात पिता पति बंधु बेद-विधि, तजे सबै जंजाल ।
स्याम सुरूप चित्त में चुभियौ, पर बीते जो बहु काल ॥
गह्यौ नैम तिन तोरि जबै हँसि, चितए नैन-बिसाल ।
'चतुर्भुजदास' अटल भए उर घट, परस्यौ गिरिधरलाल ॥६४॥

नागरि छाँडि दै चतुराई ।
अंतर गति की प्रीति परस्पर, नाँहिन दुरत दुराई ॥
ज्यों-ज्यों ठानत मान मौन धरि, मुख रुख राखि बड़ाई ।
त्यों-त्यों प्रगट होत उर अंतर, काँच-कलस जल-झाई ॥
भ्रकुटी भाव-भेद मिलवत सब, नागर सुघर सिखाई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर गुन सागर, सैनन भली पढ़ाई ॥६५॥

*

आज सखी तोहि लागी है यह रट ।
'गोविंद लेहु, लेहु कोउ गोविंद' कहति फिरत बन में औघट घट ॥
दधि कौ नाम बिसरि गयौ देखत, स्याम सुंदर ओढ़ै पियरौ पट ।
माँगत दान ठगौरी मेली, 'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर नागर नट ॥६६॥

*

याहीं तें फिरत सदा बन खोरी ।
मारग जात आन जुवती सब, करत चितैं चित चोरी ॥
कबहुँक मधुर सुनाय वेनु सुर, राखत एक टक भोरी ।
कबहुँक अंचल गहत मंद हँसि, सहज लेत रस जोरी ॥
उलटे नाँहिं 'चतुर्भुज' प्रभु तजि, हारी मन ही निहारी ।
बाढ़ी प्रीति लाल गिरिधर सों, लोक–वेद तृन तोरी ॥६७॥

*

बैठे मोहि बनै क्यों माई।
सुंदर स्याम इतही पथ चाहत, अति चित आतुरताई ॥
तव मुख हास, बास हरि के जिय, तो हौं वेगि पठाई ।
तू विलंब ठानत बहु ऊपर, जानी है चतुराई ॥
सोई बड़ भागि जुवति त्रिभुवन में, जो मोहन–मन भाई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन रसिकवर, अंग-अंग सुखदाई ॥६८॥

*

सुनहु जसोमति भवन तिहारें, चित्रहिं भले चितेरे ।
ऐसे और नहीं काहू के, रही जाँचि बहुतेरे ॥
बिनु देखें अब कल न परत है, करत याही तें फेरे ।
अति नीके अरु भावते जिय के, मनु बिधि आपु उकेरे ॥
जिनकें यह संपति गोकुल में, गोपन न्याय बड़ेरे ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर जाके सुत, प्रान–जीवन-धन मेरे ॥६९॥

मन मृग बेध्यौ मोहन, नैन-बान सों।
गुप्त भाव की सैन अचानक, तकि तान्यौ भ्रकुटी कमान सों ॥
प्रथम नाद बस घेरि निकट ह्वै, मुरली स्वप्न सुर बंधान सों।
पाछै बंक चितै-चितै मधुरें, हँसि बातहिं उलटा सुथान सों ॥
'चतुर्भुजदास' पीर या तन की, मिटत न औषध आन सों।
ह्वै है सुख जब ही उर अंतर, आलिंगन गिरिधर सुजान सों ॥७०॥

*

कहा ओछीं ह्वै जैहै जात।
सुन जसुमति तुम बड़ियन आगें, जो छिन एक कँमात ॥
अति नीकौ सत भाय भलाई, जो या तनिकहु कीजै।
मात-पिता कौ नाम लिवावत, लोक मांझ जस लीजै ॥
सास-ननद अरु पार-परोसिन, हू बहु भाँति कह्यौ।
तोऊ मोहि तिहारे गृह बिन, नाँहिन परत रह्यौ ॥
हँसि बोलो, संकोच करो जिनि, जब तुम सुतहिं न्हवाओ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन चंद कों, मोपै ही उबटाओ ॥७१॥

*

बदन चंद कौ रूप, मम लोचन कियौ चाहत पान।
तृषावंत अति सहति न अंतर, गहति नाहिं बिनु समाधान ॥
निसि-दिन इकटक रहें निहारति, नैंक टरति नहिं अति लोभान।
'चतुर्भुज दास' प्रभु पुरहु मनोरथ, रसिक राय गिरधरन सुजान ॥७२॥

*

अधिक आरति सुनि-सुनि ये बैन।
समुझाए अति नीर भरत हैं, कतहिं कहत बहु बैन ॥
हुती जु अवधि समोधि गहे तब, अब कथि किये कुचैन।
चाहत हैं बारक देख्यौ वह, बंक-भृकुटि की सैन ॥
लै कर कमल 'चतुर्भुज' प्रभु, मथि पीवत है पय-फैन।
जीवहिं प्रकट निहारें मधुकर, वह गिरिधर मुख ऐन ॥७३॥

*

प्यारी के गावत कोकिला मुख मूंदि रही, पिय के गावत खग नैना मूंदि रहे सब।
नागरि के रंति गिरिधरन रसिक वर, मुरलि मलार राग अलापौ मधुर जब ॥
दंपति तान सुनहिं ललितादिक, वारहिं तन मन, फेरहिं अंचर तब।
'चतुर्भुज' प्रभु कौ निरखि सुख दंपति, कहति कहा धौं कीजै भवन अब ॥७४॥

विविध-लीलाएँ—

हा हा और सुनैगौ कोऊ।
बहुरि ग्वालि मुख तें जिनि काढ़ै, जो हम जानें दोऊ॥
बालक कान्ह निपट भोरौ है, पाँयन चलन सिखायौ।
ताकों कहति भवन अपुने में, चोरी माखन खायौ॥
घर हू करति कलेऊ क्रम-क्रम, जो कोउ बहुत निहोरै।
सों क्यों अनत सकुच कौ लरिका, कंचुकी के बंद तोरै॥
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन चंद कों, झूठेहिं लावति खोरै।
ह्वै है काहू और गोप कौ, इनहीं के अनुहोरै॥७५॥

★

आवति भोर भए कुंज-भवन तें,कहुँ-कहुँ अरुझे कुसुम केस में।
रति-रंगभीनी सोहै सारी तन झीनी,
भूषन अटपटे अंग, देखियत सुदेस में॥
ओप में ओप भई, विरहज ताप गई,
सरद चंद नहिं गनत लेस में।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर संग निसा जागी,
जुवति सिरोमनि घोप-देस में॥७६॥

★

रजनी राज लियौ निकुंज नगर की रानी।
मदन महीपति जीत महा रन, श्रम-जल सहित जँभानी॥
परम सूर सौंदर्य भ्रकुटि धनु, अनियारे नैन बान संधानी।
'दास चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर रस,संपति बिलसी ज्यों मन-मानी॥७७॥

★

डगमगात आए नट नागर।
कछु जँभात अलसात भोर भए, अरुन नैन झूमत निसि जागर॥
रसिक गुपाल सुरति-रन कौ जस, सकल चिह्न लाए उर-कागर।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन कुंज-गढ़, रतिपति जीत्यौ रस सुखसागर॥७८॥

★

प्रानपति बिहरति जमुना कूले।
लुब्ध मकरंद के वस भयौ भँवर जो, देखि रवि उदै मानों कमल फूले॥
करत गुंजार मुरली लै जु साँवरौ, सुनत ब्रज-बधू तन-सुधि जु भूले।
'चतुर्भुज दास'प्रभु जमुने प्रेम सिंधु में, लाल गिरिधरन राखि कूले.॥७९॥

हिंडोला वर्णन— हिंडोरना माई झूलन के दिन आए।
गरज-गरज गगन दामिनी दमकत, राग मलार जमाए॥
कंचन खंभ सुढार बनाए, बिच-बिच हीरा लगाए।
डाँड़ी चारि सुदेस सुहाई, चौकिनं हेम जराए॥
रमकनीय झमकिनी पियारी, किंकिनि सब्द सुहाए।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल सँग, भामिनि मंगल गाए॥८०॥

*

हिंडोरे माई कुसुमिनी भाँति बनाई।
नवकिसोर मुरलीधर मूरति, ढिंग राधे सुखदाई।
दादुर, मोर, पपैया बोलत, न्हैंनी-न्हैंनी बूँद सुहाई॥
झोटा देति सकल ब्रज-सुंदरि, पवन चलत सुखदाई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लालकी, यह छबि बरनि न जाई॥८१॥

*

हिंडोरे माई झूलत गिरिवरधारी।
बाम भाग वृषभानु-नंदिनी, पहरैं कसूंभी सारी॥
ब्रज-जुवती चहुँ दिसि तें ठाड़ीं, निरखत तन-मन वारी।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल सँग, बाढ्यौ रंग अति भारी॥८२॥

*

झूलत लाल गोवरधन-धारी, सोभा बरनि न जाई हो।
बाम भाग वृषभानु-नंदिनी, नव सत अंग बनाई हो॥
अति सुकुमारि नारि डरपति है, मोहन उर सों लाई हो।
नील पीत पट मिलि फहरत हैं, घन-दामिनि जुरि आई हो॥
मानहुँ तरुन तमाल मिलन कों, अंग-अंग मुरझाई हो।
गौर-स्याम मरकत-तन परसत, कनक-बेलि छबि पाई हो॥
सुरति सिंधु मिलि बिलसे दोउ जन, सब सहचरि सुख पाई हो।
'चतुर्भुजदास' लाल गिरिधर-जस, सुर-नर-मुनि मिल गाई हो॥८३॥

*

ब्रज पर उनई आजु घटा।
नई-नई बूंद सुहावनी लागति, चमकति बिज्जु-छटा॥
गरजत गगन मृदंग बजावत, नाँचत मोर नटा।
गावतही सुर देत चातक-पिक, प्रगट्यो मदन-घटा॥
सब मिलि भेंट देत नंदलालैं, बैठे ऊँचे अटा।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन लाल सिर, कसूंभी पीत पटा॥८४॥

होली-वर्णन—

खेलत नंदकिसोर, ब्रज में हो–हो होरी ।
गौरी राग अलापत गावत, मधु मुरली कल घोरी ॥
कटि पियरौ पट पीत बनी छवि, सीस चंद्रिका मोर ।
मनमथ मान हरत मन चितवनि, चपल नैंन की कोर ॥
बालकवृंद स्याम घन सोभित, उत समूह ब्रज–नारि ।
विविध सिंगार सजे मिलि झुंडन, देत भामिनी गारि ॥
देखि समाज मदनमोहन कौ, धाईं सब मिलि सहित हुलास ।
तिनमें मुख्य राधिका नागरि, सकल सुखन की रास ॥
दुंदुभि, झाँझ, मुरज, डफ, बीना, मृदंग, उपंगें तार ।
दुहुँ दिसि खेल मच्यौ जु परस्पर, घोषराय–दरबार ॥
चोवा, साख, अग्गजा, चंदन, केसरि सुरँग मिलाई ।
तकि-तकि तरुनि गुपालहिं छिरकति, करन कनक-पिचकाई ॥
जुवती–जूथ पेलि सनमुख ह्वै, मोहन पकरे जाई ।
काजर नैंन आँजि प्रीतम के, मुरली लई छिनाई ॥
पिय–प्यारी की जोट बनाई, अंचल सों पट जोर ।
सैंनहिं सैंन परसि कर सों कर, हँसत सबै मुख मोर ॥
मगन भईं, तन की सुधि बिसरी, ह्वै बढ़यौ अनुराग ।
यह सुख तीनि लोक में नाँहीं, गोपिन के बड़ भाग ॥
चीर हार अँग–अंगन भीजै, कींच मची ब्रज-–खोर ।
मानों प्रेम-–समुद्र अधिक बल, उमँगि चल्यौ मति फोर ॥
'चतुर्भुजदास' विलास फाग कौ, कहत न बरन्यौ जाय ।
लीला ललित देव गन मोहे, गिरि-गोवर्धन-–राय ॥८५॥

*

रतन जटित पिचकारी कर लिएँ, भरन लाल कों भावै ।
चोवा, चंदन, अगर, कुमकुमा, विविध रंग बरसावै ॥
कबहुँक कटि पट बाँधि निसंक ह्वै, लै नवला सी धावै ।
मानों सरद-चंद्रमा प्रगटयौ, ब्रज-मंडल तिमिर नसावै ॥
उड़त गुलाल परस्पर आँधी सो, रह्यौ गगन सब छाई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरनलाल-छवि, मोपै बरनि न जाई ॥८६॥

बसंतोत्सव—

गावत चलीं बसंत बधायौ नंदराय--दरबार ।
बानिक बनि- बनि चोखि चाव सों, ब्रज-जन सब इकसार ॥
अँगिया लाल लसति तन सारी, झूमक नव उनहार ।
बैंनी ग्रथित इलति अति सोभित, कहा कहूँ बड़े बार ॥
मृग--मद--आड़ बड़ेरी अँखियन, आँजिऐं अंजन पूरि ।
प्रफुलित बदन हँसत दुलरावति, मोहन जीवन--मूरि ॥
पग जेहरि केहरि, किंकिनि-रव, थक्यौ विथकि सुनि मार ।
घोष--घोष प्रति गली-गलिन में, बिछुवन की झनकार ॥
कंचन कुंभ सीस पर लीनौं, मदन-सिंधु तें भरि कै
ढाँपे हैं पट पीत जतन नचि, मौर--मंजरी धरि कै ॥
अबीर, गुलाल, अरगजा, सौंधौं, विधि न जात विस्तारी ।
मैंन--सैंन ज्यौनार दैंन कों, कमलनि--कमलनि थारी ॥
पोंहँची जाय सिंह--पौरी जब, विपुल जुवति समुदाई ।
निज मंदिर तें निकरि जसोदा, सनमुख आगै आई ॥
भई भीर भीतरैं भवन में, जहाँ ब्रजराज--किसोर ।
भरमावति ते प्रान--पिया कों, घेरि—फेरि चहुँ ओर ॥
ब्रजरानी मुसिकानी फिरि कैं, पकरनि भई जब कर की।
लै सँग सखी लखी कछु बतियाँ, मिस ही सिस सब सरकी ॥
कुमकुम रँग सों भरि पिचकारी, छिरकी घोष कुमारी ।
बरजत छींटें जात दगन में, धन्य ये पोंछन वारी ॥
बंदन, चंदन, चोवा मथि कैं नील कंज लपटावैं ।
अलक सिथिलता पाग सिथिल अति, फुनित्रे बाँधि बनावैं ॥
भरति निसंक भेरि अँकवारी, भुजनि बीच भुज मेलैं ।
उन्मद ग्वालि वदन नहिं काऊ, फेल-खेल रस रेलैं ॥
कियौ रँगमगौ ललित त्रिभंगी भयौ ग्वालिनि मन भायौ ।
तब झमके झुक एक ही बिरियाँ, लालन कंठ लगायौ ॥
ताल मृदंग लिऐं श्रीदामा, पहुँचे आय सहाए ।
हलधर, तोप, सुबल, मधुमंगल, अपनी भीर बुलाए ॥
खेल मच्यौ मनि खचित चौक में, कवि पै कहा कहि आवै ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर नागर कों, देखें ही बनि आवै ॥८७॥

उत्सव संबंधी—

खेलत बसंत माई ! गिरिधरन लाल । जुवती जन आईं नवल बाल ।।
केसरि भरि-भरि बुरकत गुलाल । लपटावत चोवा अति रसाल ॥
चंदन लाग्यौ सुभग दोऊ गाल । तब मुरलीधर रिझवत गुपाल ।।
रही पाग ढरकि सिर अर्ध भाल । भयौ देखत मनमथ आल-वाल ॥
श्री गोवरधन-धर रसिक--राय । 'चतुर्भुजदास' बलिहारि जाय ॥८८।।

*

नव बसंत आगम नव नागरि, नव नागर गिरिधर सँग खेलत ।
चोवा, चंदन अगर, कुमकुमा, ताकि-ताकि पिय सन्मुख मेलत ।।
पुहुपांजलि जल भरत मनोहर, बदन ढाँपि, आँचल--पट पेलत ।
'चतुर्भुज' प्रभु रस-रासि रसिक कों, रीझि-रीझि सुखसागर झेलत ।।८९।।

*

फूलन की मंडली मनोहर, बैठे जहाँ रसिक पिय--प्यारी ।
सोभित सबै साज नाना विधिके, फूलन के भवन परम रुचिकारी ॥
फूलन के खंभ, फूलन की चौखंडी, फूलन बनी सुदेस तिवारी ।
फूलन के भूमिका, फूलन के झरोखा, फूलन के छज्जे छवि भारी ॥
सघन फूल चहुँ ओर कंगूरा, फूलन बंदरवार संवारी ।
फूलन के कलसा अति सोभित, फूलन रची विचित्र चित्रसारी ॥
फूलन की सेज गेंदुआ तकिया, फूलन की माला मनुहारी ।
'चतुर्भुज' प्रभु फूल राधा उर, रस फूले श्रीगोवर्धन-धारी ॥९०॥

*

भक्त की भावना—

सदा व्रज ही में करत बिहार ।
तब के गोप वेष, अबके प्रकटे द्विजवर अवतार ॥
जब गोकुल में नंद-कुँवर, अब बल्लभ-राजकुमार ।
आय पहुँचि रुचि और दिखावत सेवा मत दृढ़सार ॥
जुग स्वरूप गिरिधरन श्री विट्ठल लीला ए अनुसार ।
'चतुर्भुज' प्रभु सुख लेत निवासी भक्तन कृपा उदार ॥९१॥

*

हेत करि देत जमुना बास कुंजे ।
जहाँ निसि-बासर रास में रसिक वर, कहाँ लौं बरनिऐ प्रेम पुंजे ।।
थकित सरिता नाथ ब्रजबधू भीर, कोऊ धरत धीर मुरली सुनंजे ।
'चतुर्भुजदास' जमुन पंकज जानि, मधुप की नाँईं चित लाइ गुंजे ।।९२।।
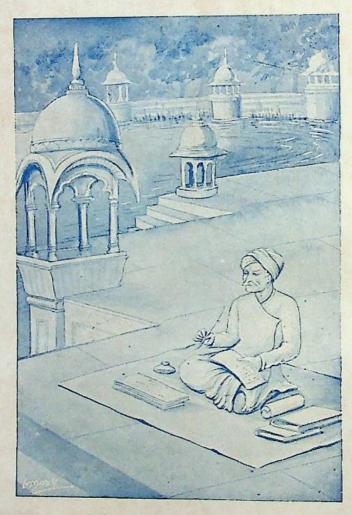
मानसी गंगा के निकट ग्रंथ-रचना में संलग्न—

नंददास

जन्म सं० १५९०] [देहावसान सं० १६४०

८. नंददास

[सं० १५६० से सं १६४० तक]

★

जीवन-सामग्री और उसकी आलोचना—

अष्टछाप के कवियों में सूरदास और परमानंददास के पश्चात् नंददास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता और कोमलकांत पदावली के कारण उनका स्थान व्रजभाषा साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण है। खेद की बात है कि अन्य सुकवियों की तरह उनका जीवन-वृत्तांत भी अभी तक पूर्णतया प्रकट नहीं हो पाया है। जो कुछ प्रकट हो सका है, वह भी सर्व-सम्मत और निर्भ्रांत नहीं है।

नंददास का जीवन-वृत्तांत 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' सं० ४ और 'अष्टसखान की वार्ता' सं० ८ पर दिया हुआ है। इन वार्ताओं में उनका वृत्तांत अष्टछाप के अन्य कवियों की अपेक्षा भी संक्षिप्त रूप में लिखा गया है और हरिराय जी कृत 'भावप्रकाश' तो और भी संक्षिप्त रूप में उपलब्ध है। स्वयं नंददास ने भी अपनी काव्य-रचना में अपने संबंध में प्रायः कुछ नहीं लिखा है। ऐसी दशा में उनके प्रामाणिक एवं विस्तृत जीवन-वृत्तांत के संबंध में विद्वानों में मतभेद होना स्वभाविक है।

उनकी रचनाओं के अंतःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना अपने किसी रसिक मित्र के लिए की थी। नंददास कृत ग्रंथों के निम्न लिखित उद्धरणों में यह स्पष्ट रूप से लिखा गया है—

१. परम रसिक इक मित्र, मोहिं तिन आग्या दीनीं।
ताहीं तें यह कथा यथामति भाषा कीनीं॥
—रास-पंचाध्यायी

२. एक मीत हम सों अस गुन्यौ।
मैं नायिकाभेद नहिं सुन्यौ॥
—रस-मंजरी

३. परम विचित्र मित्र इक रहै।
कृष्ण-चरित्र सुन्यौ जो चहै॥
तिन कहि दसमस्कंध जो आहि।
भाषा करि कछु बरनौं ताहि॥
—दशमस्कंध भाषा

इस मित्र का परिचय अथवा इसका नाम भी नंददास ने अपनी रचनाओं में नहीं दिया है। इस मित्र के संबंध में भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गये हैं, किंतु अभी तक कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। श्री वियोगी हरि के कथनानुसार इस मित्र का आशय पुष्टि संप्रदाय की सेविका गंगाबाई से है*। डा० दीनदयाल गुप्त का अनुमान है कि नंददास का यह मित्र; संभवतः रूपमंजरी है‡। इसके विरुद्ध श्री महावीर सिंह गहलोत रूपमंजरी को न केवल नंददास के 'मित्र' रूप में ही अस्वीकार करते हैं, बल्कि उसको ऐतिहासिक पात्र भी नहीं मानते हैं†। हम भी अष्टछाप के कवियों की वैराग्य-वृत्ति और भक्ति-भावना को देखते हुए नंददास के 'रसिक मित्र' के रूप में किसी स्त्री पात्र की कल्पना करने में असमर्थ हैं।

वार्ता साहित्य के विवरण से ऐसा अनुमान होता है कि गोसाईं विट्ठलनाथ जी से पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा लेकर नंददास एक बार गृहस्थ रूप में अपने घर पर जा कर रहे थे। कुछ समय तक गृहस्थ का उपभोग कर, वे पुनः विरक्त होकर ब्रज में आये और फिर स्थायी रूप से वहीं पर रह गये। सोरों-सामग्री से उनके गृहस्थ जीवन का विस्तृत वृत्तांत ज्ञात होता है। नंददास के निम्न पद के अंतःसाक्ष्य से भी उनके द्वितीय बार ब्रजागमन की पुष्टि होती है—

प्रीति लगी श्री नंदनँदन सों, इन बिनु रह्यौ न जाय री।
सास नँनद कौ डर लागत है, जाऊँगी नैंन बचाय री॥
गुरुजन, सुरजन, कुल की लाजन, करत सबहिं मन भाय री।
'पुत्र कलत्र कहत जिन जाओ, हम तुम लागत पाँए री॥'
जाकों सिव नारद मुनि तरसत, श्रुति पुरान गुन गाय री।
मुख देखें बिनु प्रान नहिं रहि हैं, जाऊँगी पौर ब्रजराय री॥
स्यामसुंदर मुख कमल अमृत रस, पीवत नाहिं अघाय री।
'नंददास'प्रभु जीवन धन मिले, 'जनम सुफल भयौ आय री॥'

---

* ब्रज-माधुरी-सार, पृ० ५० की पाद-टिप्पणी

‡ बल्लभ संप्रदाय और अष्टछाप, पृ० १०१

† हिंदुस्तानी जनवरी-मार्च १९४७ में प्रकाशित लेख-'नंददास और रूपमंजरी'

पूर्वोक्त पद में साधारणतया गोपियों की अवस्था का वर्णन दिखलायी देता है, किंतु इसके अर्थ का गंभीरता पूर्वक मनन करने पर इससे नंददास के आत्म-वृत्तांत का बोध होता है। इस पद के 'पुत्र कलत्र कहत जिन जाओ' शब्द रास-प्रकरण से संबंधित हैं। रास-लीला के समय गोपियों के आत्मीय जनों ने उनको वन में जाने से अवश्य रोका था, किंतु नंदराय की 'पौर' पर जाने से उन्होंने कभी निषेध नहीं किया था। इससे ज्ञात होता है कि इस पद में गोपियों की आत्म-दशा के मिस नंददास ने पुनः व्रज में आने के लिए अपनी आकुलता ही प्रदर्शित की है। इस पद के अंतिम चरण 'जनम सुफल भयौ आय री' से स्पष्टतया नंददास के द्वितीय वार व्रजागमन की सूचना प्राप्त होती है। श्री कृष्ण के प्रति दिन दर्शन और सहवास के कारण गोपियों का जन्म तो आरंभ से ही सफल था, अतः पद के उक्त चरण का संबंध गोपियों के साथ नहीं लगाया जा सकता है। गृहस्थ के जंजाल में फँस जाने के कारण नंददास का जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा था। जब वे विरक्त होकर द्वितीय वार व्रज में आये, तभी उन्होंने वास्तव में अपना जन्म सफल समझा था।

'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में विट्ठलनाथ जी की शरण में आने पर नंददास द्वारा 'जयति श्री रुक्मिनी-नाथ पद्मावती-प्रानपति विप्रकुल-छत्र आनंदकारी' आदि शब्दों में गोसाईं जी की स्तुति करने का जो उल्लेख मिलता है, वह उनके द्वितीय वार व्रज-आगमन पर ही संभव हो सकता है। पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से सिद्ध है कि गोसाईं जी का विवाह पद्मावती जी के साथ सं० १६२० की वैशाख शु० ३ को हुआ था और सं० १६२३ के लगभग उन्होंने स्थायी रूप से अड़ैल को छोड़ कर व्रज-वास स्वीकार किया था। नंददास के द्वितीय वार व्रज आगमन का समय भी सं० १६२० के पश्चात् ही सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त नंददास की रचनाओं के अंतःसाक्ष्य से उनके जीवन-वृत्तांत पर कुछ और प्रकाश नहीं पड़ता है। जहाँ तक वहिःसाक्ष्य का संबंध है, वहाँ तक नंददास के जीवन से संबंधित कुछ अधिक सामग्री उपलब्ध होती है। नाभा जी कृत 'भक्तमाल', ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' वहिःसाक्ष्य के प्रमुख साधन हैं। इन साधनों से नंददास का जो कुछ जीवन-वृत्तांत ज्ञात होता है, उस पर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किंतु जब से सोरों जि० एटा की नवीन सामग्री प्रकाश में आयी है,

तब से नंददास विषयक विवाद अधिक बढ़ गया है और इसके पक्ष एवं विपक्ष में नाना प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। यह सोरों-सामग्री गो० तुलसीदास और नंददास के जीवन-वृत्तांत पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है, किंतु इसकी प्रामाणिकता पर अभी तक सर्व सम्मत निर्णय नहीं हुआ है।

'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि नंददास गोस्वामी तुलसीदास के छोटे भाई थे। गोस्वामीजी राम-भक्त होने के कारण नंददास की कृष्ण-भक्ति से असंतुष्ट थे! उन्होंने इस बात की बहुत चेष्टा की कि नंददास भी उनके समान राम-भक्त बन जावें, किंतु नंददास अपनी कृष्ण-भक्ति पर अटल रहे।

'वार्ता' का यह कथन कि नंददास गो० तुलसीदास के छोटे भाई थे, अनेक लेखकों के विवाद का विषय बन चुका है; किंतु अभी तक कोई सर्व सम्मत निर्णय नहीं हो सका है। पुष्टि संप्रदाय के लेखक वार्ता के कथन की पुष्टि करते हैं, किंतु हिंदी के मान्य इतिहासकारों ने उनके कथन को स्वीकार नहीं किया है। इन विद्वानों ने पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य को सदैव ही शका की दृष्टि से देखा है और 'दोसौ बावन वार्ता' की प्रामाणिकता को उन्होंने स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया है। ऐसी दशा में नंददास को सनाढ्य ब्राह्मण और गों० तुलसीदास का छोटा भाई तभी माना जा सकता है, जब अन्य प्रामाणिक सामग्री से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है।

सोरों ज़ि० एटा से प्राप्त बहुमूल्य ग्रंथ-सामग्री गो० तुलसीदास और नंददास के जीवन पर विशेष रूप से प्रकाश डालती है। इसके द्वारा उनके जीवन का सुश्रृंखल वृत्तांत ज्ञात होता है और वार्ता के कथन की भी पुष्टि होती है। यह सामग्री कहाँ तक प्रामाणिक है, इसके विषय में अंतिम रूप से अभी कुछ नहीं कहा गया है। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इस सामग्री की विस्तारपूर्वक समीक्षा कर इसकी प्रामाणिकता में संदेह प्रकट किया है*, किंतु जब तक प्राचीन ग्रंथों के विशेषज्ञ कागज़, स्याही और लिपि-प्रणाली की अच्छी तरह परीक्षा कर इसके विपक्ष में अपना मत नहीं दे देते, तब तक डाक्टर माताप्रसाद गुप्त के मत को अंतिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

'दोसौ बावन वार्ता' और सोरों-सामग्री द्वारा प्रकट गोस्वामी तुलसीदास और नंददास के भ्रातृत्व को स्वीकार करने में सब से बड़ी बाधा यह है कि

* तुलसीदास, पृ० ८० से ९६ तक

नाभाजी कृत 'भक्तमाल' में इसका उल्लेख नहीं है। स्वर्गीय बा० राधाकृष्णदास के मतानुसार 'भक्तमाल' की रचना सं० १६४२ से १६८० के बीच के किसी समय में हुई है†। यह काल नंददास के कुछ ही समय बाद का है, अतः भक्तमाल का कथन अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। 'भक्तमाल' में नंददास के संबंध में निम्न लिखित छप्पय दिया हुआ है—

लीला-‐पद रस-रीति, ग्रंथ-रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति, भक्तिरस-गान उजागर॥
प्रचुर पदध लौं सुजस, रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित, भक्तपद-रेनु उपासी॥
चंद्रहास-अग्रज सुहृद, परम प्रेम-पथ में पगे।
नंददास आनंदनिधि, रसिक सु प्रभु-हित रँगमगे॥

उपर्युक्त छप्पय में नंददास को गो० तुलसीदास के अतिरिक्त किसी चंद्रहास का भाई लिखा गया है। इस चंद्रहास के विषय में प्राचीन ग्रंथों से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। यहाँ तक कि स्वयं नाभाजी ने भक्तमाल में भी उसके विषय में कुछ नहीं लिखा है, जब कि गो० तुलसीदास की उन्होंने अत्यंत प्रशंसा की है और उनको आदि कवि वाल्मीकि का अवतार बतलाया है। वार्ता साहित्य और सोरों-सामग्री के आलोचकों का कथन है कि यदि नंददास वास्तव में तुलसीदास के भाई होते, तब नाभाजी किसी चंद्रहास नामक साधारण व्यक्ति का उल्लेख न कर गो० तुलसीदास का ही उल्लेख करते। वास्तव में यह ऐसी समस्या है, जिसका समाधान होने पर ही तुलसीदास और नंददास का भ्रातृत्व सिद्ध किया जा सकता है।

इस संबंध में श्री रामरतन भटनागर का अनुमान है—

"हो सकता है, नाभादास ने यह समझा हो कि नंददास से तुलसीदास का संबंध दिखाने और फिर उन्हें कृष्णभक्त कहने से तुलसीदास की महत्ता में कमी आ जायगी कि इनके भाई कृष्णभक्त हुए। या चंद्रहास भी भक्त हों, और नाभादास से परिचित हों, और इस परिचय के आग्रह से नाभादास ने उनका नाम लेना अच्छा समझा हो*।"

---

† ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' पृ० ६०

* 'नंददास : एक अध्ययन, पृ० ४६

बाबा वेणीमाधव दास के 'मूल गुसांई-चरित्र' में नंददास को गुसांई तुलसीदास का छोटा भाई न लिख कर गुरु-भाई लिखा गया है। इसमें लिखा है कि नंददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होंने गो० तुलसीदास के साथ शेष सनातन से शिक्षा प्राप्त की थी†। बाबा वेणीमाधव दास की रचना कई विद्वान लेखकों ने अप्रमाणिक सिद्ध कर दी है, इसलिए इसका कथन भी प्रमाण रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

जिन रचनाओं में गो० तुलसीदास को नंददास का 'गुरु भ्राता' लिखा गया है, वहाँ स्पष्ट कथन के अभाव में 'बड़ा भाई' और 'गुरु भाई' दोनों अभिप्राय लिए जा सकते हैं। श्री 'मिश्र बंधु' नंददास को गो० तुलसीदास का गुरु-भाई ही मानते हैं‡।

खोज में नंददास की निम्न लिखित रचना प्राप्त हुई है, जिसमें उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता के रूप ने तुलसीदास की पद-वंदना की है—

श्रीमत्तुलसीदास स्व गुरु भ्राता पद बंदे।
सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे॥
राम-चरित जिन कीन, ताप त्रय कलि-मल हारी।
करि पोथी पर सही, आदरेउ आप मुरारी॥
राखी जिनकी टेक, मदनमोहन धनुधारी।
बालमीकि अवतार कहत, जेहि संत प्रचारी॥
'नंददास' के हृदय-नयन कों खोलेउ सोई।
उज्वल रस टपकाय दियौ, जानत सब कोई॥

हमारे मतानुसार नंददास को तुलसीदास का भाई मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वार्ता में इस विषय का स्पष्ट कथन हुआ है, जिसकी पुष्टि सोरों-सामग्री से भी होती है। वार्ता साहित्य और सोरों सामग्री की अप्रमाणिकता के संबंध में जो तर्क उपस्थित किये गये हैं, उनसे हम सहमत नहीं हैं। हम गत पृष्ठों में वार्ता साहित्य की प्रामाणिकता सिद्ध कर चुके हैं और सोरों-सामग्री को भी अप्रामाणिक मानने का हम कोई कारण नहीं

† नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन सेष सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बंधु भए तहि ते। अति प्रेम सों आय मिले येहि ते॥

‡ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १०५

पाते। ऐसी दशा में जब तक विश्वसनीय सामग्री अथवा अकाट्य युक्तियों द्वारा इसके विरुद्ध निर्णय न हो जाय, तब तक हम नंददास को तुलसीदास का भाई मानने के पक्ष में ही रहेंगे।

नाभा जी कृत भक्तमाल में तुलसीदास और नंददास के भ्रातृत्व का उल्लेख न होने का भी वही कारण कहा जा सकता है,जो कारण हम उसमें स्वयं वार्ताओं का उल्लेख न होने का गत पृष्ठों में बतला चुके हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि तुलसीदास नंददास के सगे भाई नहीं थे और उनकी वैसे ही यथेष्ट प्रसिद्धि थी, जब कि चंद्रहास नंददास के सगे भाई होने के कारण नाभाजी की दृष्टि में उल्लेखनीय समझे गये।

पुष्टि संप्रदाय के वार्ता-साहित्य में गो० तुलसीदास और नंददास के इष्टदेव संबंधी विवाद का विस्तृत वर्णन मिलता है। 'दोसौ बावन वार्ता' में लिखा है कि जब तुलसीदास को नंददास के कृष्णभक्ति-संप्रदाय में दीक्षित हो जाने का समाचार मिला, तो वे बड़े असंतुष्ट हुए। उन्होंने पत्र भेज कर उनको भला-बुरा कहा और अपने पास वापिस बुलाया, किंतु नंददास न तो अपने सिद्धांत से विचलित हुए और न उनके पास गये। इसके बहुत दिनों बाद गो० तुलसीदास स्वयं नंददास से मिलने ब्रज में आये। वार्ता में लिखा है कि गो० तुलसीदास अपनी राम-भक्ति के कारण श्रीनाथजी के आगे नत मस्तक नहीं होना चाहते थे, किंतु नंददास की प्रार्थना पर श्रीनाथजी को ही रामचंद्र के रूप में गो० तुलसीदास को दर्शन देने पड़े। इसके अतिरिक्त जब तुलसीदास गोकुल में गो० विट्ठलनाथ जी से मिले, तब उन्होंने भी अपने पुत्र और पुत्र-बधू को राम-जानकी के रूप में तुलसीदास को दिखलाए।

उक्त अलौकिक कथन की प्रामाणिकता के लिए प्राचीन उद्धरण भी उपस्थित किये जा रहे हैं। श्री द्वारिकादास परीख ने सं० १७०० के लगभग लिखे हुए "श्रीगोकुलनाथ जी के वचनामृतों का संग्रह" नामक एक हस्त लिखित ग्रंथ की खोज की है। इसके आधार पर भी वे नंददास को तुलसीदास का छोटा भाई एवं गो० विट्ठलनाथ जी के पुत्र और पुत्र-वधू के राम-जानकी के रूप में दर्शन देने की बात सिद्ध करते हैं†। उस समय की घटना के संवत् की संगति मिलाते हुए श्री परीख का मत है कि तुलसीदास सं० १६२६ में गोकुल गये थे।

---

† ब्रजभारती, फाल्गुन सं० २००२ का लेख 'नंददास पर मेरा अन्वेषण'

सं० १६२६ में तुलसीदास का ब्रज में आना और उनका नंददास एवं सूरदास से मिलना प्रमाणित है, जैसा हम गत पृष्ठों में सूरदास के प्रकरण में लिख चुके हैं। उस समय उनका गोकुल में विट्ठलनाथजी से मिलना भी संभव हो सकता है,किंतु इष्ट देवों का विवाद हमारी दृष्टि में भावना मात्र है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के साथ कृष्ण का और नंददास ने कृष्ण के साथ राम का गुणानुवाद किया है। यह ठीक है कि तुलसीदास मर्यादा मार्गीय और नंददास पुष्टि मार्गीय भक्त थे, अतः उनकी भक्ति-भावना में भी अंतर था; तब भी उन महात्माओं से संकीर्ण सांप्रदायिकता की आशा नहीं की जा सकती है।

भक्तमाल में नंददास का निवास स्थान रामपुर ग्राम बतलाया गया है। सोरों-सामग्री द्वारा भी सोरों के निकटवर्ती रामपुर ही उनका आरंभिक निवास स्थान है। हरिराय जी कृत 'अष्टसखान की वार्ता' में उनको सनाढ्य ब्राह्मण बतलाया गया है, किंतु 'भक्तमाल' में उनको 'सुकुल' लिखा गया है। 'सुकुल' का अभिप्राय उच्चकुल के अतिरिक्त शुक्ल आस्पद के ब्राह्मण से भी होता है। 'मूल गुसाईं चरित्र' में उनको कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाया गया है। 'मूल गुसाईं चरित्र' अप्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध हो गया है, अतः इसके कथन की अपेक्षा वार्ता और भक्तमाल के लेखानुसार नंददास को शुक्ल आस्पद का सनाढ्य ब्राह्मण मानना ही उचित है।

वार्ता साहित्य में नंददास के आरंभिक जीवन और उनके कुटुंब-परिवार के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा गया है। भक्तमाल आदि अन्य बाह्य साक्ष्यों से भी इस विषय पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता है। इस संबंध में सोरों-सामग्री का विवरण उल्लेखनीय है। उक्त सामग्री से उनके आरंभिक जीवन का विस्तृत एवं शृंखला बद्ध वृत्तांत ज्ञात होता है।

सोरों सामग्री में 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' और 'रत्नावली चरित्र' ऐसी रचनाएँ हैं, जिनसे नंददास का जीवन-वृत्तांत विशेष रूप ज्ञात होता है। 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' नंददास के पुत्र कृष्णदास ने सं० १६७० में रचा था। इस ग्रंथ में कृष्णदास ने अपनी वंश-परंपरा दी है, जिससे ज्ञात होता है कि नंददास और तुलसीदास चचेरे भाई थे। इस वंश-परंपरा के अनुसार सच्चिदानंद के दो पुत्र आत्माराम और जीवाराम थे। आत्माराम के पुत्र का नाम तुलसीदास और जीवाराम के पुत्रों के नाम नंददास और चंद्रहास थे। नंददास के पुत्र का नाम कृष्णदास और चंद्रहास के पुत्र का नाम ब्रजचंद्र था। उक्त ग्रंथ में तुलसीदास की किसी संतान का उल्लेख नहीं हुआ है।

'रत्नावली चरित्र' सोरों निवासी मुरलीधर चतुर्वेदी ने सं० १८२६ में रचा था। इस ग्रंथ में रत्नावली और उसके पति तुलसीदास का विस्तृत चरित्र लिखा गया है और प्रसंग वश इसमें नंददास का भी उल्लेख हुआ है। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि नंददास और तुलसीदास चचेरे भाई थे। नंददास सोरों के निकट रामपुर ग्राम में अपनी माता के साथ रहते थे और तुलसीदास सोरों में अपनी दादी के पास रहते थे। तुलसीदास की बाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता का देहांत हो गया था, और उनका पालन-पोषण उनकी वृद्धा दादी ने किया था। नंददास के पिता का देहांत भी नंददास की आरंभिक अवस्था मे हो गया था और वे अपनी माता के साथ अपने ग्राम रामपुर में रहते थे। कुछ बड़े होने पर नंददास और तुलसीदास दोनों ही सोरों निवासी नृसिंह पंडित की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने लगे।

इस प्रकार सोरों सामग्री से नंददास के आरंभिक जीवन का वह वृत्तांत ज्ञात होता है, जो अन्य किसी साधन से प्राप्त नहीं है। ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' के निम्न लिखित तीन दोहाओं में भी नंददास का वृत्तांत लिखा गया है, किंतु इनमें उनकी जीवन-घटनाओं की अपेक्षा उनकी सरस रचना और भक्ति-भावना की ही प्रशंसा की गयी है—

नंददास जो कछु कह्यौ, राग-रंग में पागि।
अच्छर सरस सनेह मय, सुनत स्रवन उठि जागि॥
रमन-दसा अदभुत हुते, करत कवित्त सुढार।
बात प्रेम की सुनत ही, छुटत नैन जल-धार॥
बावरौ सौ रस में फिरै, खोजत नेह की बात।
आछे रस के बचन सुनि, बेगि बिवस ह्वै जात *॥

नंददास का जन्म-संवत् अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। श्री कंठमणि शास्त्री का अनुमान है कि नंददास का जन्म सं० १५७० के लगभग हुआ होगा $। डा० श्यामसुंदरदास ने उनका जन्म सं० १५६० के लगभग माना है†। डा० दीनदयाल गुप्त भी अब इसी जन्म-संवत् को स्वीकार

* भक्त-नामावली, दोहा ७७, ७८, ७६

$ कांकरौली का इतिहास, पृ० १२०। ७

† हिंदी साहित्य, पृ० १६२

करते हैं‡ । श्री द्वारिकादास परीख भी इसी जन्म-संवत् के पक्ष में हैं* । गो० तुलसीदास का जन्म-संवत् १५८९ माना जाता है$ । जब तुलसीदास को नंददास का बड़ा भाई मानते हैं, तब श्री कंठमणि शास्त्री के मतानुसार नंददास का जन्म सं० १५७० में कैसे हो सकता है, अतः हम भी उनका जन्म सं० १५९० मानने के पक्ष में हैं।

'अष्टसखान की वार्ता' में नंददास को सनाढ्य ब्राह्मण बतलाया गया है। सोरों सामग्री से भी उनकी यही जाति सिद्ध होती है, अतः हम भी नंददास को सनाढ्य ब्राह्मण मानते हैं। वार्ता से ज्ञात होता है कि गो० विट्ठलनाथ जी की शरण में आने से पूर्व नंददास एक खत्री की स्त्री पर ऐसे आसक्त हुए कि लोकापवाद को भूल कर उसके घर के चक्कर काटने लगे, जिसके कारण वह स्त्री और उसके घर वाले बड़े संकट में पड़ गये। नंददास से बचने के लिए वे लोग गोकुल चले गये, किंतु नंददास उनका पीछा करते हुए वहाँ भी पहुँच गये ! अंत में गो० विट्ठलनाथ जी के उपदेश से उनका अज्ञान-मोह दूर हुआ और वे गोसाईं जी के सेवक बन गये। इस घटना से उनका कामुकता मिश्रित अल्हड़पन प्रकट होता है, जो उनकी युवावस्था के आरंभ की सूचना देता है। यह अवस्था १६ से २० वर्ष तक की हो सकती है। उसी समय नंददास पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। श्री द्वारिकादास जी परीख के मतानुसार नंददास का शरण-काल सं० १६०६ है† । उस समय नंददास की आयु १६ वर्ष की थी। हम भी उनका शरणागति-काल सं० १६०७ के लगभग मानने के पक्ष में हैं।

हम गत पृष्ठों में अष्टछाप की स्थापना का समय सं० १६०२ लिख चुके हैं। कुछ विद्वानों की समझ में यह नहीं आता कि जब नंददास सं० १६०७ में पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित हुए, तब वे सं० १६०२ में अष्टछाप में कैसे सम्मिलित किये गये ! हम गत पृष्ठों में अष्टछाप की स्थापना के प्रसंग में लिख चुके हैं कि सं० १६०२ में नंददास अष्टसखाओं में नहीं थे। उस समय अन्य सात सखाओं के साथ विष्णुदास छीपा श्रीनाथ जी का कीर्तन करते थे। जब सं०

‡ अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय, पृ० २६१

* 'प्राचीन वार्ता रहस्य', द्वितीय भाग, गुजराती विभाग, पृ० ११३

$ तुलसीदास, पृ० ११०

† प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वि० भाग, गुजराती विभाग, पृ० ११३

१६०७ में नंददास पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो गये, तब विष्णुदास के स्थान पर नंददास नियत किये गये और तभी अष्टछाप की भी पूर्ति हुई। आरंभ में वे आठों कीर्तनकार श्रीनाथ जी के अष्टसखा कहलाते थे; बाद में वे 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री द्वारिकेश रचित जिस छप्पय का गत पृष्ठों में उल्लेख किया गया है, उसमें अष्टसखाओं की सूची में नंददास के स्थान पर विष्णुदास का नामोल्लेख होने का भी यही कारण है।

वार्ता से ज्ञात होता है कि पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर नंददास छै माह तक सूरदास के साथ परासौली में रहे थे†। उस समय उन्होंने सूरदास से सांप्रदायिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। उसी समय सूरदास ने नंददास की तात्कालिक रुचि के अनुसार उनको माधुर्य-भक्ति का उपदेश देने के लिए रस-रीति के दृष्टकूट पदों की रचना की थी, जो बाद में 'साहित्य-लहरी' के रूप में संकलित कर लिये गये।

पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा के अनंतर कुछ समय तक गोकुल और गोवर्धन में रहने के पश्चात् नंददास अपने ग्राम रामपुर को चले गये। वहाँ उन्होंने अपना विवाह कर गृहस्थ धर्म का पालन किया। उस समय का उनका जीवन-वृत्तांत सोरों-सामग्री से प्राप्त होता है। सं० १६२४ के लगभग वे विरक्त होकर पुनः गोवर्धन चले गये और अपने देहावसान-काल तक फिर वहीं पर रहे।

'अष्टसखान की वार्ता' में नंददास के देहावसान की एक विचित्र कथा का उल्लेख किया गया है। उसमें लिखा है कि एक बार अकबर बादशाह और बीरबल ने गोवर्धन में आकर मानसी गंगा पर अपने डेरे लगवाए। वहीं पर उनकी नंददास से भी भेंट हुई। अकबर के एक प्रश्न करने पर नंददास ने अपनी देह छोड़ दी और उसी समय अकबर की एक सेविका की भी मृत्यु हो गयी!

नंददास के देहावसान का संबंध हम उपर्युक्त घटना से लगाने में असमर्थ हैं। हमारा मत है कि उनकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई थी। उनके देहावसान के समय गो० विट्ठलनाथ जी विद्यमान थे, अतः नंददास की मृत्यु अनुमानतः सं० १६४० के लगभग हुई होगी।

नंददास की रचनाओं से ज्ञात होता है कि उनको ब्रजभाषा और संस्कृत की अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी। इसके साथ ही उनको काव्य और संगीत का

† प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० ३४०

भी अच्छा ज्ञान था। उनके आरंभिक शिक्षा-गुरु नृसिंह पंडित का नामोल्लेख हो चुका है। उन्होंने सूरदास से भी आवश्यक शिक्षा प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वाध्याय और सत्संग से अपने ज्ञान की वृद्धि की होगी।

उन्होंने कीर्तन के स्फुट पदों के अतिरिक्त अनेक ग्रंथों की भी रचना की है। उनके रचे हुए अनेक ग्रंथों का नामोल्लेख खोज रिपोर्ट और इतिहास ग्रंथों में हुआ है। उनके अनेक ग्रंथ मुद्रित भी हो चुके हैं। उनके ग्रंथों में भँवर गीत और रास पंचाध्यायी विशेष प्रसिद्ध हैं।

उनके काव्य का आरंभ संभवतः पद-रचना के साथ हुआ था। श्रीराम और हनुमान विषयक पद उनकी आरंभिक रचना के हो सकते हैं, जो उन्होंने पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व रचे होंगे। इस प्रकार के कतिपय पदों में काव्य-प्रौढ़ता का अभाव है। गो० विट्ठलनाथ जी से दीक्षा लेने पर उन्होंने कृष्ण-लीला के पदों की रचना की होगी। इस प्रकार की रचना ग्रंथ-रचना के साथ ही साथ उनके अंत समय तक होती रही होगी। नंददास कृत लगभग ४०० पद उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त खोज में और भी पद मिल सकते हैं। उनके पदों में राधा-कृष्ण के प्रेमानुराग और रास के पद काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से अति उत्तम हैं; किंतु नंददास का महत्व उनकी पद-रचना की अपेक्षा उनकी ग्रंथ-रचना पर आधारित है।

नंददास के नाम से अनेक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिन में से कुछ अप्राप्य और कुछ प्राप्य हैं। अप्राप्य ग्रंथों के विषय में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सब नंददास कृत हैं या नहीं। कुछ ग्रंथ कई-कई नामों से प्रसिद्ध हैं। कुछ ग्रंथों के नंददास कृत होने में भी संदेह है और कुछ ग्रंथ निश्चित रूप से अष्टछाप के नंददास की अपेक्षा किसी अन्य अप्रसिद्ध नंददास कृत हैं।

नंददास के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में 'सुदामा चरित' संदिग्ध रचना है। कुछ लोग 'नासिकेत पुराण भाषा' नामक एक गद्य ग्रंथ को भी नंददास का लिखा हुआ बतलाते हैं। ब्रजभाषा गद्य की आरंभिक पुस्तकों में 'चौरासी वार्ता' और 'दोसौ बावन वार्ता' का प्रमुख स्थान है। यदि 'नासिकेत पुराण' नंददास कृत है, तब इसकी रचना उपर्युक्त वार्ता पुस्तकों से भी पूर्व होना निश्चित है। इस प्रकार नंददास सुकवि होने के अतिक्ति ब्रजभाषा गद्य के भी आरंभिक लखक सिद्ध होते हैं और ब्रजभाषा गद्य की आरंभिक कृति होने के कारण 'नासिकेत पुराण' का भी अनुपम साहित्यिक महत्व हो जाता है, किंतु हमारे मतानुसार उक्त गद्य पुस्तक नंददास की रचना नहीं है।

जीवनी

जन्म और आरंभिक जीवन—

नंददास का जन्म सं० १५६० के लगभग सूकर चेत्र (सोरों जि० एटा) के पास रामपुर ग्राम में हुआ था। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे। सोरों-सामग्री के अनुसार उनके पिता नाम जीवाराम था। जीवाराम के भाई का नाम आत्माराम था। जीवाराम के दो पुत्र नंददास और चंद्रहास हुए। आत्माराम के पुत्र का नाम तुलसीदास था, जो आयु में नंददास से बड़े थे। बचपन में तुलसीदास और नंददास दोनों ने सोरों में रहकर वहाँ के विख्यात विद्वान नृसिंह पंडित से शिक्षा प्राप्त की थी।

नंददास के पिता का देहांत उनके बचपन में ही हो गया था, अतः वे अपनी दादी के पास सोरों में आकर रहने लगे। वहीं पर उन्होंने रामानंदी संप्रदाय के विद्वान् शिक्षक नृसिंह पंडित से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसा ज्ञात होता है कि नंददास ने बचपन में ही संस्कृत साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसके साथ ही काव्य-रचना और संगीत-कला की ओर भी उनकी बचपन से ही रुचि थी और वे शीघ्र ही इन विषयों में पारंगत हो गये थे।

अपने शिक्षा गुरु के प्रभाव से आरंभ में नंददास भी तुलसीदास की की तरह राम-भक्त थे। उनकी रचना में रामचंद्र और हनुमान विषयक जो पद मिलते हैं, वे संभवतः उसी समय लिखे गये थे। इस प्रकार की रचनाओं में प्रौढ़ता का अभाव और काव्य-शैथिल्य होने से भी वे नंददास की आरंभिक कृतियाँ सिद्ध होती हैं।

आरंभ में नंददास संभवतः तुलसीदास के निरीक्षण में रहते थे और उन्हीं के साथ काशी आदि स्थानों में पौराणिक वृत्ति के लिए जाया करते थे। वहीं पर एक दिन, नंददास को ज्ञात हुआ कि यात्रियों का एक दल द्वारिका जाने वाला है। नंददास के हृदय में द्वारिका-यात्रा की इच्छा बलवती हुई। उन्होंने इसके लिए तुलसीदास से अनुमति माँगी। तुलसीदास ने कहा—यह बड़ी लम्बी यात्रा है, जिसके मार्ग में अनेक कष्ट भी हो सकते हैं। नंददास ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया और वे उस यात्री-दल के साथ हो लिये। वह दल मार्ग में कुछ दिनों के लिए मथुरा में रुक गया। नंददास वहीं पर उससे अलग होकर अकेले ही द्वारिका की ओर चल दिये और मार्ग

भूलकर सिहनंद नामक एक ग्राम में जा पहुँचे। वहाँ पर एक खत्री की रूपवती स्त्री पर वे ऐसे मोहित हुए कि प्रति-दिन उसके घर का चक्कर लगाने लगे! जब तक उस स्त्री को वे एक बार देख नहीं लेते थे, तब तक उनको चैन नहीं पड़ता था। उस स्त्री के घर वालों को नंददास के इस कृत्य से बदनामी होने की आशंका हुई और उन्होंने उनसे पीछा छुड़ाने की बहुत चेष्टा की, किंतु उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई। अंत में वे लोग उस स्त्री सहित व्रज की यात्रार्थ चल दिये और गोकुल में जाकर ठहरे। नंददास भी उनका पीछा करते हुए गोकुल जा पहुँचे! उस स्त्री के घर वालों ने अपने कष्ट की कहानी गो० विट्ठलनाथ जी को सुनायी। उन्होंने उनको सान्त्वना दी और नंददास को अपने पास बुलवाया। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के उपदेश से नंददास का मोह दूर हो गया। वे गोसाईं जी के शिष्य होकर पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो गये और उन्होंने अपने हृदय का संपूर्ण प्रेम-भाव भगवान् श्री कृष्ण के चरणों में लगा दिया। यह घटना सं० १६०७ के आस-पास की है। उस समय नंददास की आयु अनुमानतः १७ वर्ष के लगभग थी।

पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा के पश्चात्—

पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षित होने अनंतर नंददास के जीवन का क्रम ही बदल गया। वे सांसारिक माया-मोह को छोड़कर सच्चे भगवद्भक्त बन गये। गोसाईं विट्ठलनाथ और पुष्टि संप्रदाय के विद्वानों के सत्संग में रहने से, जहाँ उनका समय कथा-वार्ता और शास्त्र-चर्चा में लगने लगा। वहाँ ठाकुर जी के कीर्तन में सम्मिलित होने का अवसर भी उनको मिलने लगा, काव्य और संगीत में स्वाभाविक रुचि होने के कारण उनका मन कीर्तन में विशेष रूप से लगता था। वे भक्ति-भाव पूर्ण उत्तम पदों की रचना कर शास्त्रोक्त विधि से उनका गायन करने लगे। काव्य और संगीत में उनकी प्रतिभा का इस प्रकार विकास हुआ कि वे शीघ्र ही पुष्टि संप्रदाय के प्रमुख कवियों में गिने जाने लगे।

पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा के पश्चात वे कुछ समय तक गोवर्धन में सूरदास के सत्संग में रहे थे। सूरदास के सात्विक जीवन के प्रभाव से नंददास का विद्याभिमान दूर होगया और उनके हृदय में दैन्य-भाव का संचार हुआ तथा मर्यादा-भक्ति के स्थान पर पुष्टि-भक्ति का उदय हुआ। सूरदास जैसे महाकवि के सत्संग से उनकी काव्य-प्रतिभा की भी असाधारण उन्नति हुई।

गृहस्थ जीवन—

सांप्रदायिक जनश्रुति से प्रकट है कि नंददास को अपने साथ रखने से सूरदास को ज्ञात हुआ कि नंददास के हृदय में अभी सांसारिक वासना शेष है, और उनका वैराग्य अभी दृढ़ नहीं हुआ है, अतः सूरदास ने उनको एक बार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की सम्मति दी। नंददास सांसारिक माया-ममता में पड़ना नहीं चाहते थे, किंतु सूरदास ने उनसे स्पष्ट रूप से कहा—"तुम्हारे हृदय में अभी वैराग्य की दृढ़ता नहीं है, अतः जब तक तुम दाम्पत्य सुख का उपभोग न कर लोगे, तब तक तुमको लीला रस का अनुभव होना भी संभव नहीं है। गृहस्थ में रह कर भगवद्-भजन और काव्य-संगीत में मन लगाते हुए तुम पुष्टि-संप्रदाय के अनुकूल आचरण कर सकते हो।"

कहते हैं सूरदास के आदेश से नंददास अपने ग्राम रामपुर को वापिस चले गये। सोरों-सामग्री से ज्ञात होता है कि वहाँ उन्होंने कमला नामक एक कन्या के साथ विवाह किया, जिससे उनको कृष्णदास नामक एक पुत्र भी हुआ। उन्होंने अपने ग्राम रामपुर का नाम बदल कर 'श्यामपुर' रखा और वहाँ पर 'श्यामसर' नामक एक तालाब भी बनवाया। इस प्रकार कुछ समय तक गृहस्थ में रह कर वे सं० १६२४ के लगभग विरक्त भाव से फिर गोवर्धन चले गये।

अंतिम जीवन और देहावसान—

गोवर्धन आने पर वे स्थायी रूप से मानसी गंगा पर रहने लगे। वहीं पर रहते हुए उन्होंने अपना शेष जीवन श्रीनाथजी के भजन-कीर्तन और ग्रंथ-रचना में लगा दिया। अंत में सं० १६४० के लगभग गोवर्धन में मानसी गंगा के किनारे एक पीपल वृक्ष के नीचे उन्होंने अपने नश्वर शरीर को छोड़ कर परम धाम को प्राप्त किया।

काव्य-रचना—

अष्टछाप के अन्य कवियों की तरह नंददास ने कीर्तन के स्फुट पदों की रचना तो की ही है, किंतु उन्होंने अनेक ग्रंथों का निर्माण भी किया है। खोज-रिपोर्टों में उनके नाम से अनेक ग्रंथों का उल्लेख किया गया है, जिनमें से कई ग्रंथ उनके रचे हुए नहीं हैं। हमारे मतानुसार उनकी प्रामाणिक रचनाएँ निम्न लिखित हैं—

१. अनेकार्थ मंजरी (अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थ भाषा)
२. मानमंजरी (नाममंजरी, नाममाला, नाम-चिंतामणि-माला)
३. रसमंजरी ४. रूपमंजरी ५. विरहमंजरी ६. प्रेमबारहखड़ी ७. स्याम-सगाई
८. सुदामा चरित्र ९. रुक्मिणीमंगल १० भँवरगीत ११. रास-पंचाध्यायी
१२. सिद्धांत-पंचाध्यायी १३. दशमस्कंध भाषा १४. गोवर्धनलीला १५. पद्यावली

उपर्युक्त ग्रन्थों में उनके रचना-काल का उल्लेख नहीं हुआ है, अतः काल-क्रम के अनुसार उनका वर्गीकरण करना कठिन है। डा० दीनदयाल गुप्त का मत है कि रस-मंजरी नंददास की आरंभिक रचना है और रास-पंचाध्यायी, भँवरगीत एवं सिद्धांत-पंचाध्यायी उनकी अंतिम रचनाएँ हैं§। हमारे मतानुसार यह क्रम सोलह आना ठीक नहीं है।

यह निश्चित बात है कि पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने से पूर्व उन्होंने कतिपय स्फुट पदों की रचना की थी, किंतु उन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा लेने के अनंतर वे कुछ समय तक सूरदास के सत्संग में रहे थे। उस समय उन्होंने जिन पदों की रचना की थी, उन पर सूरदास का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। नंददास कृत ऐसे अनेक पद मिलते हैं, जिन पर सूरदास की भाषा और भावों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है*।

सूरदास के निरीक्षण में और उसके पश्चात् अपने ग्राम के गृहस्थ-जीवन में उन्होंने संभवत: भाषा और साहित्य का विशेष रूप से अध्ययन किया था। 'अनेकार्थ भाषा' और 'नाममाला' जैसे कोष-ग्रंथ उसी समय के रचे हुए हो सकते हैं। इनके पश्चात् 'रसमंजरी' और 'रूपमंजरी' जैसे रस-ग्रंथों की रचना होना संभव है। ऐसा ज्ञात होता है कि उनको अपने ग्रंथों के नामों के साथ 'मंजरी' शब्द लगाना विशेष प्रिय था। 'रसमंजरी', 'रूपमंजरी' और 'विरह मंजरी', की रचना के पश्चात् अपने पूर्व ग्रंथ 'अनेकार्थ भाषा' और 'नाममाला' के नाम भी उन्होंने 'अनेकार्थ मंजरी' और 'मानमंजरी' रख दिये थे। इन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ भिन्न-भिन्न नामों से मिलने का भी यही कारण हो सकता है।

'रूपमंजरी', 'रसमंजरी' और 'विरहमंजरी' चौपाई छंद में लिखी गयी रचनाएँ हैं। इन ग्रंथों में जायसी और तुलसीदास की शैली अपनायी गयी

§ वल्लभ संप्रदाय और अष्टछाप, पृ० ३७७

* सूर-निर्णय, पृ० १५४–१५६

है। वास्तव में चौपाई छंद में सरस काव्य की रचना करने का श्रेय जायसी और तुलसीदास के पश्चात् नंददास को ही प्राप्त है। 'रूपमंजरी' में उपपति रस की योजना की गयी है। नायिकाभेद और रसशास्त्र के अनेक सांगोपांग वर्णन इस कथा–काव्य में मिलेंगे। इस ग्रंथ का चरम लक्ष्य पुष्टि संप्रदाय की श्रृंगार-भक्तिपूर्ण धार्मिक भावना का प्रतिपादन करना है, किंतु ऊपरी दृष्टि से यह लौकिक श्रृंगार का एक सफल काव्य सा ज्ञात होता है। 'रसमंजरी' में नायिकाभेद का सांगोपांग वर्णन है। यह इस विषय की आरंभिक कृति होने से अपना पृथक् महत्व रखती है। रूपमंजरी और रसमंजरी की रचना एक भक्त कवि द्वारा भक्ति-काल में हुई थी, किंतु इन दोनों ग्रंथों में रीति-कालीन शैली की प्रमुखता है और आगे आने वाले रीति-काल की स्पष्ट सूचना है।

'प्रेम बारहखड़ी' अथवा 'प्रेमबारपड़ी' नंददास की एक छोटी सी रचना है, जो हिंदी जगत् में अभी तक प्रसिद्ध नहीं है। खोज रिपोर्ट, हिंदी के इतिहास-ग्रंथ एवं नंददास के ग्रंथ-संकलन में इस रचना का समावेश नहीं हुआ है। गुजरात के पुष्टि संप्रदायी वैष्णवों में इस रचना का बहुत समय से प्रचार है और वहाँ के सांप्रदायिक पत्र एवं पद-संग्रहों में यह गुजराती लिपि में प्रकाशित हो चुकी है। श्री महावीर सिंह गहलोत ने 'हिंदुस्तानी' पत्रिका में प्रकाशित कर इसे सर्व प्रथम हिंदी जगत् के सन्मुख उपस्थित किया है। इस रचना में नागरी वर्णमाला के प्रत्येक व्यंजन के अनुसार ३७ दोहा हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन के अनंतर गोपियों की विरह-दशा का वर्णन किया गया है। रचना-शैली के विचार से यह भी 'अनेकार्थ मंजरी' और 'नाम माला' की श्रेणी में आती है। इसकी रचना भी संभवतः उक्त पुस्तकों के साथ ही साथ हुई होगी।

'स्याम सगाई' में श्री कृष्ण के साथ राधा की सगाई होने का उल्लेख है। यह कथा भागवत में नहीं है। पुष्टि संप्रदाय में राधा स्वकीया मानी जाती है। यह ग्रंथ इसी भावना के अनुकूल है। 'सुदामा चरित' और 'रुक्मिणी मंगल' भागवत दशम स्कंध के विविध अध्यायों की कथाओं के आधार पर लिखे गये हैं। 'सुदामा चरित' एक छोटी सी रचना है, जिसके नंददास कृत होने में संदेह किया जाता है, किंतु डा० दीनदयाल गुप्त इसे नंददास की रचना ही मानते हैं†। 'रुक्मिणी मंगल' कदाचित गो० तुलसीदास के 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' से प्रभावित होकर लिखा गया था। इस ग्रंथ में कवि

† अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय पृ० ३४२

की प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है और यह इनकी सर्वोत्तम रचनाओं में से एक है।

नंददास की समस्त रचनाओं में 'भँवरगीत' और 'रास-पंचाध्यायी' विशेष प्रसिद्ध हैं। भाषा की कोमलता, शब्दों की सजावट और भावों की सरसता के साथ सांप्रदायिक सिद्धांतों की पुष्टि इन रचनाओं में ऐसी सफलता के साथ हुई है कि वे ब्रजभाषा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनमें धार्मिकता और साहित्यिकता का संमिश्रण गंगा-यमुना के मिश्रित प्रवाह की तरह सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

'भ्रमरगीत' में उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में निर्गुण पर सगुण की विजय और योग एवं ज्ञान मार्ग पर प्रेम की विजय दिखलायी गयी है तथा गोरखनाथ जैसे योगियों के योग-पंथ और कबीर आदि संतों के ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य की प्रेम—भक्ति का महत्व स्थापित किया गया है। भँवरगीत की समस्त रचना में ऐसा अद्भुत आकर्षण और प्रवाह है, जो पाठक को बलात् अपनी ओर खींचता है और अपने साथ बहा ले जाता है। इसकी रचना भी विचित्र प्रकार के छंद में की गयी है। रोला और दोहा मिश्रित छंद के अंत में दस मात्रा की एक टेक दे देने से भँवर गीत की संगीत-योजना में पूर्णता आ गयी है।

'रास-पंचाध्यायी' में कवि का कला का और भी विकास हुआ है। अपनी कोमल-कांत पदावली और श्रुति मधुर भाषा-शैली के कारण यह ग्रंथ हिंदी का 'गीत-गोविंद' कहा जा सकता है। 'रास-पंचाध्यायी' और 'रुक्मिणी मंगल' को उन्होंने रोला छंद में लिखा है। यह छंद नंददास को विशेष प्रिय था।

'सिद्धांत-पंचाध्यायी' में रास-पंचाध्यायी की सैद्धांतिक व्याख्या की गयी है। संभवतः सिद्धांत-पंचाध्यायी की मूल सामग्री किसी समय रास-पंचाध्यायी में ही समाविष्ट थी। बाद में स्वयं कवि ने अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने इस सामग्री को पृथक् कर स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

'दशमस्कंध भाषा' में भागवत् के दशमस्कंध के आरंभिक २९ अध्यायों का भावानुवाद है। ऐसा प्रसिद्ध है कि गो० तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' के अनुकरण पर नंददास ने समस्त भागवत का ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया था नंददास के इस कार्य से कथावाचक ब्राह्मणों को अपनी आजीविका नष्ट होने की आशंका हुई और उन्होंने गो० विट्ठलनाथ जी से इसकी शिकायत की।

गोसाईं जी ने उक्त कथावाचकों को संतुष्ट करने के लिए नंददास को आदेश दिया कि वे दशमस्कंध के रास-पंचाध्यायी तक के भाग को रख कर शेष पुस्तक यमुना नदी के अर्पित कर दें !

हमारे मतानुसार इस जनश्रुति में कोई सार नहीं है। समस्त भागवत का अनुवाद कोई ऐसा सरल कार्य नहीं है, जिसे नंददास ने इतने अधिक ग्रंथों की रचना करने के पश्चात् भी कर डाला हो; जब कि सूरदास भी इस कार्य को नहीं कर सके थे। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने भागवत् के केवल दशमस्कंध का अनुवाद करना चाहा था और आरंभ के २८ अध्यायों तक वे कर भी चुके थे। भागवत् में २९से३३ अध्याय तक रास-पंचाध्यायी की कथा है,जिसे नंददास ने इसी नाम के पृथक् ग्रंथ में बड़ी सुंदरता पूर्वक लिखा है। अब पुनः इसको लिखना पिष्टपेषण मात्र था, और इतनी सुंदर रचना दूसरे ढंग से करना संभव भी नहीं था। कदाचित इस लिए यह कार्य रुक गया। यह भी संभव है कि यह पुस्तक उनकी अंतिम रचना हो, जिसे वे अपने असामयिक निधन के कारण पूर्ण न कर सके हों।

'गोवर्धन लीला' नंददास की ऐसी रचना है, जिसका उल्लेख हिंदी के इतिहास ग्रंथों में नहीं हुआ है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इसका परिचय देते हुए बतलाया है—"'रास-पंचाध्यायी' की पंक्तियों की पुनरुक्ति जैसे कवि के 'सिद्धांत-पंचाध्यायी' ग्रंथ में भी देखने को मिलती है, उसी प्रकार से 'गोवर्धन-लीला' में भी 'दशमस्कंध' के छंदों का समावेश है†।" ग्रंथ के आरंभ में मंगलाचरण और अंत में कवि-छाप होने के कारण यह भी नंददास की स्वतंत्र रचना कही जा सकती है। भागवत दशमस्कंध के अध्याय २४-२५ में वर्णित गोवर्धन लीला के आधार पर इसकी रचना की गयी है।

'पदावली' में नंददास कृत पदों का संकलन है। नंददास ने श्रीनाथ जी के कीर्तन स्वरूप जो अनेक पद रचे थे, उनमें से बहुत से उपलब्ध हैं; खोज करने पर इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मिल सकते हैं।

नंददास की कृतियों के इस संक्षिप्त विवेचन से ज्ञात होता है, कि उन्होंने श्रीमद्भागवत के विभिन्न प्रकरणों के आधार पर अपने प्रायः समस्त ग्रंथों की रचना की है। उन्होंने भागवत का अनुवाद न कर उसकी सामग्री का स्वतंत्रता पूर्वक उपयोग किया है और उसे कलात्मक ढंग से सजाकर उपस्थित किया है।

† वल्लभ संप्रदाय और अष्टछाप, पृ० ३४२

अष्टछाप के कवियों में सूरदास और नंददास ही ऐसे कवि हैं, जिन्होंने पद-रचना के साथ-साथ विभिन्न शैलियों में भी कविता की है। सूरदास की भी अधिकांश रचना पदों में है, भिन्न शैलियों में कम है; किंतु नंददास की रचना पदों में कम और भिन्न शैलियों में अधिक है। वे छोटे छंद, जैसे रोला और चौपाई, लिखने के विशेष अभ्यासी थे। रोला छंद लिखने में तो उन्होंने वह चमत्कार दिखलाया है, कि इस प्रकार की रचना उनकी निजी वस्तु बन गयी है।

नंददास के काव्य की दो विशेषताएँ मुख्य हैं—भाषा की मधुरता और शब्दों की सजावट। वे उपयुक्त शब्दों को कलात्मक ढंग से यथा स्थान रखने में सिद्ध हस्त थे, इसलिए "और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया" की उक्ति प्रचलित हो गयी है। नंददास भाषा-कोष के भी धनी थे। उनके पास विपुल शब्द भंडार था। वे जहाँ पर जैसा शब्द उपयुक्त समझते थे, वहाँ पर वैसा ही प्रयुक्त करते थे। इसके साथ ही साथ वे साहित्य शास्त्र के भी पंडित थे, अतः अपने शब्दों को साहित्यिक ढंग से रखने में भी वे समर्थ थे।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के उपरांत नंददास को ही विशेष प्रसिद्धि है। उनका टकसाली काव्य ब्रजभाषा साहित्य का शृंगार है। "नंददास में दो गुणों की प्रधानता है। ये दोनों गुण हैं माधुर्य और प्रसाद। माधुर्य तो उच्च श्रेणी का है। प्रत्येक पद मानों अंगूर का एक गुच्छा है, जिसमें मीठा रस भरा हुआ है। शब्दों में कोमलता भी बहुत है। पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लंबे-चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है, वह भी बहुत थोड़े शब्दों में और सुंदरता के साथ† ।"

नंददास के काव्य का साहित्यिक महत्व सर्व विदित है, किंतु उसका धार्मिक महत्व भी कुछ कम नहीं है। उन्होंने अपने रस पूर्ण कथन में पुष्टि संप्रदाय के सिद्धांतों को सफलता पूर्वक व्यक्त किया है। उनके काव्य की यह भी विशेषता है कि इसमें सर्वत्र धार्मिकता और साहित्यिकता का गंगा जमुना की भाँति संगम हुआ है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में रस मंजरी, रूप-मंजरी, विरह-मंजरी, भँवर गीत, रास-पंचाध्यायी और सिद्धांत-पंचाध्यायी विशेष उल्लेखनीय हैं।

† हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६६०

काव्य-संग्रह

बाल-लीला—

अपने सुतहिं जगावति रानी।
उठो मेरे लाल मनोहर सुंदर, कहि-कहि मधुरी बानी॥
माखन, मिश्री और मिठाई, दूध मलाई आनी।
छगन मगन तुम करहु कलेऊ, मेरे सब सुख दानी॥
जननी वचन सुनत उठि बैठे, कहत बात तुतरानी।
'नंददास' प्रभु निरखि जसोदा, मन ही मन हरषानी॥ १॥

☆

जागिऐ मेरे लाल हो, चिरैयाँ चुहुचुहानी।
निरखि विविध भाँति नंद, खिलौना ढिंग लाए,
धरे भवरा, ललटुवा सुभग फिरकियाँ फिरानी॥
अपुनौं कर कमल साजि, चुटिया गुहौं सुरंग पान,
चलु हो लाल, तात कौं सुनाउ मधुर बानी।
बचन सुनत मात के, जु उठे प्रभु सुभाव तजि,
दोहू कर मींड़त अति, अँखियाँ अलसानी।
लेहु चंद चूँमत मुख, तन मन अति भयौ है सुख,
गद-गद अंग ढरकि-ढरकि, नैन आयौ पानी।
स्याम-सुंदर सुभग तिलक, घुँघर वारी अलक झलक,
बार-बार देत दान, मैया हरषानी॥
ऐसौ समयौ जु निरखि, 'नंददास' मन ही हरखि,
लियौ है मात भक्ति, दान दियौ श्री नंदरानी॥ २॥

*

चिरैया चुहचुहानी, सुनि चकई की बानी,
कहति जसोदा रानी, जागो मेरे लाला।
रवि की किरन जानी, कुमुदिनी सकुचानी,
कमल विकसानी, दधि मथै बाला॥
सुबल, सुदामा, तोक उज्ज्वल बसन पहिरैं,
द्वारे ठाढ़े हेरत हैं, बाल गोपाला।
'नंददास' बलिहारी, उठि बैठो गिरिधारी,
सब कोउ देख्यौ चाहैं, लोचन विसाला॥ ३॥

बाल गोपाल ललन कों, मोद भरी जसुमति दुलरावति।
मुख चूँमति, देखति सुंदर तन, आनंद भरि-भरि गावति॥
कबहुँक पलना मेलि झुलावति, कबहुँक अस्तन-पान करावति।
'नंददास' प्रभु गिरिधर कों रानी, निरखि-निरखि सुख पावति॥ ४॥

*

सुंदर स्याम पालने झूलैं।
जसुमति माय निकट अति बैठी, निरखि-निरखि मन फूलैं॥
झुनझुना लैके बजावत रुचि सों, लालही के अनुकूलैं।
बदन चारु पर छुटी अलक रही, देखि मिटत उर-सूलैं॥
अंबुज पर मानहुँ अलि-छौंना, घिरि आए बहु टूलैं।
दसन दोउ उघरत जब हरि के, कहा कहूँ समतूलैं॥
'नंददास' घन में ज्यों दामिनि, चमकि डरति कछु खूलैं॥ ५॥

*

जुरि चली हैं बधावन नंद महर घर, सुंदर ब्रज की बाला।
कंचन थार, हार चंचल, छवि कहि न परत तेहि काला॥
डहडहे मुख कुमकुम रंग रंजित, राजत रस के ऐना।
कंजन पर खेलत मनों खंजन, अंजन युत बने नैना॥
दमकत कंठ पदिक-मनि कुंडन, नवल प्रेम रंग बोरी।
आतुर गति मानों चंद उदै भयौ, धावत तृषित चकोरी॥
खसि-खसि परत सुमन सीसन तें, उपमा कहा बखानों।
चरन चलन पर रीझि चिकुर वर, बरषत फूलन मानों॥
गावत गीत पुनीत करत जग, जसुमति मंदिर आई।
बदन बिलोकि बलैयाँ लै-लै, देत असीस सुहाई॥
मंगल कलस निकट दीपावलि, ठाँव देखि मन फूल्यौ।
मानों आनंद नंद-सुवन के, सुवन फूल ब्रज फूल्यौ॥
ता पाछैं गन गोप ओप सों, आए अतिसै सोहैं।
परमानंद-कंद रसभीने, निकर पुरंदर को हैं॥
आनंदघन ज्यों गाजन राजत, बाजत दुंदुभी भेरी।
राग-रागिनी गावत, हरषत बरषत सुख की ढेरी॥
परमधाम जगधाम स्याम, अभिराम श्री गोकुल आए।
मिटि गए द्वंद 'नंददासन' के, भए मनोरथ भाए॥ ६॥

काहै न आय देखिए जू रानी, अपने सुत के करम ।
भाजन भवन एकौ न रह्यौ, कह्यौ तो आगें हँसि परी, ऐसें जानें को काहु कौ मरम ॥
दिन-दिन की हान, दूजै नैक न राखत कान, निकुंज बसिवे कौ कौन धरम ।
'नंददास' प्रभु मैया के आगें साधु ह्वै बैठे, चोर कौ कहाँ जनम ॥७॥

*

सब ब्रज-गोपी रहीं तकि ताक ।
कर कर गाँठि लसत सबहिंन के, बन कों चलत जब छाक ॥
मधु-मेवा पकवान मिठाई, घर-घर तें लै निकसी थाक ।
'नंददास' प्रभु कों यह भावत, प्रेम-प्रीति के पाक ॥८॥

*

मंडल जोर हरि जेंवन बैठे, रितु असाढ़ के बदरा छाए ।
अर्जुन भोज सुबल श्रीदामा, आपुन हँसत हलधर ही बुलाए ॥
आपुन खात खवावत ग्वालन, बिंजन दै-दै सब ही मन भाए ।
'नंददास' प्रभु की छबि निरखत, ब्रह्मा सिव सुरपति पछताए ॥९॥

*

कान्ह कुँवर के कर-पल्लव पर, मानों गोवर्द्धन नृत्य करै ।
ज्यों ज्यों तान उठत मुरली की, त्यों-त्यों लालन अधर धरै ॥
मेघ मृदंगी मृदंग बजावत, दामिनी दमक मानों दीप जरै ।
ग्वाल ताल दै नीके गावत, गायन के सँग सुर जु भरै ॥
देत असीस सकल गोपी-जन, बरसा कौ जल अमित भरै ।
अति अद्भुत अवसर गिरिधर कौ, 'नंददास' के दुःख हरै ॥१०॥

राजै गिरिराज आज, गाय-गोप जाके तर,
नैक सी बानिक बने, धरे भेष नटवर ।
लियौ है उठाय, ब्रजराय के कुँवर कर,
अरग-धरग राख्यौ, मुरली की फूँक पर ॥
बरसै प्रलय के पानी, जात न काहू पै बखानी,
ब्रज हू पै अति भारी टूटत हैं तरु-तर ।
ता पर के खग, मृग, चातक, चकोर, मोर,
बूँद न काहू कें लागी, भयौ है कौतुक भर ॥
प्रभु जू की प्रभुताई, इंद्र हू की जड़ताई,
सुनि हँसे हेरि-हेरि, हरि हँसे हर-हर ।
'नंददास' प्रभु गिरिधारी जू कों हाँसी-खेल,
इंद्र को गरब गयौ, भए दूर दुःख-डर ॥११॥

दान—

कहो जू ये कैसौ दान दानी।
ब्रज में ये चाल लाल, कैसै बसिवौ होइ गुपाल,
ज्यों-ज्यों बड़े होत, त्यों-त्यों भली ठान ठानी॥
दूध, दही, मही कौ दान, अबलौं हम सुनीं न कान,
काहु सों कहत गाव्यौ जम्यौ, काहु सों कहत पानी।
'नंददास' प्रभु के यों आस-पास लपटि रहीं,
कनक-बेल भौंह की ऐंठन में सब ही अरुझानी॥१२॥

★

कहो जू कैसौ दान माँगो,
हम तौ देव गोवरधन पूजन आईं।
कोऊ दह्यौ, कोऊ मह्यौ, कोऊ माखन,
जोरि-जोरि आछौ-अछूतौ ही लाईं॥
तुम कों कैसे दीजै कान्हा जू,
तुम तौ सब विधि करत बरियाई।
'नंददास' प्रभु बालकपन में,
निडर भए ऐसे, जो कछु न चलाई॥१३॥

★

विवाह—

दूलह गिरिधर लाल छबीलौ, दुलहिन राधा गोरी।
जिन देखत जिय में मन लाजत, ऐसी बनी है जोरी॥
रतन जड़ित कौ बन्यौ सेहरौ, गज-मोतिन की माला।
देखत बदन स्यामसुंदर कौ, मोहि रहीं ब्रज-बाला॥
मदनमोहन राजत घोरा पर, और बराती संगा।
बाजत ढोल दमाम चहूँ दिसि, ताल मृदंग उपंगा॥
जाय जुरे वृषभान की पौरी, उततें सब मिलि आए॥
टीकौ करि आरती उतारी, मंडप में पधराए।
पढ़त वेद चहुँ दिसा विप्र जन, भये सबन मन भाए।
हथलेवा करि हरि-राधा सों, मंगल चार कराए॥
ब्याह भयौ मोहन कौ जब हीं, जसुमति देत बधाई।
चिरजीवो भूतल ये जोरी, 'नंददास' बलि जाई॥१४॥

आसक्ति—

ठाढ़ौ री खरौ माई कौन कौ किसोर।
साँवरौ बरन, मन हरन, बंसी धरन,
काम करन, कैसी गति जोर॥
पौन परसि जात चपल होत देखि,
पियरे पट कौ चटकीलौ छोर।
सुभग साँवरी छोटी घटा तें निकसि आवै,
छबीली छटा कौ जैसौ छबीलौ छोर॥
पूछति पाहुनी ग्वारि, हा हा हो मेरी आली,
कहा नाम, को है, चितवन कौ चोर।
'नंददास' जाहि चाहि, चकचौंधी आई जाहि,
भूल्यौ री भवन-गमन, भूल्यौ रजनी-भोर॥१५॥

★

हिंडोरे माई झूलत गिरिधर लाल।
सँग राजत वृषभानु-नंदिनी, अँग-अँग रूप रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, उर मुक्ता बनमाल।
रमकि-रमकि झूलत पिय-प्यारी, सुख बरसत तिहिं काल॥
हँसत परस्पर इत-उत चितवत, चंचल नैन विसाल।
'नंददास' प्रभु की छवि निरखत, बिबस भई ब्रज-बाल॥१६॥

★

खंभ की ओझल ठाढ़ौ सुबल सखा प्रवीन,
कर में जटित डिब्बा बीरा सों भरें, जेंवत हैं री मोहन।
परदा परे लाल ललित तिवारिन पै,
ता मधि झलकत अँग-अँग रंग सोहन॥
जाही कों देखत रानी, ताही सों उठत झुकि,
कोऊ न पावत वह समयौ जोहन।
'नंददास' भोजन करि बैठे तब मैं दई सैन,
पान खाय आवत हौं, कह्यौ री मोहन॥१७।

★

रही हो मेरी अँखियाँ, लाल संग अटकी।
सुरति की मूरत चित्त में चुभि रही, छूटत नाहिंन झटकी॥
भौंह की मरोर मारि डारत है, बानी पीर मेरे हिय में छिटकी।
'नंददास' प्रभु प्यारी लाज तजि, चली है डगर बंसीबट के निकट की॥१८॥

आवत ही जमुना भरि पानी।
काम रूप काहू कौ ढोटा, निरखि बदन गृह-गैल भुलानी ॥
मोहन कह्यौ तुम कों या ब्रज में, नाहिंन है पहचानी।
ठगि जु रहीं, चेटक सौ लाग्यौ, तन व्याकुल मुख फुरति न बानी ॥
जा दिन तें चितए री मो तन, ता दिन तें हरि-हाथ बिकानी।
'नंददास' प्रभु यों मन मिलयौ, ज्यों सारंग में बूंद समानी ॥१९॥

*

नंद-सदन गुरु-जन की भीर तामें,
लालन-बदन नीके देख न पाऊँ।
बिनु देखै जिय अकुलाय जाय, दुख पाय,
जदपि बड़ेई खन उठि-उठि आऊँ ॥
लै चल री मोहि जमुना के तीर, जहाँ बलबीर,
सुंदर बदन देखि नयन सिराऊँ।
'नंददास' प्यासे कों पानी पिवाय, लै जिवाय,
जिय की तू जानै,तोसों कहा हौं जनाऊँ ॥२०॥

*

चंचल लै चली री चित चोर।
मोहन कौ मन यों बस कर लियौ, ज्यों चकरी सँग डोर ॥
जौलों न देखत तब मूरति तौलों, पलक न लागत निमिपन ओर।
'नंददास' प्रभु प्रेम मगन भए, नागर नंद-किसोर ॥२१॥

*

कृष्ण नाम जब तें श्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री भवन, हौं तौ बावरी भई री।
भरि-भरि आँखें नैन, चित्त हू न परत चैन,
मुख हू न आवै बैन,तनकी दसा कछु औरें भई री ॥
जेतेक नैम-धरम-व्रत कीने री मैं बहु विधि,
अंग-अंग भई हौं तौ श्रवन मई री।
'नंददास' जाके श्रवन सुनें ये गति,
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई री ॥२२॥

*

यमुना पुलिन सुभग वृंदाबन, नवल लाल गोवरधन-धारी।
नवल कुंज नव कुसुमित दल, नव-नव वृषभानु-दुलारी ॥
नवल हास, नव-नव छवि क्रीड़त,नवल विलास करत सुखकारी।
नव श्री विट्ठलनाथ कृपा-बल, 'नंददास' निरखत बलिहारी ॥२३॥

गोकुल की पनिहारी, पनियाँ भरन चली,
बड़े-बड़े नयना तामें खुभि रह्यौ कजरा।
पहिरें कुसूंभी सारी, अंग-अंग छबि भारी,
गोरी-गोरी बहियन में मोतिन के गजरा॥
सखी संग लिऐं जात, हँसि-हँसि बूझत बात,
तनहुँ की सुधि भूली, सीस धरें गगरा।
'नंददास' बलिहारी, बीच मिले गिरिधारी,
नैन की सैन में भूलि गई डगरा॥२४॥

*

चिबुक-कूप पिय-मन पर्यौ, अधर सुधा-रस आस।
कुटिल अलक लटकत काढ़न कों, कंटक डार्यौ प्रेम के पास॥
चंचल लोचन ऊपर ठाढ़े हैं, पीवन कों मानों मधु-हास।
'नंददास' प्रभु प्यारी छबि देखें, बाढ़ति अधिक पियास॥२५॥

*

चलति बाल लाल संग, कुंज-भवन में लटकि-लटकि।
अंग-अंग की छबि कही न परत कछु, रोम-रोम रमि रह्यौ अटकि अटकि॥
रवि-ससि कौ सरूप ऐसौ देखियत, तन कौ तुषार डारों फटकि-फटकि।
'नंददास' प्रभु की छबि निरखत, पीवत नैन-पुट गटकि-गटकि॥२६॥

*

देखत देत न बैरनि पलकें।
निरखत बदन लाल गिरिधर कौ, बीच परत मानों बज्र की सलकें॥
बन तें जू आवत बेंनु बजावत, गो-रज मंडित राजत अलकें।
माथे मुकुट, श्रवन मनि-कुंडल, ललित कपोलन भाईं झलकें॥
ऐसे मुख देखन कों सजनी, कहा कियौ यह पूत कमल कें॥
'नंददास' सब जड़न की यह गति, मीन मरत, भाऐं नहिं जल कें॥२७॥

*

जागे हो रैन तुम सब नयना अरुन हमारे।
तुम कीयौ मधुपान, घूँमत हमारौ मन, काहे तें जु नंद-दुलारे॥
उर नख-चिह्न तुम्हारें, पीर हमारें, कारन कौन पियारे।
'नंददास' प्रभु न्यायी स्याम घन, बरष अनत जाय, हम पर झूम-झुमारे॥२८॥

छवि वर्णन—

मुख पर वारौं सुंदर टौंना ।
बैंनी बारन की, मृदु बैना, मृगमद भाल डिठौंना ॥
खंजन नैननि अंजन दिएँ, मोंहन लोयन लोंना ।
तिरछी चितवनि यों छबि लागै, कंज-दलन अलि-छौंना ॥
जो छबि है बृषभान--सुता में, सो छबि नाँहिंन सोंना ।
'नंददास' अविचल ये जोरी, राधा-स्याम सलोंना ॥२६॥

*

प्रातकाल नंदलाल पाग बनावति, बाल दिखावति दरपन रह्यौ लसि ।
सुंदर नव किरनन में मंजु मुकुर की झलक,
हीरा फबि मानों गहि आन्यौ है बिंबक झलनि ससि ॥
बीच-बीच चित के चोर, मोर-चंद माथें दिएँ,
ता पर पुनि रतन-पेच, बाँधत हैं कसि-कसि ।
'नंददास' ललितादिक ओट ह्वै अवलोकति,
कही न परत अतुलित छबि, फूलि रहे हँसि ॥३०॥

*

देखि सखी चंदवा मोर के ।
आजु बने सिर साँवरे पिय के, पीत छबीली छोर के ॥
पुनि लखि ललित सलौने लौने, लोचन नंद-किसोर के ।
बाँकी चितवन, चलन तिरछी सी, छेदत उर के ओर के ॥
बार-बार भुव कुटिल होत जब, गावत राग मरोर के ।
मानों पंख सँवारन बैठे, पंकज पर अलि भोर के ॥
मुख पर कछुक अमी-निधि माई,मोहन चित के चोर के ।
'नंददास' मेरे नैन भए तहाँ, बरबस मीन हिलोर के ॥३१॥

*

तनक सौ बदन, सदन सोभा कौ, तनक तिलक ढिंग तनक डिठौंना ।
तनक लटूरी सोहै,मुनिन के मन मोहै,मनों कमलन ढिंग, बैठे अलि-छौंना ॥
तनक सी रज लागी,निरखत सो बड़भागी,कंठ कठूला सोहे, और नख-बघना ।
'नंददास'जसोदा के आँगन में खेलें हरि,जाकौ जस गाइ-गाइ सिव भए मगना ॥३२॥

लीला-वर्णन—

देखो-देखो री नागर नट, निर्तत कालिंदी-तट, गोपिन के मध्य राजै मुकुट-लटक।
काछिनी किंकिनी कटि, पितांबर की चटक,कुंडल की रति, रवि-रथ की अटक॥
ततथेई, ताताथेई सबद करन उघट, उरप-तिरप गति, परै पग की पटक।
रास में राधे-राधे, मुरली में एक रट, 'नंददास' गावै, तहाँ निपट निकट॥३३॥

*

दौरि-दौरि आवति, मोहि मनावति, दाम खरच कछु मोल लई री।
अचरा पसारति, मोहि कों खिजावति, तेरे बाबा की कहा चेरी भई री॥
जा री जा, दूती तू भवन आपुने, लख बातन की एक बात कही री।
'नंददास' प्रभु वे क्यों नहीं आवत, उनके पाँयन कहा महेंदी दई री॥३४॥

*

अहो तोसों नंद-लाड़िले झगरूँगी।
मेरे संग की दुरी जात हैं, मटुकी पटकि डगरूँगी॥
भोर ही ठाड़ी कित करी मोकूँ, तुम जानि कछु कीनीं न करूँगी।
तुम्हारे संग सखा नहीं देखत, अब हीं लाउ उतारि धरूँगी॥
सूधे दान लेहु देखत किन, मोपै औरु कहा कछु, पाँय परूँगी।
'नंददास' पति यों न रहैगी कछू, जब बातन उघरूँगी॥३५॥

*

भक्त की भावना—

जो गिरि रुचै तो बसौ श्री गोवर्धन, ग्राम रुचै तो बसौ नँदगाँम।
नगर रुचै तो बसौ श्री मधुपुरी, सोभा-सागर अति अभिराम॥
सरिता रुचै तो बसौ श्री यमुना-तट, सकल मनोरथ पूरन काम।
'नंददास' काननहिं रुचै तो, बसौ भूमि वृंदावन धाम॥३६॥

*

राम-कृष्ण कहिऐ उठि भोर।
अवध-ईस वे धनुष धरे हैं, ये ब्रज-माखन चोर॥
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीतांबर नित गायन सँग नंदकिसोर॥
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
'नंददास' प्रभु सब तजि भजिऐ, जैसें निरखति चंद चकोर॥३७॥

उत्सव संबंधी—

❀ गनगौर ❀

छबीली राधे पूजि लै री गनगौर ।
ललिता-विसाखा सब मिलि निकसीं, आय वृषभान की पौर ॥
सघन कुंज, गहवर बन नीकौ, मिल गयौ नंद-किसोर ।
'नंददास' प्रभु आय अचानक, घेर लियौ चहुँ ओर ॥३८॥

❀ फूलडोल ❀

माई फूलन कौ हिंडोरा बन्यौ झूलि रही जमुना ।
फूलन के खंभ दोऊ,फूलन की डाँड़ी चार,फूलन की चौकी बनी, हीरा जगमना ॥
फूले अति बंसीवट, फूले हैं जमना-तट, सब सखी मिल गावें,मन भयौ मगना ।
फूली सखी चहुँ ओर थोरें-थोरें, 'नंददास' फूले जहाँ, मन भयौ मगना ॥३९॥

❀ अक्षय-तृतीया ❀

चंदन पहरि नाव हरि बैठे, संग वृषभान-दुलारी हो ।
यमुना-पुलिन तहाँ सोभित हैं, खेलत लाल बिहारी हो ॥
त्रिविध पवन बहति सुखदायक, सीतल मंद सुगंध हो ।
कमल प्रकासित, द्रुम बहु फूले, जहाँ राजत नँद-नंद हो ॥
अक्षय-तृतीया अक्षय-लीला, संग राधिका प्यारी हो ।
करत विहार संग सब सखियाँ,'नंददास' बलिहारी हो ॥४०॥

❀ रथ-यात्रा ❀

देखो माई नंदनँदन रथहिं बिराजै ।
संग सोहै वृषभान-नंदिनी , खेलत मनमथ लाजै ॥
ब्रज-जन सब मिलि रथ खैंचत हैं,सोभा अदभुत छावै ।
सीतल भोग धरि करत आरती, 'नंददास' गुन गावै ॥४१॥

❀ हिंडोला ❀

डोल झुलावत सब ब्रज-सुंदरि, झूलत मदन गोपाल ।
गावत फाग धमार, हरषि भर,हलधर और सब ग्वाल ॥
फूले कमल,केतकी-कुंजन, गुंजत मधुप रसाल ।
चंद बदन पै चोवा छिरकत, उड़त अबीर-गुलाल ॥
बाजत बेनु, विषान, बाँसुरी, ढफ, मृदंग और ताल ।
'नंददास' प्रभु के संग विलसति, पुन्य-पुंज ब्रज-बाल ॥४२॥

महिमा-वर्णन—

नंद-भवन कौ भूषन माई।
जसुदा कौ लाल, बीर हलधर कौ, राधा-रमन परम सुखदाई ॥
सिव कौ धन, संतन कौ सरबस, महिमा वेद-पुरानन गाई।
इंद्र कौ इंद्र, देव देवन कौ, ब्रह्म कौ ब्रह्म, अधिक अधिकाई ॥
काल कौ काल, ईस ईसन कौ, अतहि अतुल, तोल्यौ नहिं जाई।
'नंददास' कौ जीवन गिरिधर, गोकुल गाँम कौ कुँवर कन्हाई ॥४३॥

*

निगम अगम जाकों निगम कहत हैं।
जोगी जन, मुनि जन, ढूँढत जतन कीऍं,
संकर समाधि नित लाऍं ही रहत हैं ॥
सारद गनेस सेष सहस बदन सों,
गुननि गिनत अपार, अज हू न लहत हैं।
'नंददास' सोई ब्रह्म नंद की अंगुरी लागें,
मंद-मंद चाल लाल चलन चहत हैं ॥४४॥

*

अरी, जाकों वेद रटत, ब्रंह्मा रटत, सिंभु रटत,
सेस रटत, नारद-सुक ब्यास रटत, पावत नहीं पार री।
ध्रुव जन प्रहलाद रटत, कुंती के कुँवर रटत,
द्रुपत-सुता रटत, नाथ-अनाथन प्रतिपार री ॥
गौतम की नारि रटत, गनिका गज-गीध रटत,
राजा अंबरीष रटत, सुतन दे-दै थार री।
'नंददास' सोई गुपाल, गिरिवर धर रूप जाल,
जसोदा कौं कुँवर, प्यारी राधिका उर-हार री ॥४५॥

*

धन्य जसोदा धन्य, तैं कौन पुन्य कीने।
जाके आँगन मधि रेंगन करत, गोबिंद गो-रेंनु-भीनें ॥
दगन आगे तें दुरत मगन भए, नँचावें खिलावें हितु-चितु चित दीने।
'नंददास' ते प्रभू निरंजन, सो तौ तैं अंजन से करि लीने ॥४६॥

विरह-मंजरी—

और ठौर की आग पिय, पानी लागि बुझाय।
पानी में की आग बलि, काहे लागि सिराय॥
प्रीतम परम सुजान, कातिक जो नहिं आय हौ।
तौ ये चंचल प्रान, पिय तुमहीं पै आय हैं॥

अहो, चंद ! गति मंद न गहो। सुंदर गिरिधर पिय सों कहो॥
समय पाय कहियो अरगाय। जैसें बलि-बलि उनहीं सुहाय॥
आई सरद सुहाई राति। प्रफुलित बेलि मल्लिका जाति॥
उदित भयौ उडुराज सदा कौ। रहत अखंडल मंडल जाकौ॥
छूटि रही छवि विमल चाँदनी। सुभग पुलिन कालिंद-नंदिनी॥
सीतल मृदुल बालुका सच्यौ। जमुना स्वकर तरंगन रच्यौ॥

*

रस-मंजरी—

बाँध संकेत पीय नहिं आवै। चिंता कर तिय अति दुख पावै॥
आरति कर संताप जनाई। तन तोरत, अति लेत जँभाई॥
भर-भर नैंन अवस्था कहै। उत्कंठिता नायिका वहै॥
प्रानपिया अजहूँ नहिं आये। हौं जानौं किनहीं विरमाये॥
लाज तें सखी कहूँ नहिं बूझै। चिंता कर मन ही मन सूझै॥
चकित भई घर-आँगन फिरै। कौने जाय, उसासन भरै॥
दुख तें मुख पियरौ पर आवै। मुग्धा उत्कंठिता कहावै॥

*

रूप-मंजरी—

अब सुनो ताकौ सहज शृंगार। बरनौं जगपति कौ अविकार॥
गौर बरन तनु सोभित नीकौ। औंटये कंचन कौ रँग फीकौ॥
उबटन उबरी अंग न्हवाई। ओपी दामिनि लोपी माई॥
सीस-पुहुप गूंथन छवि छाई। मनौं मदन मृग कानन आई॥
सोहत बैंदी जराय कि ऐसी। बाल भाल मनि प्रकटी जैसी॥
भ्रुव-धनु देखि मदन पछितायौ। हर संगर में ये नहिं पायौ॥
बालपने पग चंचलताई। अविचल छवि लै नैंननि आई॥
मृदु कपोल छवि बरनि न जाई। झलकै अलकैं खुभि तिन मांई॥
अधर मधुर रस देख सुहारी। असन पार जनु परी पनारी॥
दमकत लसत दसन की जोती। को है दामिनि, को है मोती॥
चिबुक कूप में उझिकै जोई। जगत कूप पुनि परै न सोई॥

भँवर-गीत—

ऊधौ को उपदेस सुनो, ब्रज-नागरी।
रूप सील लावन्य सबै गुन-आगरी॥
प्रेम-धुजा, रस-रूपिनी, उपजावन सुख-पुंज।
सुंदर-स्याम-विलासिनी, नव वृंदावन-कुंज॥
सुनो ब्रजनागरी॥

कहन स्याम-संदेस एक, हौं तुम पै आयौ।
कहन समय एकांत कहूँ औसर नहिं पायौ॥
सोचत ही मन में रह्यौ, कब पाऊँ इक ठाउँ।
कहि संदेस नँदलाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाउँ॥
सुनो ब्रज-नागरी॥

सुनत स्याम कौ नाम, ग्राम-घर की सुधि भूलीं।
भरि आनंद-रस हृदय, प्रेम-बेली द्रुम फूलीं॥
पुलिक रोम सब अँग भए, भरि आए जल नैंन।
कंठ घुटे, गदगद गिरा, बोले जात न बैंन॥
विवस्था प्रेम की॥

उर्धासन बैठारि, बहुरि परिक्रम्मा दीनीं।
स्याम-सखा निज जानि, बहुरि सेवा बहु कीन्हीं॥
बूझत सुधि नँदलाल की, बिहँसत मुख ब्रज-बाल,
नीके हैं बलबीर जू, बोलति वचन रसाल॥
सखा सुन स्याम के॥

कुसल राम अरु स्याम, कुसल संगी सब उनके।
जदुकुल सिगरे कुसल, परम आनंद सबन के॥
पूछन ब्रज कुसलात कों, हौं पठयौ तुव तीर।
मिलि हैं थोरे दिनन में, जनि जिय होउ अधीर॥
सुनो ब्रज-नागरी॥

सुनि मोहन-संदेस, रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
पुलकित आनन कमल, अंग आवेस जनायौ॥
विह्वल ह्वै धरनी परीं, ब्रज-बनिता मुरझाय।
दै जल छींट प्रबोध हीं, ऊधौ बैंन सुनाय॥
सुनो ब्रज-नागरी॥

रास-पंचाध्यायी—

जो ब्रज देवी नृत्यत, मंडल रास महा छवि ।
सो रस कैसे बरन सकै, यहाँ ऐसौ को, कवि ॥
राग-रागनी समभन कों, जो बोलवौ सुहायौ ।
सो कापै कहि आवै, जो ब्रज-देविन गायौ ॥
पिय-ग्रीवा भुज मेलि, केलि कमनीय बढ़ी अति ।
लटक-लटक कै नित्यंत, कापै कहि आवै गति ॥
छवि सों नित्यंत मटकन-लटकन मंडल डोलत ।
कोटि अमृत सम मुसकन, मंजुल, तायेई बोलत ॥
आप आपनी गती-भेद, तहाँ नृत्य करत तब ॥
गंधर्व मोहे तिहिं छिन, सुंदर गान करत सब ॥
भुज-दंडन सों मिलत, ललित मंडन नृत्यत छवि ।
कुंडल कुच सों उरझि, मुरझि रहे तहाँ बडरे कवि ॥
पिय के मुकुट की लटकन, मुरली-नाद भई अस ।
कुहक-कुहक यों बाजत, मंडल कों जु भरे रस ॥
सिर तें कुसुमन बरषत, हरषत अति आनंद भर ।
मानों पद-गति रीझि, अलक पूजत फूलन कर ॥
स्रम-जल बिंदू सुंदर, रँग भर कहुँ-कहुँ बरसत ।
प्रेम भक्त विरले जिनके, तिनके हिय सरसत ॥
वृंदावन कौ त्रिविध पवन, बिजना सों बिलोलै ।
जहँ-जहँ स्रम अवलोकत, तहँ-तहँ रस भर डोलै ॥
उड़ नव अरुन अबीर अद्भुत ससि मंडल ऐसै ।
प्रेम-जाल के गोलक कछु छवि उपजत जैसै ॥
कुसुम धूंधरी, कुंज मत्त, मधुकर निवेस जहाँ ।
ऐसै हुलसत आवत, ग्रीवन लटक केस तहाँ ॥
नव पल्लव की सैनी, अति सुख दैनी दरसै ।
सुंदर सुमन सु निरखत, अति आनंदहिं बरसै ॥
पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उडु-मंडल सगरौ ।
पाछैं रवि-रथ थक्यौ, चल्यौ नहिं आगैं डगरौ ॥
अदभुत रस रह्यौ रास, गीत-ध्वनि सुन मोहे मुनि ।
सिला सलिल बह चली, सलिल बह रही सिला पुनि ॥

चतुर्थ परिच्छेद

अष्टछाप का काव्य

★

१. अष्टछाप-काव्य की रूप-रेखा

अष्टछाप-काव्य की भाषा—

अष्टछाप के काव्य की भाषा व्रजभाषा है, जो हिंदी का एक विशिष्ट रूप है। अष्टछाप से पहले भी कतिपय कवियों के काव्य में व्रजभाषा के तत्व मिलते हैं, किंतु इसे व्यवस्थित एवं साहित्यिक भाषा बनाने का श्रेय अष्टछाप के कवियों को ही प्राप्त है। हिंदी के इतिहास में खुसरो, नामदेव, कबीर और लालचदास हलवाई आदि कुछ ऐसे कवियों की रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें व्रजभाषा का एक रूप दिखलायी देता है। इससे ज्ञात होता है कि अष्टछाप से पहले भी व्रज की बोली ने भाषा का रूप धारण कर साहित्य में स्थान प्राप्त कर लिया था, किंतु इसे साहित्यिक भाषा के रूप में समुचित शक्ति प्रदान करने वाले अष्टछाप के ही कवि थे।

अष्टछाप से पहले व्रजभाषा का महत्व व्रज-प्रदेश की एक साधारण बोली से अधिक नहीं था, किंतु सूरदास और उनके सहयोगियों ने अपनी अपूर्व रचनाओं द्वारा व्रज की इस साधारण बोली को वह गौरव प्रदान किया कि यह शीघ्र ही समस्त हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र की सामान्य काव्य-भाषा बन गयी और कई शताब्दियों तक यह समस्त कवि-समुदाय के गले का हार बनी रही।

अष्टछाप-काव्य की परंपरा—

अष्टछाप का काव्य भक्तिपूर्ण साहित्य है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं का अत्यंत सरस वर्णन हुआ है। अष्टछाप के पूर्ववर्ती कवियों में से जयदेव, विद्यापति और चंडीदास ने क्रमशः संस्कृत, मैथिल और बंग भाषाओं में कृष्ण-चरित्र का गायन किया था, किंतु भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से अष्टछाप की रचनाएँ उक्त कवियों की रचनाओं से भिन्न हैं। अष्टछाप के कवियों ने, और विशेष कर सूरदास ने, कृष्ण-चरित्र के गायन

द्वारा धार्मिक एवं साहित्यिक जगत् में मौलिक उद्भावनाओं को जन्म दिया, जिनका अनुकरण उनके समकालीन एवं परवर्ती कवियों ने भी किया। सूरदास और उनके सहयोगियों की रचनाओं में तथा कृष्ण-चरित्र के पूर्वोक्त गायक कवियों की रचनाओं में क्या अंतर है, यह निम्न लिखित उद्धरण से ज्ञात होगा—

"जयदेव के काव्य में संगीत-लहरी और कोमल-कांत पदावली का गौरव तो है, किंतु इसमें सूरदास की सी कथन की विविधता नहीं है। विद्यापति ने राधा-कृष्ण को केवल नायिका-नायक के रूप में चित्रित कर विलासिता को अधिक प्रश्रय दिया है। वे सूरदास की तरह राधा-कृष्ण को अलौकिक धरातल पर स्थापित नहीं कर सके हैं। चंडीदास के काव्य में राधा-कृष्ण के विशुद्ध प्रेम का दर्शन तो होता है, किंतु इसमें सूरदास की सी लीला-भावना का अभाव है* ।"

इस प्रकार सिद्ध है कि अष्टछाप के कवि अपने काव्य-वैभव के लिए परंपरागत रचनाओं के ऋणी नहीं हैं। उनके काव्य में पूर्ववर्ती कवियों के गुण अवश्य विद्यमान हैं, किंतु वे मौलिक उद्भावनाओं के साथ अपने परिष्कृत रूप में हैं, जो अष्टछाप के कवियों की स्वतंत्र उद्भावना पर निर्भर हैं। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अष्टछाप-काव्य किसी पूर्वागत परंपरा पर आधारित नहीं है, बल्कि इस प्रकार की परंपरा स्वयं अष्टछाप के कवियों द्वारा बनायी गयी है, जिसका अनुकरण अन्य कवियों ने किया है।

अष्टछाप-काव्य का स्वरूप—

अष्टछाप के काव्य में वात्सल्य, दाम्पत्य रति और भगवद् रति इन तीन भावों का प्राधान्य है, अतः यह शृंगार रस पूर्ण काव्य है। इसकी अधिकांश रचना मनोहर पदों में हुई है। ये पद कृष्ण-लीलाओं से संबंधित होने पर भी कथन की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हैं, अर्थात प्रत्येक पद स्वतंत्र है और कथा-वस्तु के लिए आगे-पीछे के किसी अन्य पद पर आधारित नहीं है। इस प्रकार का काव्य मुक्तक कहलाता है, जो प्रबंधकाव्य से भिन्न स्फुट शैली में कथित होता है। यह काव्य गेय होने के कारण गीति-काव्य के अंतर्गत है। इसमें शब्दों की सजावट, भावों की अभिव्यक्ति और ताल-स्वरों की संयोजना बड़ी अनुपम है।

---

* सूर-निर्णय, पृ० ३१३

इस काव्य के रचयिता पहले भक्त हैं और बाद में कवि। वे भक्त भी साधारण श्रेणी के नहीं हैं,बल्कि वे सिद्ध कोटि के महात्मा हैं, जिन्होंने जन-कल्याण और परमार्थ की भावना से अपना कथन किया है, इसलिए इस काव्य में बड़ी मार्मिकता है। वर्णन की दृष्टि से इस काव्य का क्षेत्र श्रीकृष्ण की केवल ब्रज-लीलाओं से संबंधित होने के कारण बहुत छोटा है, किंतु इसके रचयिताओं की प्रतिभा के कारण इसका असाधारण रूप से विकास हुआ है, जिसके फल स्वरूप यह एक विशाल साहित्य बन गया है।

भाषा, भाव, विषय और शैली की दृष्टि से अष्टछाप के आठों कवियों की रचनाएँ प्रायः एक सी ही हैं, किंतु अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनके महत्व में न्यूनाधिक्य है। काव्य-परिमाण और विषय-विस्तार की दृष्टि से भी इनकी रचनाओं में अंतर है। अष्टछाप-साहित्य का सर्वोत्तम भाग सूर-काव्य है। इसके उपरांत परमानंददास,नंददास और अन्य कवियों की रचनाओं का महत्व है।

अष्टछाप-काव्य का दिग्दर्शन—

अष्टछाप में सूरदास और नंददास ही ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाओं से हिंदी-जगत् विशेष परिचित है। हिंदी साहित्यकारों ने परमोत्कृष्ट कवियों के रूप में इन दोनों महाकवियों का गुण-गान किया है, किंतु साधारण कविगण समझ कर अष्टछाप के अन्य छै कवियों की उन्होंने उपेक्षा भी की है। निस्संदेह अष्टछाप में सूरदास और नंददास का विशेष महत्व है, किंतु अन्य कवि भी उपेक्षणीय नहीं हैं। परमानंददास की रचनाएँ काव्य-परिमाण और काव्य-महत्व की दृष्टि से चाहें सूरदास की रचनाओं के समान नहीं हैं, किंतु वे नंददास की रचनाओं के समान ही नहीं, प्रत्युत उनसे कुछ बढ़ कर हैं। ऐसे महाकवि की रचनाओं का यथार्थ मूल्यांकन न करना हमारे प्रमाद का द्योतक है। अन्य कवियों की रचनाओं के सुसंपादित संस्करण प्रकाशित होने पर ज्ञात होगा कि इनकी रचनाएँ भी ऐसी नहीं हैं, जिनकी सहज ही में उपेक्षा की जा सके। यहाँ पर अष्टछाप के वर्ण्य विषय और इसकी रचना-शैली के विवेचन द्वारा अष्टछाप-काव्य का सामूहिक दिग्दर्शन करना आवश्यक है।

पुष्टि संप्रदाय की सेवा-भावना के अनुसार इस काव्य में श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का बड़ा मार्मिक कथन हुआ है। वैसे तो बाल-लीलाओं की रचना अष्टछाप के प्रायः प्रत्येक कवि ने की है, किंतु सूरदास ने इस विषय के जिन पदों की रचना की है, वे काव्य-महत्व की दृष्टि से संसार की

समस्त भाषाओं के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सूरदास के उपरांत परमानंददास ने भी बाल-लीलाओं का उत्तम कथन किया है।

राधा-कृष्ण की शृंगारात्मक लीलाओं का कथन आठों कवियों ने किया है, किंतु इस विषय पर भी सूरदास की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। परमानंददास, कुंभनदास और कृष्णदास ने भी शृंगार रस के उत्तम पदों की रचना की है। सूरदास ने संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार रस का बड़ी विदग्धता पूर्ण कथन किया है। संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार में मार्मिकता अधिक है। गोपियों के विरह-वर्णन में भगवान् के प्रति भक्त हृदय की आकुलता व्यंजित की गयी है। इस प्रकार का कथन भ्रमर-गीत के अंतर्गत है, जिसका मूलाधार भागवत है। भागवत में भ्रमर-गीत का विस्तृत वर्णन नहीं है, किंतु अष्टछाप के कवियों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से इसका अपूर्व विस्तार किया है। सूरदास ने तीन भ्रमर-गीतों की रचना की है, जिनमें से एक भागवत का अनुवाद है और दो उनकी मौलिक कृतियाँ हैं। इन गीतों में उद्धव–गोपी संवाद के रूप में निर्गुण ज्ञान पर सगुण भक्ति की विजय दिखलायी गयी है। नंददास का भ्रमर-गीत कथोपकथन की मनोरंजकता, शब्दों की सजावट, संगीत की झंकार और वाक्-चातुरी के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। नंददास की रास-पंचाध्यायी भी अपूर्व कवित्व पूर्ण एवं सैद्धांतिक रचना है।

नंददास और कुंभनदास की रचनाओं में माधुर्य-भक्ति की प्रधानता है, अतः इनकी कविताएँ इस दृष्टि से अष्टछाप–साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं। कुंभनदास ने जीवन पर्यंत निकुंज लीला के पदों का गायन किया था। उन्होंने बाल-लीला के बहुत कम पदों का कथन किया है। शेष तीन कवि चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविंदस्वामी की रचनाएँ भी भक्तिपूर्ण शृंगारिक काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं, किंतु काव्य-महत्व की दृष्टि से वे अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं।

अष्टछाप के आठों कवियों ने अपने अधिकांश काव्य का कथन पद-शैली में किया है, बल्कि यह कहना चाहिए कि सूरदास और नंददास के अतिरिक्त अष्टछाप के समस्त कवियों ने एक मात्र पद-साहित्य की ही रचना की है। सूरदास का भी अधिकांश काव्य पदों में है, किंतु उन्होंने विभिन्न छंदों में भी बहुत-कुछ कथन किया है। नंददास का अधिकांश काव्य चौपाई, रोला आदि विभिन्न छंदों में है; उन्होंने पद-शैली में अपेक्षाकृत कम लिखा है।

२. अष्टछाप का काव्य-महत्व

अष्टछाप-काव्य की सरसता—

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा बतलाया है। कवि की जिस रचना में रस नहीं, वह काव्य नहीं बल्कि शब्दाडंबर मात्र है। अष्टछाप के कथन में सरसता की प्रचुरता है, अतः यह उत्कृष्ट कोटि का काव्य है।

सब रसों में श्रृंगार रस प्रमुख है। अष्टछापके समस्त कवियों की रचनाओं में श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। प्राचीन रस-शास्त्रियों के मतानुसार वात्सल्य भी श्रृंगार रस के अंतर्गत है। सूरदास और परमानंददास के काव्य में वात्सल्य का जैसा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी कथन हुआ है, वैसा अन्य कवियों के काव्य में मिलना कठिन है। बाल-भाव की जितनी क्रियाएँ और चेष्टाएँ हो सकती हैं, उन सब का इन दोनों कवियों ने स्वाभाविक कथन किया है। इनके काव्य में वात्सल्य के एक से एक बढ़ कर मनोहर शब्द-चित्र अंकित किये गये हैं। यहाँ पर दोनों कवियों के एक-एक पद दिये जाते हैं, जिनसे पाठकों को इनके रचना-कौशल का भली प्रकार ज्ञान हो सकता है। सूरदास के पद में माखन-चोरी को छिपाते हुए बाल-कृष्ण की भोली-भाली बातें बतलायी गयी हैं,और परमानंददास के पद में श्री कृष्ण की शिकायत करने वाली गोप-बधू के कथन को असत्य सिद्ध करने की वृथा चेष्टा दिखलायी गयी है। दोनों पदों में बाल-स्वभाव का कैसा अकृत्रिम कथन हुआ है, देखिए—

मैया ! मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ॥
देखि तुही छींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हें कर अपुनैं, मैं कैसैं कर पायौ॥
मुख-दधि पौंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दौना पीठ दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाय जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ॥
बाल-विनोद गोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
'सूरदास' यह जसुमति कौ सुख,सिव-विरंचि नहिं पायौ॥

— सूरदास

तेरी सौं सुनि-सुनि री मैया।
याके चरित्तर तू नहिं जानै, बोलि बूझि संकर्षन भैया ॥
ब्याई गाय बछरुआ चाटत, हौं पीवत हौ प्रतिखन धैया।
याहि देखि धौरी बिझकानी, मारन कों दौरी मोहि गैया ॥
द्वै सींगन के बीच परयौ मैं, तहँ रखवारौ कोऊ न सैया।
तेरौ पुन्य सहाय भयौ है, अब उबरयौ बाबा नंद दुहैया ॥
ये जोइ बाटि परी है मोपै, भाजि चली कहि दैया-दैया।
'परमानंद' स्वामी की जननी, उर लगाय हँसि लेत बलैया ॥

—परमानंददास

कुंभनदास के अतिरिक्त अष्टछाप के सभी कवियों ने वात्सल्य का कथन किया है, किंतु सूरदास और परमानंददास की तत्संबंधी रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। इन दोनों कवियों के काव्य में वात्सल्य के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों की रचनाएँ मिलती हैं। नंद-यशोदा द्वारा कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के सुखानुभव में संयोग पक्ष का निरूपण हुआ है, तो कृष्ण के मथुरा-गमन पर नंद-यशोदा के विलाप में वियोग पक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

शृंगार रस का कथन अष्टछाप के प्रत्येक कवि ने किया है, किंतु इस विषय पर भी सूरदास की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। सूरदास के उपरांत नंददास, परमानंददास और कुंभनदास की रचनाओं का महत्व है। कृष्णदास और चतुर्भुजदास की शृंगार रस पूर्ण रचनाएँ भी उत्तम हैं। इन कवियों ने प्रिया-प्रियतम के विहार विषयक विविध प्रसंगों का मनोहर वर्णन किया है। नंददास और कुंभनदास के काव्य में माधुर्य रति का प्राधान्य है। इस प्रकार की रचनाओं में शृंगार रस का चरम उत्कर्ष हुआ है।

महामुनि भरत ने शृंगार रस के व्यापक महत्व का वर्णन किया है। उनके मतानुसार जगत् में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वह सब शृंगार रस के अंतर्गत है †। इसी दृष्टिकोण से अष्टछाप के कवियों ने अपनी शृंगार रस पूर्ण रचनाएँ की हैं। इन रचनाओं से इनका अभिप्राय अपने इष्टदेव की भक्ति-भावना का प्रदर्शन करना था। नंददास ने अपने 'रस-मंजरी' ग्रंथ में इसे स्पष्ट कर दिया है। उनका मत है—

† 'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते।'

—नाट्यशास्त्र

नमो-नमो आनंदघन, सुंदर नंद-कुमार।
रस मय, रस कारन, रसिक, जग जाके आधार॥
रूप, प्रेम, आनंद रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव कौ, निधरक बरनों ताहि॥

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'रति' के स्वरूप पर ही शृंगार का आधार है। नंददास ने 'रति' का जैसा सांगोपांग वर्णन किया है, उसे जान लेने पर ही अष्टछाप के कवियों की शृंगारिक रचनाओं का महत्व समझ में आ सकता है। उन्होंने लिखा है—

उचित धाम काम तौ करै। जानै नहीं कवन अनुसरै॥
भूख-प्यास सबै मिट जाय। गुरुजन-डर कछु रंचक खाय॥
मन की गति पिय में इकतार। समुद्र मिली जिमि गंग की धार॥
तनक बात जो पिय की पावै। सो बिरियाँ तपत ह्वै आवै॥
यदपि विघन गन आवहिं भारे। जो रति-रस के मेटन हारे॥
तदपि न भृकुटी रंचक भटकै। एक रूप चित रस कूँ गटकै॥
स्तंभ-स्वेद पुनि पुलकित अंग। नैनन जल-कन अरु स्वर-भंग॥
तन बिवरन, हिय कंप जनावै। बीच-बीच मुरझाई आवै॥
यह प्रकार जाकौ तन लहिऐ। सो वह रंग भरी 'रति' कहिऐ॥

अष्टछाप-कवियों की शृंगारिक रचनाओं में इस प्रकार की 'रति' का सर्वत्र वर्णन मिलता है। इन रचनाओं में गोपियों की कृष्ण के प्रति आसक्ति दर्शनीय है। वास्तव में गोपियों के बहाने भक्त की भगवान् के प्रति अनुरक्ति व्यंजित की गयी है। सूरदास, परमानंददास और नंददास के तत्संबंधी कथन शृंगार साहित्य की अमूल्य निधि हैं, किंतु अन्य कवियों की रचनाएँ भी पठनीय हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

हिलगिन कठिन है या मन की।
जाके लिऐं देखि मेरी सजनी, लाज गई सब तन की॥
धर्म जाउ, अरु हँसौ लोग सब, अरु आवहु कुल गारी।
सों क्यों रहै ताहि बिन देखै, जो जाकौ हितकारी॥
रस लुब्धक छिन-निमिष न छाँड़त, ज्यों अधीन मृग गानैं।
'कुंभनदास' सनेह परम, श्री गोवरधन-धर जानैं॥
—कुंभनदास

लालन खिर घाली हो ठगौरी।
सुंदर मुख जौलों नहिं देखियत, भई रहति तौलों बौरी॥
वह मुख कमल पराग चाखि, मेरे नैन मधुप लागे दौरी।
'गोविंद' प्रभु वन तें व्रज आवति, रहति हृदै कैसै तौरी॥

—गोविंदस्वामी

अरी हौं स्याम-रूप लुभानी।
मारग जाति मिले नँदनंदन, तन की दसा भुलानी॥
मोर मुकट सीस पर बाँकौ, बाँकी चितवन सोहै।
अंग-अंग भूषन बने सजनी, जो देखै सो मोहै॥
मो तन मुरिकै जब मुसिकाने, तब हौं छाकि रही।
'छीतस्वामी' गिरिधर की चितवन जाति न कछू कही॥

—छीतस्वामी

मथनियाँ दधि समेंत छिटकाई।
भूली सी रह गई चितै उर, छिनु न विलोमन पाई॥
आगै ह्वै निकसे नँदनंदन, नैनन हू की सैन जनाई।
छाँड़ि नेति दई कर तें, उठि पाछै ही बन धाई॥
लोक-लाज अरु वेद-मरजादा, सब तन तें बिसराई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन मम हँसि, कठिन ठगौरी लाई॥

—चतुर्भुजदास

श्रृंगार दो प्रकार का होता है—संयोग और वियोग। संयोग श्रृंगार के अगणित उत्कृष्ट पद अष्टछाप के काव्य में मिलते हैं। इस विषय में सूरदास, परमानंददास और नंददास की रचनाओं का काव्य-सौष्ठव अनुपम है, किंतु अन्य कवियों की रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। देखिऐ—

हिंडोरे माई झूलत नवल किसोर।
ललिता, चंपकलता, विसाखा देत हैं प्रेम-झकोर॥
जैसिय रितु पावस सुख-दायिनि, मंद मंद घन-घोर।
तैसिय गान करति व्रज-संदरि, निरखि-निरखि पिय-ओर॥
कोटि-कोटि दंपति छवि निरखति, होत सबन मन मोर।
'कुंभनदास' श्रीगोवरधन धर, प्रीत निवाहन ओर॥

—कुंभनदास

पौढ़ि रही सुख-सेज छबीली, दिनकर-किरन झरोखहिं आई।
उठि बैठे लाल बिलोकि बदन बिधु, निरखत नैना रहे लुभाई॥
अध खुले पलक ललन-मुख चितवत, मृदु मुसकात, हँसि लेत जँभाई।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर नागर, लटकि-लटकि हँसि कंठ लगाई॥

—कृष्णदास

वियोग श्रृंगार पर भी सूरदास, परमानंददास और नंददास की रचनाएँ बड़ी उत्तम हुई हैं। गोपियों के विरह-वर्णन में वियोग की समस्त दशाओं का मूर्तिमान स्वरूप दिखलाया गया है। सूरदास और नंददास के भ्रमरगीत भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। यहाँ पर वियोग श्रृंगार के कुछ छंद दिये जाते हैं—

मधुकर! इतनी कहियहु जाय।
अति कृस गात भईं ये तुम बिन, परम दुखारी गाय॥
जल-समूह बरसत दोउ आँखैं, हूँकति लीन्हैं नाँउ।
जहाँ-तहाँ गो-दोहन कीनौ, सूँघत सोई ठाँउ॥
परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ 'सूर' काढ़ि डारी हैं, वारि मध्य तें मीन॥

—सूरदास

रैन पपीहा बोल्यौ री माई।
नींद गई, चिंता बहु बाढ़ी, सुरति स्याम की आई॥
सावन मास देखि बरषा-रितु, हौं उठि आँगन धाई।
गरजत गगन, दामिनी दमकत, तामैं जीउ उड़ाई॥
राग मलार कियौ जब काहू, मुरली मधुर बजाई।
बिरहिन बिकल 'दास परमानंद' धरनि परी मुरझाई॥

—परमानंददास

सुनत स्याम कौ नाम, ग्राम-गृह की सुधि भूलीं।
भरि आनंद रस हृदय, प्रेम-बेली द्रुम फूलीं॥
पुलकि रोम सब अंग भए, भरि आए जल नैन।
कंठ घुट्यौ, गदगद गिरा, बोले जात न बैन॥
बिवस्था प्रेम की।

—नंददास

अष्टछाप की रचनाओं में शृंगार रस के विभिन्न प्रसंगों के इतने सुंदर शब्द-चित्र मिलते हैं, जिनके मनन से पाठक स्वयं चित्रवत् रह जाता है। इस प्रकार की रचनाओं के दो-चार उदाहरण दे देने से उनका यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, अतः गत पृष्ठों के 'काव्य-संग्रह' द्वारा प्रत्येक कवि की रचनाओं का रसास्वादन करना चाहिए।

व्रजभाषा साहित्य की शृंगारिक रचनाओं में नायिकाभेद का शास्त्रीय विवेचन अधिकतर रीति-काल की देन है, किंतु इसका आरंभ भक्तिकाल में ही हो गया था। भक्तिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण का जो शृंगारिक वर्णन किया है, इसमें नायिकाभेदोक्त कथन भी प्रचुर परिमाण में आ गये हैं। अष्टछाप के कवियों ने राधा-कृष्ण के पारस्परिक अनुराग के क्रमिक विकास, उनके संयोग एवं वियोग की अनेक चेष्टाओं तथा उनके मान, उपालंभ, मिलन आदि के विविध कथनों में नायिकाभेद की अधिकांश सामग्री आ गयी है।

वल्लभ संप्रदाय में चैतन्य संप्रदाय की भाँति परकीया भक्ति का महत्व नहीं है, तब भी इसमें परकीया भक्ति सर्वथा अग्राह्य भी नहीं है। वल्लभ संप्रदाय की भक्ति-भावना के अनुसार राधिका जी स्वकीया और चंद्रावली जी परकीया हैं। अष्टछाप के कवियों ने अपनी रचनाओं में अधिकतर स्वकीया भक्ति का ही कथन किया है, किंतु नंददास ने 'रूपमंजरी' में परकीया भक्ति को भी महत्व दिया है। उन्होंने कहा है—

रस में जो उपपति-रस आहीं।
रस की अवधि, कहति कवि ताहीं॥

परकीया भक्ति के आधारभूत इस उपपति-रस की व्याख्या नंददास ने 'विरह मंजरी' में भी की है। अपने 'दशमस्कंध' ग्रंथ में उन्होंने गोपियों के मुख से उपपति-रस की इस प्रकार पुष्टि करवायी है—

जो कहो उपपति-रस नहिं स्वच्छ। सब कोउ निंदत अरु अति तुच्छ॥
तहाँ कहति हैं, व्रज-भामिनी। लहलहाति जनु नव दामिनी॥
तुम्हरी ये कतगी तजि पिय। त्रिभुवन मांझ कवन अस तिय॥
सुनतहिं आरज-पथ नहिं तजै। सुंदर नंद-सुवन नहिं भजै॥

यह होने पर भी अष्टछाप के काव्य में जो नायिकाभेदोक्त कथन मिलते हैं, वे प्रायः स्वकीया के ही अनुकूल हैं। अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में स्वकीया नायिका से अनुकूल अज्ञातयौवना से लेकर मध्या, प्रौढ़ा नायिकाओं

के प्रायः समस्त भेदोपभेदों का समावेश हो गया है। खंडिता नायिका के बहुसंख्यक पदों की रचना तो अष्टछाप के प्रत्येक कवि ने की है; इस प्रकार के पद ठाकुर जी की मंगला आरती की झाँकी में सदा से गाये जाते हैं। यहाँ पर नायिकाभेदोक्त कुछ रचनाएँ दी जाती हैं—

[वचन-विदग्धा]

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिऐ कुँवर रसिक मनमोहन, लगौं तिहारे पैया॥
तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी, घर तें पठई मैया।
निकटहिं है यह खरिक हमारौ, नागर लेहुँ बलैया॥
देखियत परम सुदेस लरिकई, चित चहुँटयौ सुँदरैया।
'कुंभनदास' प्रभु मान लई रति, गिरि गोवरधन-रैया॥
—कुंभनदास

[आनंद-संमोहिता]

मदनगोपाल के रंग राती।
गिरि-गिरि परत, सँभार न तन की, अधर-सुधा रस माती॥
वृंदावन कमनीय सघन बन, फूली चहुँ दिसि जाती।
मंद सुगंध बहै मलयानिल, अति जुडात मेरी छाती॥
आनँद मगन रहत प्रीतम सँग, द्यौस न जानति राती।
'परमानंद' सुधाकर हरि-मुख, पीवत हू न अघाती॥
—परमानंददास

[खंडिता]

मरगजी और कुंद माल, लोचन अलसात लाल,
डगमगात चरन धरन धरत, रैन जागे।
भाल तें खस मोर-मुकुट, भृकुटी के आयौ निकट,
सिथिल चपल चंद्रिका सों बाँधी पाग तागे॥
अतिसय कुसुम तन सुहाति, कहुँ-कहुँ कुमकुम की काँति,
मदन नृपति पीक छाप जुग कपोल लागे।
'छीतस्वामी' गिरिवर-धर, सोभित चहुँ ओर भ्रमर,
संग में गुन-गान करत, फिरत आगै-आगे॥
—छीतस्वामी

[उत्कंठिता]

चंद्रावली स्याम-मग जोवति।
कबहुँ सेज कर झारि सँवारति, कबहु मलय-रज भोवति ।।
कबहुँ नैन अलसात जानि कै, जल लै-लै पुनि धोवति ।।
कबहुँ भवन, कबहूँ आँगन ह्वै, ऐसे रैन बिगोवति ॥
कबहुँक विरह जरति अति व्याकुल, आकुलता मन में अति ।
'सूर' स्याम वहु रमनि-रमन पिय, यह कहि तव गुन तोवति ।।

—सूरदास

[अधीरा]

आए हो उठि भोरहिं तें, रसमसे नंद-दुलारे।
अरुन नैन अरु बैन अटपटे, मुख देखियत अधरन रँग भारे ।।
एतौ बाद कित करत गुसाईं, जहाँ जाउ, जाके हो प्रान-प्यारे।
'गोविंद' प्रभु पिय भले जू भले जानि, जैसे तन स्याम, वैसेई मन कारे ।।

—गोविंदस्वामी

[लज्जिता]

नागरि छाँड़ि दै चतुराई।
अंतरगत की प्रीति परस्पर, नाँहिन दुरत दुराई ।।
ज्यों-ज्यों ठानत मान मौन धरि, मुख रुख राखि बड़ाई।
त्यों-त्यों प्रगट होत उर अंतर, काँच-कलस जल-झाई ।।
भ्रकुटी भाव-भेद मिलवत सब, नागर सुघर सिखाई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर गुन-सागर, सैनन भली पढ़ाई ।।

—चतुर्भुजदास

[मानवती]

दौरि-दौरि आवति, मोहि मनावति, दाम खरच कछु मोल लई री ।
अचरा पसारति, मोहि कों खिजावति, तेरे बबा की कहा चेरी भई री ।।
जारी जा, दूती तू भवन आपुने, लाख बातन की एक बात कही री ।
'नंददास' प्रभु वे क्यों नहीं आवत, उनके पाँयन कहा महेंदी दई री ॥

—नंददास

शृंगारिक काव्य में नायक-नायिका के रूप वर्णन विषयक कथन प्रचुरता से किये जाते हैं। भक्त कवि अपने इष्टदेव में अपने मन को रमाने के लिए इस प्रकार के वर्णन किया करते हैं। रीति-काल में रूप-वर्णन की यह परिपाटी 'नख-शिख-कथन' के नाम से प्रसिद्ध हुई। अष्टछाप के भक्त कवियों ने काल, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी के अनेक

शब्द-चित्र अंकित किये हैं । इसके साथ ही साथ उन्होंने अपने उपास्य देव के विविध अंगों के पृथक्-पृथक् वर्णन भी किये हैं । इस प्रकार के वर्णन अष्टछाप के सभी कवियों ने किये हैं, किंतु सूर-काव्य में ये बहुतायत से मिलते हैं । रूप-वर्णन के पद काव्य-कला की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट हैं । स्थानाभाव से इसका केवल एक उदाहरण दिया जाता है--

गागरि नागरि लिऐं, पनघट तें चली घरहिं आवै ।
ग्रीवा डोलत, लोचन लोलत, हरि के चितहिं चुरावै ॥
टटकति चल, मटकि मुख मोर, बंकट भौंह चलावै ।
मनहुँ काम-सैना अँग सोभा, अंचल ध्वज फहरावै ॥
गात गयंद, कुच कुंभ, किंकिनी मनहुँ घंट घहरावै ।
मोतिन-हार जलाजल मानौं, खुभी दंत झलकावै ॥
मानहुँ चंद्र महावत मुख पर, अंकुस बेसरि लावै ।
रोमावली सुंड तिरनीलौ, नाभि सरोवर आवै ॥
पग जेहरि जंजीरनि जकर्यौ, यह उपमा कछु पावै ।
घट-जल झलकि, कपोलनि किनुका, मानों मदहिं चुरावै ॥
बेनी डोलत दुहुँ नितंब पर, मानहुँ पूँछ हलावै ।
गज सिरदार 'सूर' कौ स्वामी, देखि-देखि सुख पावै ॥

अष्टछाप की काव्य-कला—

ब्रज साहित्य में भाव पक्ष और कला पक्ष के रूप में दो प्रकार के कवियों की रचनाएँ मिलती हैं । भक्ति कालीन कवियों की रचनाओं में भाव पक्ष और रीति कालीन कवियों की कृतियों में कला पक्ष की प्रधानता है । अष्टछाप के कवि भक्ति-कालीन होने के कारण भाव पक्ष के कवि हैं, किंतु उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पर कलात्मकता की भी पुट है । यद्यपि स्वाभाविक कवि सीधी-सादी भाषा में ही अपने हृदयगत भावों को इस प्रकार व्यक्त कर सकता है, कि उसका कथन श्रोता अथवा पाठक के हृदय में सँमा जाता है; किंतु जब उसके कथन में कुछ कलात्मकता भी होती है । तब उसका और भी अधिक प्रभाव होता है । अवश्य ही इस प्रकार का कवि चेष्टापूर्वक कलात्मकता का प्रदर्शन नहीं करता है, बल्कि वह स्वाभाविक रूप से स्वयं ही उसके काव्य में आ जाती है । अष्टछाप के कवियों में सूरदास और नंददास की रचनाओं में स्वाभाविक कलात्मकता का अधिक पुट है; अन्य कवियों ने भक्त हृदय की सीधी-सादी भाषा में अपने मनोभावों को व्यक्त किया है ।

परमानंददास के निम्न लिखित पद से अष्टछाप के अधिकांश काव्य का स्वरूप-ज्ञान हो सकता है। इस पद में बतलाया गया है कि साज-शृंगार की अपेक्षा सीधी-सादी बात भगवान् को रुचिकर होती है—

काहे को ग्वालि सिंगार बनावै। सादिए बात गोपालहिं भावै॥
एक प्रीति तें सब गुन नीके। बिनु गुन अभरन सब ही फीके॥
कनकहिं नूपुर लेहु उतारी। पहलें बसन पहरि ब्रज-नारी॥
हरि नागर सब हिय की जानें। 'परमानंद' प्रभु हित की मानें॥

कलात्मक कथन में अलंकारों का सर्व प्रथम स्थान है। अष्टछाप की जिन रचनाओं में कलात्मकता दिखलायी देती है, उनमें अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अनेक अलंकारों का कथन किया है, किंतु अष्टछाप की रचनाओं में कुछ गिने-चुने अलंकार ही मिलते हैं। इनमें अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का विशेष उपयोग हुआ है। कुछ अलकारों के उदाहरण देखिए—

[अनुप्रास]

जागिऐ गोपाल लाल, आनँद-निधि नंद-बाल,
जसुमति कहै बार-बार भोर भयौ प्यारे।
नैन कमल-दल विसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
मदन ललित-बदन ऊपर कोटि वारि डारे॥
सुनत वचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल-जाल, दुख-कदंब टारे।
त्यागे भ्रम-फंद-द्वंद, निरखि कै मुखारबिंद,
'सूरदास' अति अनंद, मेटे मद भारे॥

—सूरदास

सुभ सरिता के तीर, धीर बलबीर गए तहँ।
कोमल मलय समीर, छबिन की महा भीर जहँ॥
कुसुम-धूरि धुंधरित, कुंज छबि-पुंजन छाई।
गुंजत मंजु मलिंद, बेनु जनु बजत सुहाई॥
इत महकत मालती चारु, चंपक चित चोरत।
उत घनसार तुसार, मिली मंदार झकोरत॥

अथवा—

नूपुर, कंकन, किंकिन, कर तल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग, एकहिं सुर जुरली॥
मृदुल मुरज-टंकार, तार-झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार, भँवर-गुंजार रली पुनि॥

—नंददास

[उपमा]

कीर नासा, इंद्र-धनु भ्रू, भँवर सी अलकावली।
अधर विद्रुम, बज्र-कन दाडिम किधौं दसनावली॥
खौर केसरि अति विराजत, तिलक मृग-मद कौ दियौ।
काम रूप विलोकि मोह्यौ, बास पद अंबुज कियौ॥
स्याम घन तन परम सुंदर, तड़ित बसन विराजई।
अँग-अंग भूषन सुरस ससि पूरन कला मनों भ्राजई॥
कमल मुख-कर, कमल लोचन, कमल मृदु पद सोहहीं।
कमल नाभि:, कमल सुंदर निरखि सुर-मुनि मोहहीं॥

—सूरदास

[उपमा और उत्प्रेक्षा]

मुख अरविंदन आगै, जल-अरविंद लगै अस।
भोर भए भवनन के दीपक मंद परत अस॥
मंजुल अंजुल भरि-भरि,पिय कों तिय जल-मेलहिं।
जनु अलि सों अरविंद-वृंद, मकरंदन खेलहिं॥
छिरकत हैं छवि छैल,जमुन-जल अंजुलि भरि-भरि।
अरुन कमल मंडली, फाग खेलत जनु रँग करि॥
रुचिर दृगंचल चंचल, अंचल में झलकत अस।
सरस कनक के कंजन, खंजन जाल परत जस॥

—नंददास

[सांग रूपक]

देखौ माई सुंदरता कौ सागर।
बुधि-विवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भँवर परत अँग-अंग॥

मीन नैन, मकराकृत कुंडल, भुज-बल सुभग भुजंग।
मुकुत-माल मिलि मानों सुर-सरि, द्वै सरिता लिऐं संग॥
मोर मुकुट, मनिगन आभूषन, कटि किंकिन, नख चंद।
मनु अडोल वारिधि में बिंबित राका-उड़गन वृंद॥
बदन चंद्र-मंडल की सोभा, अवलोकत सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत॥
देखि सुरूप सकल गोपीजन, रहीं निहारि-निहारि।
तदपि 'सूर' तर सकीं न सोभा रहीं प्रेम पचिहारि॥
— सूरदास

[स्वभावोक्ति]

रही री ग्वालि जोबन मदमाती।
मेरे छगन मगन से लालहिं, कत लै उछंग लगावति छाती॥
खींजत तें अब ही राख्यौ है, नान्हीं-नान्हीं उठत दूध की दाँती।
खेलन दै, घर जाउ आपुने, डोलति कहा इतौ इतराती॥
उठि चली ग्वालि, लाल लागे रोवन, तब जसुमति लाई बहु भाँती।
'परमानंद' ओट दै अंचर, फिरि आई नैननि मुसकाती॥

अथवा—

देखि री रोहनी मैया, ऐसे हैं बल भैया,
जमुना के तीर मोकों चुचुकाय बुलायौ।
सुबल श्रीदामा साथ, हँसि-हँसि मिलवें बात,
आपु डरयौ, और मोहूँ डरपायौ॥
जहाँ-तहाँ बोलें मोर, चितवै तिन की ओर,
भाजो रे, भाजो भैया, उहि देखो आयौ।
आपु चढे तरु पर, मोहि छाँड्यौ धर तर,
धर-धर छाती करै, घरु हूँ कों धायौ॥
लपकि लियौ उठाय, उर सों रही लगाय,
मेरौ री मेरौ, कहि हियौ भरि आयौ॥
'परमानंद' बोलैं द्विज वेद-मंत्र पढ़ि-पढ़ि,
बछिया की पूँछ सों हाथ दिवायौ॥
—परमानंददास

काव्य-कला और भक्ति-भावना—

अष्टछाप के काव्य में काव्य-कला का उत्कृष्ट रूप दिखलायी देता है, किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, इसका उद्देश्य काव्य-कला का प्रदर्शन करना नहीं है। अष्टछाप के कवि भक्त कवि थे, और उन्होंने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही अपने काव्य की रचना की थी। उनके भक्तिपूर्ण काव्य में काव्य-कला के दर्शन भी कहीं-कहीं पर हो जाते हैं, किंतु यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनको काव्य-कला का आग्रह नहीं था। कुछ आलोचकों ने सूर-काव्य में काव्य-कला का आग्रह बतलाया है और अपने कथन की पुष्टि में वे उनके दृष्टकूट पदों को उपस्थित करते हैं। हम गत पृष्ठों में बतला चुके हैं कि सूरदास के दृष्टकूट पद विशिष्ट उद्देश्य से रचे गये थे। इनको उनकी सामान्य काव्य-शैली में नहीं रखा जा सकता है। निस्संदेह सूर-काव्य में काव्य-कला के समस्त गुण विद्यमान हैं, किंतु ये उनकी सप्रयास चेष्टा पर आधारित नहीं हैं, प्रत्युत उनके स्वाभाविक कवित्व के फल स्वरूप हैं। यही बात नंददास और परमानंददास के काव्य के संबंध में भी कही जा सकती है। अन्य कवियों के काव्य पर काव्य-कला का इतना अधिक प्रभाव दिखलायी नहीं देता है।

अष्टछाप के काव्य में काव्य-कला का आग्रह न होने पर भी ध्वनि, उक्ति और कल्पना के रूप में इसमें वे सभी गुण विद्यमान हैं, जिनके कारण कोई काव्य प्रशंसनीय कहा जा सकता है और जो श्रोता अथवा पाठक के मन पर अपना स्थायी प्रभाव जमा सकता है। अष्टछाप के काव्य में कहीं-कहीं पर काव्य-कला और भक्ति-भावना का द्वंद सा होता हुआ भी दिखलायी देता है। काव्य-कला का धारावाही प्रवाह अष्टछाप की भक्ति-भावना रूपी सुदृढ़ चट्टान से टकराता है और उसे अपने प्रखर प्रवाह में बहा ले जाना चाहता है, किंतु उसे सफलता प्राप्त नहीं होती। भक्ति-भावना की सुदृढ़ता काव्य-कला के असंयत प्रवाह का पग-पग पर तिरस्कार करती हुई दिखलायी देती है।

अष्टछाप-काव्य का श्रेणी-विभाग—

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अधिक परिमाण में कविता करने वाला कवि उत्तम रचना नहीं कर पाता, किंतु अष्टछाप की काव्य-रचना में इसके विपरीत बात दिखलायी देती है। अष्टछाप के जिस कवि ने जितनी अधिक रचना की है, उतनी ही अधिक सुंदर उसकी कविता भी है, और जिस कवि ने अधिक परिमाण में रचना नहीं की है, उसकी कविता भी उतनी सुंदर नहीं है। उदाहरणार्थ सूरदास, परमानंददास और नंददास

की रचनाएँ काव्य-परिमाण और काव्य-महत्व दोनों दृष्टियों से बढ़ी-चढ़ी हैं। गोविंदस्वामी और छीतस्वामी की रचनाएँ जितने कम परिमाण में मिलती हैं, उतना ही कम उनका काव्य-महत्व भी है। कुंभनदास, कृष्णदास और चतुर्भुजदास की रचनाएँ काव्य-परिमाण और काव्य-महत्व दोनों दृष्टियों से मध्यम श्रेणी की हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास का महत्व सबसे अधिक है। वे कुंभनदास के अतिरिक्त अष्टछाप के समस्त कवियों में वयोवृद्ध और पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक सेवकों में से थे। उन्होंने महाप्रभु बल्लभाचार्य जी और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सत्संग और उपदेश का पूरा लाभ उठाया था। वे कवि होने के अतिरिक्त संप्रदाय के सिद्धांत और रहस्य से पूर्णतया परिचित थे। इस प्रकार वे अष्टछाप के कवियों में गुरु वत् माने जाते थे। वार्ता से ज्ञात होता है कि उन्होंने नंददास को नियमित रूप से शिक्षा दी थी और कृष्णदास उनके काव्य का अनुकरण करने की चेष्टा किया करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने सहस्रों पदों की रचना की थी, जो काव्य-महत्व में भी सर्वोत्तम हैं। इन सब बातों से सिद्ध है कि अष्टछाप में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है।

वार्ता से ज्ञात होता है कि सूरदास और परमानंददास ने भागवत के आधार पर सहस्रों पदों की रचना की थी, जिनके कारण वे 'सागर' कहलाते थे। सूरदास के सहस्रों पद अब भी प्रसिद्ध हैं, किंतु परमानंददास के अधिकांश पदों से हिंदी-जगत् परिचित नहीं है, अतः उनका यथार्थ महत्व समझने में भी भूल की गयी है। अब तक की खोज में उनके प्रायः दो सहस्र पद प्राप्त हो चुके हैं, जो काव्य-महत्व में सूर-काव्य से कम, किंतु अष्टछाप के अन्य कवियों की रचनाओं से बढ़कर हैं। हमारे मतानुसार अष्टछाप में सूरदास के उपरांत परमानंददास का स्थान है।

अष्टछाप में सूरदास और परमानंददास के उपरांत नंददास की रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। काव्य-परिमाण में नंददास की रचनाएँ परमानंददास के उपलब्ध पद-साहित्य से कुछ अधिक हैं। उनकी कुछ रचनाओं में परमोच्च श्रेणी का कवित्व है, और कुछ रचनाएँ साधारण कोटि की हैं, इसलिए सब मिला कर उनका काव्य-महत्व परमानंददास से कुछ कम है। अष्टछाप के शेष पाँच कवियों में क्रमशः कुंभनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास की रचनाएँ मध्यम श्रेणी की और गोविंदस्वामी एवं छीतस्वामी की साधारण श्रेणी की हैं। इन पाँचों कवियों की रचनाएँ पूर्वोक्त तीनों कवियों की रचनाओं के समान नहीं हैं, किंतु अन्य भक्त कवियों की तुलना में इनका काव्य भी महत्वपूर्ण है।

पंचम परिच्छेद

अष्टछाप का संगीत

१. अष्टछाप का गीति-काव्य

गीति-काव्य का उद्देश्य—

अष्टछाप के अधिकांश काव्य की रचना कीर्तन के लिए हुई थी, इसलिए यह गेय काव्य है। गेय काव्य होने के कारण इसमें शब्द और भाव के साथ स्वर-साधना का भी सामंजस्य है। इस प्रकार के काव्य को आजकल की परिभाषा में गीति-काव्य कहते हैं। यदि अष्टछाप के काव्य को भी गीति-काव्य कहा जाय, तब इसे साधारण गीति-काव्य की अपेक्षा अत्यंत उच्च कोटि का मानना होगा। गीति-काव्य के लिए शांत, श्रृंगार और वात्सल्य उपयुक्त रस माने गये हैं। अष्टछाप के काव्य में उक्त रसों का पूर्ण परिपाक है, अतः यह परमोच्च श्रेणी का सफल गीति-काव्य कहा जा सकता है।

इस प्रकार के गीति-काव्य का चरम उद्देश्य आत्मा-कल्याण और परमानंद की प्राप्ति होता है। यही उद्देश्य अष्टछाप के भी काव्य का था। "कवि अपने आध्यात्मिक विकास के लिए चित्त-वृत्ति के संयम से गीति-काव्य में अपने कल्याणकारी उद्गारों को व्यक्त करता है। उसे संसार से कोई विशेष संपर्क नहीं रखना पड़ता। आत्म-संतोष के लिए भक्ति-भाव अथवा दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों में विह्वल होकर वह गीत की सृष्टि करता है। उसे गीत में एक अलौकिक ज्योति की अनुभूति होती रहती है और उसके अंतःकरण में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें प्रसारित होने लगती हैं। वह अलौकिक आनंद में तन्मय हो जाता है। इस प्रकार के गीत पदों के रूप में मिलते हैं† ।"

अष्टछाप के पदों में भावों की अभिव्यक्ति और संगीत की झंकार का अपूर्व सामंजस्य है। "भावों के सौन्दर्य में संगीत खिल उठता है और संगीत के सौन्दर्य में भाव। भावों को यह सौन्दर्य काव्य से मिलता है, अतएव संगीत के सौन्दर्य में काव्य पर्याप्त अभिवृद्धि करता है और काव्य को भी संगीत की आवश्यकता बनी ही रहती है। यही तो कारण है कि हमारा पुरातन काव्य गेय है † ।"

---

† हिंदी गीति-काव्य

गीति-काव्य की परंपरा—

पाश्चात्य साहित्य की तरह भारतीय साहित्य में गीति-काव्य की कोई पृथक् सत्ता नहीं थी, बल्कि अति प्राचीन काल से प्रायः समस्त काव्य गेय ही होता है। कवि और गायक अथवा काव्य और गीत में कोई विशेष भेद नहीं समझा जाता था। भारतीय साहित्य में महर्षि बाल्मीकि को आदि कवि और उनकी रामायण को आदि काव्य होने का गौरव प्राप्त है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि महर्षि बाल्मीकि की यह अमर रचना सर्व प्रथम लव-कुश द्वारा गाये जाने के लिए प्रस्तुत की गयी और परमोत्कृष्ट गीति-काव्य के रूप में ही इसका लोक में प्रचार हुआ। रामायण के पश्चात् संस्कृत भाषा में जो अनेक गेय काव्य रचे गये, उनमें कालिदास के 'मेघदूत' का विशिष्ट स्थान है। कुछ आलोचकों के मतानुसार इन गेय काव्यों को गीति-काव्य नहीं कहा जा सकता, किंतु जयदेव का 'गीत गोविंद' तो वर्तमान परिभाषा के अनुसार भी गीति-काव्य है। जयदेव कवि बारहवीं शताब्दी में हुए थे, इसलिए कुछ लोग भारतीय गीति-काव्य की वास्तविक परंपरा इसी काल से मानते हैं।

हिंदी साहित्य में आरंभ से ही गेय काव्य की प्रचुरता रही है। अपभ्रंश भाषा से हिंदी के नव निर्माण के समय में ही सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों द्वारा रचा हुआ जो गेय काव्य उपलब्ध हुआ है, वह विभिन्न राग-रागनियों में कथित है। सिद्धों के पश्चात् नाथ पंथी योगियों की कृतियों में भी गेय काव्य की प्रधानता है। इन सिद्धों में गोरखनाथ की रचनाएँ प्रमुख हैं।

हिंदी के प्राचीन गेय काव्य का उत्कृष्ट स्वरूप हमारा पद-साहित्य है, जो काव्य-सौष्ठव के साथ ही साथ संगीत-सौन्दर्य से भी परिपूर्ण है। इस पद-साहित्य को अष्टछाप-कवियों की रचनाओं के कारण विशेष गौरव प्राप्त हुआ है। अष्टछाप से पूर्व पद-रचना करने वाले कवियों में विद्यापति और कबीर मुख्य हैं। जिस अर्थ में संस्कृत गीति-काव्य जयदेव से आरंभ हुआ है, उसी अर्थ में हिंदी गीति-काव्य विद्यापति से आरंभ हुआ है।

कीर्तन में गीति-काव्य की पूर्णता—

अष्टछाप के सभी महानुभाव प्रमुख कीर्तनकार थे। कीर्तन में काव्य, गायन, वादन और नृत्य का समावेश है, अतः अष्टछाप के महानुभाव इन सभी कलाओं के ज्ञाता थे। वे अपने पदों की वाणियों अर्थात् शब्दों की रचना करते थे और स्वयं ही स्वर बद्ध कर उनका गायन भी करते थे। इस प्रकार कीर्तन के लिए रची हुई उनकी रचनाओं में काव्य और संगीत का चमत्कार होने के कारण उनमें गीति-काव्य की पूर्णता है।

२. भारतीय संगीत का इतिहास

अध्ययन की आवश्यकता—

साधारण काव्य में छंद एक आवश्यक तत्व है, किंतु पद शैली के गीति-काव्य में छंद की अपेक्षा राग-रागनियों का महत्व माना गया है। अष्टछाप का अधिकांश काव्य पद शैली में रचा गया है, इसलिए राग-रागनियों के कारण इसका संगीतशास्त्र से भी घनिष्ट संबंध है। अष्टछाप का अब तक का अध्ययन भक्त और कवि के रूप में हुआ है, गायक और संगीतज्ञ के रूप में नहीं। वास्तव में देखा जाय तो अष्टछाप के इस रूप को समझे बिना उसका यथार्थ परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। अष्टछाप का संगीत एक स्वतंत्र और गहन विषय है, जिसका यथावत् ज्ञान संगीतशास्त्र के अध्ययन और अनुभवी कलावंतों के सत्संग से ही हो सकता है। अष्टछाप के वैज्ञानिक अध्ययन के इस युग में अब हमको इस दिशा में भी प्रगति करनी चाहिए।

भारतीय संगीत की परंपरा—

अष्टछाप के संगीत का परिचय प्राप्त करने के लिए भारतीय संगीत की परंपरा पर दृष्टि डालनी होगी। भारतीय संस्कृति में अत्यंत पुरातन युग से संगीत का महत्व माना गया है। सामवेद के कारण वैदिक काल में ही संगीत का गौरवपूर्ण स्थान था। कहते हैं संगीत का प्रयोग गंधर्वों द्वारा होता था, इसलिए उसे 'गांधर्व विद्या' भी कहा गया है। उस काल में संगीत का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति था, आजकाल की तरह मनोरंजन नहीं।

संगीत का आधार नाद है, जो ब्रह्म का स्वरूप है। नाद का आदि स्थान भगवान् शिव का डमरू और उसका अस्तित्व वेद से भी पूर्व का माना गया है। नाद को कंठ से या वाद्य यंत्रों से प्रकट करते हैं। आचार्यों ने नाद के नियमन के लिए जो सिद्धांत निश्चित किए, वे कालांतर में एक महत्वपूर्ण शास्त्र के रूप में परिणित हो गये। अन्य शास्त्रों की तरह संगीत शास्त्र भी भारतीय ऋषियों की परिपक्व बुद्धि का परिचायक है। वैदिक काल के तीन स्वरों की उत्तरोत्तर वृद्धि के फल स्वरूप संगीत के सप्त स्वर हैं, जो संगीत-शास्त्र के मूलाधार हैं।

यद्यपि संगीत शास्त्र के आचार्यत्व के लिए भगवान शंकर और मुनिराज नारद से लेकर प्रागैतिहासिक काल के कितने ही आचार्यों का नामोल्लेख किया जाता है, तथापि नाट्य शास्त्र और काव्य शास्त्र की तरह संगीत शास्त्र के भी

इतिहास प्रसिद्ध प्रथम आचार्य होने का गौरव महामुनि भरत को प्राप्त है, जिनकी विख्यात रचना 'नाट्य शास्त्र' में संगीत शास्त्र से संबंधित नाद, श्रुति, स्वर, मूर्च्छना और ग्राम आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। भारतीय संगीत में गायन, वादन और नृत्य तीनों का विधान है, अतः भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में उक्त तीनों कलाओं का विस्तृत विवेचन किया है।

बौद्ध काल में अन्य कलाओं की भाँति संगीत कला की उन्नति नहीं हुई, फिर भी इसके स्वाभाविक विकास में कोई विशेष बाधा भी नहीं आयी। गुप्त राजाओं के राज्य काल में संगीत को विशेष रूप से राज्याश्रय प्राप्त हुआ, जिसके कारण संगीत कला और संगीत शास्त्र की विशेष उन्नति हुई। सुप्रसिद्ध सम्राट चंद्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त अपने समय के महान् संगीतज्ञ थे। गुप्त साम्राज्य के अनंतर हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही साथ संगीत की भी उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। सम्राट हर्षवर्धन और महाराजा भोज के राज-दरबारों में संगीत कला का ही अभ्युदय नहीं हुआ, बल्कि उनके आश्रय के कारण संगीत-रीति के भी अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ।

सं० १२५० के लगभग देवगिरि में सारंगदेव नामक संगीत के एक सुप्रसिद्ध आचार्य हुए, जिनका रचा हुआ 'संगीत-रत्नाकर' संगीत शास्त्र का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। उसी समय के लगभग बंगाल में महाकवि जयदेव हुए, जिनकी विख्यात् रचना 'गीत-गोविंद' अपनी संगीत-लहरी और काव्य-माधुरी के कारण भारतीय गीत-काव्य की अमर कृति मानी जाती है। जयदेव और शारंगदेव की रचनाओं से सिद्ध है कि उस समय संगीत का देश-व्यापी प्रचार था और गीति-काव्य एवं संगीत शास्त्र दोनों की सांगोपांग उन्नति हुई थी।

उस युग के संगीत का यथार्थ स्वरूप जानने का इस समय कोई साधन नहीं है। मुसलमानी युग में प्राचीन संगीत ग्रंथ नष्ट कर दिये गये थे। जो ग्रंथ आजकल उपलब्ध हैं, उनको भी कई शताब्दियों तक विद्वानों ने कंठस्थ कर सुरक्षित रखा था। जब मुसलमान भारतीय जीवन में घुल मिल गये, तब इन ग्रंथों को लिपिबद्ध किया गया, किंतु इन उपलब्ध ग्रंथों से प्राचीन हिंदू संगीत की यथार्थ रूप-रेखा ज्ञात नहीं होती है।

भारतीय संगीत का विकास—

संगीत संबंधी उपलब्ध ग्रंथ-सामग्री के आधार पर भारतीय संगीत के विकास पर जो क्षीण सा प्रकाश पड़ता है, उसका यहाँ पर परिचय दिया जाता है। भारतीय संगीत का सबसे प्राचीन रूप वैदिक संगीत है, जिसके ध्वंशावशेष साम गान के रूप में आज-कल भी कहीं-कहीं पर सुनायी दे जाते हैं। आरंभ में वैदिक संगीत में केवल एक स्वर था, जिसका विकास होने पर कालांतर में सात स्वर माने गये। वैदिक युग के साम गान में उच्चारण, मात्रा, छंद, लय और स्वर संबंधी कठिन नियमों के पालन की आवश्यकता होती थी। इसके साथ ही साथ अंगुली और हस्त के संचालन द्वारा मात्रा, स्वर और ताल की रक्षा का कठोर विधान भी था। साम गान की शैली इतनी जटिल और सूक्ष्म थी कि वह कतिपय साधकों के अतिरिक्त जन साधारण के लिए दुर्गम हो गयी और उसका स्थान उस समय के लोक संगीत ने लिया, जो बाद में गांधर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रम के आरंभ में महामुनि भरत के समय तक वैदिक संगीत के स्थान पर यही गांधर्व संगीत प्रचलित हो चुका था। यही कारण है कि भरत के 'नाट्य शास्त्र' में साम गान का विवेचन नहीं किया गया है।

महामुनि भरत के 'नाट्य शास्त्र' में जिस संगीत पद्धति का उल्लेख है, वह भी सात-आठ सौ वर्ष के विकास के उपरांत लुप्त होने लगी और उसके स्थान पर तत्कालीन देशी संगीत प्रचलित होने लगा। विक्रम की ८ वीं सदी के लगभग 'बृहद्देशी' ग्रंथ के रचयिता मतंग मुनि ने अपने समय के देशी संगीत का परिष्कार किया था। इसके उपरांत जो संगीत पद्धति प्रचलित हुई, वही शारंगदेव के समय में विद्यमान थी। उस समय राग संगीत का विकास हो रहा था, जो अष्टछाप के समय में पूर्ण अभ्युदय को प्राप्त था। इसी राग संगीत का एक विशिष्ट रूप 'ध्रुपद' शैली का गायन है, जो अष्टछाप के समय खूब प्रचलित था।

यदि हम प्राचीन वैदिक युग की बात छोड़ भी दें, तब भी यह कहा जा सकता है कि महामुनि भारत से शारंगदेव के समय तक भारतीय संगीत का कई रूपों में विकास हुआ था। भारत से शारंगदेव तक का काल एक सहस्र वर्ष से भी अधिक का होता है। उस काल में भारतीय संगीत की अपूर्व उन्नति हुई थी, किंतु उपयुक्त साधनों के अभाव में उस काल के संगीत का क्रमबद्ध इतिहास ज्ञात नहीं होता है।

भारतीय संगीत की ध्रुपद शैली—

इतिहास से प्रकट है कि अकबरी दरबार के सुप्रसिद्ध गायक तानसेन के समय में भारतीय संगीत की एक विशिष्ट शैली प्रचलित थी, जो 'ध्रुपद' के नाम से विख्यात है। तानसेन इस शैली के आचार्य थे और अकबर, मानसिंह प्रभृति अनेक गण्यमान जन इसके प्रशंसक और मर्मज्ञ थे। इससे पूर्व शारंगदेव के समय में ध्रुपद शैली प्रचलित थी या नहीं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। ऐसा समझा जाता है कि ध्रुपद प्राचीन भारतीय शैली से भिन्न न होकर उसी का विकसित रूप है। कहते हैं, प्राचीन 'ध्रुवा' गीति से संबंधित होने के कारण इसका नाम 'ध्रुपद' पड़ा है।

गायन कला का कंठ और श्वांस की प्रक्रिया से घनिष्ट संबंध है। जिस गायक का श्वांस जितना लंबा होगा, उसका गायन भी उतना ही अच्छा होगा। ध्रुपद के गायक का कंठ स्थिर रहता है, अर्थात् गायन के समय उसके कंठ में कंपन नहीं होता है। ध्रुपद के अभ्युदय काल में ही मुसलमान संगीतज्ञों ने ख्याल-टप्पा की पृथक् गायन शैलियाँ प्रचलित की थीं। इन नवीन शैलियों में ध्रुपद की तरह गंभीरता नहीं है। इन शैलियों के गायक को ध्रुपद गायन-शैली के विरुद्ध अपना गला फिराना पड़ता है, जिससे गायक के स्वर में कंपन होता है। इस प्रकार के कंपन का ध्रुपद गायन में निषेध है, अतः ख्याल-टप्पा गाने वालों का कंठ ध्रुपद के योग्य नहीं रहता है। ध्रुपद में स्थायी, अंतरा और भोग तीन खंड होते हैं, जब कि ख्याल में स्थायी और अंतरा केवल दो खंड ही होते हैं। ध्रुपद में गंभीरता और ख्याल में चपलता है। ध्रुपद और ख्याल-टप्पा आदि की गायन-शैलियों में यह अंतर है।

ध्रुपद और अष्टछाप—

ध्रुपद में राग, तान और ताल की नियमित योजना के साथ छंदबद्ध अथवा तुकांत कविता का गायन किया जाता है। इसके गायन के लिए संस्कृतनिष्ठ भाषा में कथित शृंगार रस पूर्ण काव्य उत्तम वाणी एवं देव-मंदिर अथवा देव-मूर्ति का सान्निध्य उत्तम स्थल माने गये हैं। इसके लिए जिन अन्य उपयुक्त स्थानों का निर्देश है, उनमें उद्यान, जलाशय, कुंज, गोष्ठी और रसिक-समाज मुख्य हैं।

ध्रुपद-गायन के ये आवश्यक उपादान अष्टछाप के कीर्तनकारों से संबंधित और उनके अनुकूल थे। अष्टछाप के महानुभाव गोवर्धन के प्राकृत्तिक

स्थलों पर रहा करते थे और संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा में शृंगार-भक्ति की रचनाएँ कर श्रीनाथ जी के सन्मुख उनका गायन किया करते थे। इन सब बातों से ऐसा अनुमान होता है कि अष्टछाप के महानुभाव भी ध्रुपद शैली के गायक होंगे।

वार्ता से ज्ञात होता है कि तानसेन, अकबर, मानसिंह आदि उस समय के सभी ध्रुपद शैली के संगीतज्ञ अष्टछाप के महानुभावों से निकट संपर्क रखते थे। वे सब अष्टछाप की गायन कला के प्रशंसक भी थे। इससे भी यही समझा जा सकता है कि अष्टछाप की गायन कला भी ध्रुपद शैली की ही होगी। यदि शैली में कुछ भिन्नता हो, तब भी यह निश्चित है कि वे सब ध्रुपद की गायन-शैली के ज्ञाता अवश्य थे।

हिंदुस्थानी संगीत—

पहले लिखा जा चुका है कि शारंगदेव के समय तक शुद्ध भारतीय संगीत पद्धति का प्रचार था। इसके उपरांत मुसलमानों के मेल-जोल के कारण भारतीय संगीत पर विदेशी रागों का भी प्रभाव पड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय एवं यावनी मिश्रित गायन-पद्धति प्रचलित हुई, जिसको आजकल हिंदुस्थानी अथवा उत्तर भारतीय संगीत कहते हैं। प्राचीन भारतीय गायन-पद्धति का अवशेष आजकल भी दक्षिण के कर्णाटक आदि प्रदेशों में विद्यमान है, जिस पर विदेशी प्रभाव बहुत कम पड़ा है। यह पद्धति कर्णाटकी अथवा दक्षिण भारतीय संगीत के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतीय संगीत पर विदेशी प्रभाव सर्व प्रथम चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में अमीर खुसरो के समय में प्रकट हुआ। खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिंदी के विद्वान् और कवि होने के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध गायक और गान विद्या के आचार्य थे। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से भारत और फारस के रागों के मिश्रण द्वारा कितने ही नवीन रागों की उद्भावना की थी। उनके चलाये हुए नवीन रागों में से 'ईमन' और 'शहाना' आदि ५-६ राग आजकल भी प्रचलित हैं। कहते हैं 'ख्याल' और 'कव्वाली' का गायन उन्हीं ने निकाला था, और वीणा के आधार पर सितार नामक वाद्य यंत्र का भी उन्हीं ने आविष्कार किया था। खुसरो का जन्म सं० १३१२ में और देहावसान सं० १३८२ में हुआ था। अपने ७० वर्ष के जीवन-काल में उन्होंने गुलाम, खिलजी और तुगलक जैसे तीन राजवंशों के ११ सुलतानों का राज्यकाल देखा था;

उनमें से ७ सुलतानों की उन्होंने स्वयं सेवा की थी। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना भी की थी। गयासुद्दीन बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुग़लक जैसे विभिन्न वंशों के सुलतान चाहें आपस में लड़ते रहे, किंतु उन्होंने समान रूप से अमीर खुसरो का आदर किया था।

खुसरो के समय में ही अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में संगीत कला का एक विख्यात आचार्य गोपाल नायक भी था, जिसको सुलतान दक्षिण से बड़े आदर पूर्वक लाया था। इतिहास में अलाउद्दीन एक अत्याचारी शासक के नाम से प्रसिद्ध है, किंतु खुसरो और गोपाल नायक जैसे गुणी कलाकारों के सन्मान के कारण उसकी गुण-ग्राहकता और कला-प्रियता भी ज्ञात होती है।

खुसरो के समय में जो मिश्रित गायन पद्धति प्रचलित हुई, उसी का विकसित रूप ख्याल की गायकी है। ख्याल के बाद टप्पा और फिर ठुमरी की गायन-शैलियाँ मुसलमानी शासन-काल में प्रचलित हुईं और मुसलमानों द्वारा ही उनका प्रचार हुआ। तानसेन स्वयं ध्रुपद शैली के गायक थे। उनके वंशजों ने भी ध्रुपद के अतिरिक्त ख्याल-टप्पा आदि का गायन नहीं किया। कहते हैं, कि तानसेन की पुत्री के वंशजों ने ख्याल शैली का अधिक प्रचार किया था। इसके संबंध में निम्न लिखित अनुश्रुति प्रचलित है।

कहते हैं कि तानसेन के वंशज ध्रुपद शैली के गायन में और उनकी पुत्री के वंशज वीणा के वादन में प्रसिद्ध थे। बादशाही दरबार का यह नियम था कि गायन के समय गायक के पीछे वीणा-वादक बैठता था। महम्मदशाह रंगीले के दरबार में तानसेन की पुत्री का वंशज न्यामत खाँ उपनाम 'सदारंग' वीणा का विख्यात वादक था, किंतु नियमानुसार उसे ध्रुपद गायक के पीछे बैठना पड़ता था। इस प्रकार बैठने में उसको अपना अपमान ज्ञात होता था। इस अपमान के प्रतिकार के लिए उसने बहुत से ख्यालों की रचना की और लोक में उनका प्रचार किया।

दिल्ली दरबार के अतिरिक्त अन्य मुसलमानी शासकों ने भी ख्याल की उन्नति में योग दिया था। जौनपुर के पठान शासक हुसैनशाह संगीत के आचार्य और प्रसिद्ध गायक थे। उन्होंने ख्याल शैली की दूसरी परिपाटी प्रचलित कर कई नवीन रागों की भी उद्भावना की थी। पंजाब के शोरी मियाँ ने टप्पा का प्रचार किया और अवध के नवाब वाजिदअली ने ठुमरी प्रचलित की। इस प्रकार हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों के प्रयत्न से वर्तमान हिंदुस्थानी संगीत का अधिक प्रचार हुआ है।

३. अष्टछाप कालीन भारतीय संगीत का दिग्दर्शन

अष्टछाप के समय में संगीत के केन्द्र—

अष्टछाप के समय में ग्वालियर, व्रज और अकबरी दरबार संगीत के प्रधान केन्द्र थे। ग्वालियर के हिंदू राज्य में प्राचीन समय से ही संगीत को प्रश्रय दिया गया था और पंद्रहवीं शताब्दी से तो ग्वालियर संगीत कला का एक विख्यात केन्द्र हो गया। ग्वालियर के तोमर नरेश स्वयं संगीत शास्त्र के उन्नायक और ज्ञाता थे। उन्होंने ध्रुपद की प्राचीन गायन पद्धति के परिष्कार और प्रचार की बड़ी चेष्टा की थी। ग्वालियर में महम्मद गौस नामक एक सूफी साधु संगीत कला और गायन विद्या के बड़े आचार्य हो गये हैं। वे संगीत सम्राट तानसेन के विद्या गुरु थे। स्वयं तानसेन का भी ग्वालियर से घनिष्ट संबंध था। आरंभ में वृंदावन के विख्यात संगीताचार्य स्वामी हरिदास से संगीत की शिक्षा प्राप्त कर तानसेन ग्वालियर में महम्मद गौस के शिष्य हो गये थे। मृत्यु के अनंतर भी तानसेन की समाधि ग्वालियर में महम्मद गौस की समाधि के पास बनायी गयी, जहाँ पर आज तक समस्त देश के सैकड़ों कलावंत प्रति वर्ष उस अमर कलाकार के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्रित होते हैं।

इस प्रकार अष्टछाप के समय में ग्वालियर संगीत विद्या और संगीतज्ञों का एक प्रधान केन्द्र था। अबुलफजल ने अकबरी दरबार के जिन ३६ दरबारी गवैयों और कलावंतों के नाम लिखे हैं, उनमें से १५ अकेले ग्वालियर के थे। तानसेन उन गवैयों में प्रमुख और अकबर के नवरत्नों में से एक थे। तानसेन के गुरु-भाई बेजू बावरा यद्यपि गुजरात में उत्पन्न हुए थे, तथापि गान विद्या की आरंभिक शिक्षा उनको ग्वालियर में प्राप्त हुई थी। इसके बाद वे स्वामी हरिदास के भी शिष्य हुए थे।

अष्टछाप के समय में संगीत कला का दूसरा केन्द्र व्रज था, जहाँ वृंदावन, गोकुल और गोवर्धन के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचलित कीर्तन में संगीत की साधना होती थी। भक्ति काल के आरंभ में श्री चैतन्य महाप्रभु के उपदेश से बंगाल में हरिनाम-संकीर्तन की जो संगीत-लहरी उमड़ी थी, उसका प्रवाह वृंदावन में भी आया था। यद्यपि चैतन्य महाप्रभु स्वयं वृंदावन में अधिक समय तक नहीं रहे, तथापि उनके प्रमुख शिष्यों ने वहाँ पर स्थायी

निवास बना कर, अपने गुरु के आदर्श का खूब प्रचार किया था। चैतन्य महाप्रभु मिथिला के हिंदी कवि विद्यापति की लोकोत्तर आनंददायिनी रचनाओं का गायन कर आनंद-विभोर हो जाते थे। विद्यापति ने पंद्रहवीं शताब्दी में संगीत और काव्य-कला से ओत-प्रोत पदावली की रचना द्वारा हिंदी गीति-काव्य की जिस नवीन शैली का प्रचलन किया था, उसका विशेष प्रचार श्री चैतन्य और उनके शिष्यों द्वारा प्रायः एक शताब्दी पश्चात् हुआ। चैतन्य के वृंदावन निवासी शिष्यों द्वारा विद्यापति की रचनाओं का गायन होता था, इसलिए ब्रज के कवियों में भी उक्त शैली का प्रचार था।

एक ओर वृंदावन में बंग और मिथिला की संगीत धारा प्रवाहित हो रही थी, तो दूसरी ओर वहीं पर ब्रज के महात्माओं द्वारा शुद्ध भारतीय गायन पद्धति का भी संरक्षण हो रहा था। वृंदावन में उन दिनों एक विरक्त वैष्णव भक्त स्वामी हरिदास विद्यमान थे, जो संगीत शास्त्र के महान आचार्य और विलक्षण प्रतिभा संपन्न गायक थे। उनके शिष्यों में तानसेन, बैजू बावरा और गोपालराय जैसे विख्यात संगीतज्ञ थे। दीपक राग के तानसेन, मेघ राग के बैजू बावरा और मालकोष राग के गोपालराय अद्वितीय गायक थे और वे सब उस विद्या-वैभव के लिए स्वामी हरिदास के ऋणी थे। स्वामी हरिदास की गान विद्या का ऐसा आकर्षण था कि देशाधिपति अकबर भी गुप्त रीति से उनकी कला का रसास्वादन करने वृंदावन जाते थे।

वृंदावन के अतिरिक्त ब्रज में गोकुल और गोवर्धन भी संगीत के केन्द्र थे, जहाँ पुष्टि संप्रदाय के भक्तों द्वारा कीर्तन के रूप में संगीत की साधना होती थी। अष्टछाप का स्थायी निवास गोवर्धन था, वहीं पर श्रीनाथजी के मंदिर में वे कीर्तन किया करते थे। उनके कीर्तन का सुखानुभव करने के लिए काव्य और संगीत के अनेक कलाकार भी समय-समय पर गोवर्धन आया करते थे।

अष्टछाप के समय में अकबरी दरबार तो समस्त विद्याओं और कलाओं का प्रमुख केन्द्र बना हुआ था। अकबर की गुण-ग्राहकता के कारण अन्य कलाकारों की तरह संगीत शास्त्र और गान विद्या के अनेक विद्वान उनके आश्रय में रहते थे। अकबर और उनके सभी प्रमुख दरबारी गान विद्या के प्रशंसक और आश्रयदाता ही नहीं थे, वरन् वे स्वयं इस कला में पारंगत थे। कहते हैं सम्राट अकबर स्वयं नक्कारा बजाने में बड़े निपुण थे। उनकी आविष्कृत नक्कारे की कुछ नवीन गतें आज तक 'अकबरी' के नाम से प्रसिद्ध

हैं। अकबर के प्रमुख सेनापति महाराजा मानसिंह स्वयं गायक और ध्रुपद शैली के बड़े जानकार थे। कहते हैं कि दरबारी ढंग का गायन उन्होंने ही प्रचलित किया था। अकबरी दरबार के कलाकारों के शिरोमणि तानसेन गान विद्या के अपूर्व विद्वान और गवैये थे। तानसेन ने भी प्राचीन रागों के कुछ नवीन रूपों का आविष्कार किया था। मल्हार राग का एक नवीन रूप 'मियाँ की मल्हार' उन्हीं की उपज बतलायी जाती है और 'दरबारी कानड़ा' नामक एक नवीन राग उन्हीं के द्वारा प्रचलित बतलाया जाता है। तानसेन का जन्म सं० १५७७ के लगभग हुआ था। सं० १६२१ में उनका अकबरी दरबार में प्रवेश हुआ और अतुलित यश और वैभव प्राप्त कर वे सं० १६४६ में परम धाम को प्राप्त हुए।

संगीत के इन प्रमुख केन्द्रों के अतिरिक्त उस समय उत्तरी भारत के प्रायः समस्त हिंदू और मुसलमान राज्याधिकारियों द्वारा संगीत कला को प्रश्रय दिया जाता था, जिसके कारण अनेक कलाकार अपनी जीविका की चिंता से मुक्त होकर कला की साधना में ही अपना जीवन लगा देते थे। हिंदू महात्मा, सूफी साधु और मुसलमान फकीर आत्म-कल्याण और जनोपदेश के लिए भी इस कला की साधना करते थे। इस प्रकार अष्टछाप के समय में विभिन्न केन्द्रों के अनेक कलाकार और संगीतज्ञ अपनी-अपनी भावना के अनुसार संगीत की उन्नति में लगे हुए थे।

अष्टछाप के समय की गायन–शैलियाँ––

अष्टछाप के समय में प्राचीन भारतीय संगीत के विकसित रूप ध्रुपद शैली की गायन-पद्धति का विशेष प्रचार था और उच्च श्रेणी के गायक और संगीतज्ञ इसके समर्थक, उन्नायक और आश्रयदाता थे। उच्च श्रेणी के संगीतज्ञों और संगीत के प्रधान केन्द्रों में ध्रुपद शैली का एकाधिकार होने पर भी उक्त गायन शैली की कठिनता के कारण विदेशी रागों के मिश्रणसे ध्रुपद के आधार पर ही कुछ अन्य गायन-शैलियाँ भी प्रचलित हो गयी थीं, जिनमें ख्याल शैली की गायन–पद्धति प्रमुख थी। इस प्रकार अष्टछाप के समय में ध्रुपद की गंभीर और ख्याल की चपल शैलियाँ प्रचलित थीं। उच्च श्रेणी के कलाकारों को ध्रुपद शैली मान्य थी और निम्न स्तर के संगीत-प्रेमियों को ख्याल शैली प्रिय थी। संगीतकला की अन्यतम टप्पा और ठुमरी शैलियाँ अष्टछाप के समय में प्रचलित थीं या नहीं–यह विवाद का विषय है। ऐसा अनुमान होता

है कि टप्पा की रसपूर्ण और कोमल गायकी का भी कोई रूप उस समय प्रचलित रहा होगा, यद्यपि इसका विशेष प्रचार अष्टछाप काल के बाद हुआ है। ठुमरी की अति शृंगारिक शैली निश्चित रूप से बाद की चीज़ है, जो अवध के नवाब वाजिदअली द्वारा चलायी गयी है।

भक्तों और संतों की गायन-पद्धतियाँ—

संगीत की जिन शैलियों का ऊपर वर्णन किया गया है, वे कलावंतों की शैलियाँ हैं, जिनको आजकल पक्का गाना कहते हैं। इस प्रकार के गायन में शब्दों की सजावट और भावों की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त स्वरों के सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान रहता है। पक्के गाने का आनंद संगीतज्ञों को ही विशेष रूप से प्राप्त होता है, जन-साधारण इससे बहुत कम आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

अष्टछाप के समय में कलावंतों की शैलियों के अतिरिक्त साधु महात्माओं और सूफी फकीरों के गायन की भी पृथक् पद्धतियाँ थीं। वे विरक्त महात्मा और अलमस्त फकीर आत्म-कल्याण एवं जन-हित की भावना से जिस प्रकार आनंद-विभोर और मस्त होकर गाते थे, उसका प्रभाव जन साधारण पर राज-दरबारी गवैयों से भी अधिक पड़ता था।

इन गायन–पद्धतियों में प्रथम के प्रचारक भक्त कवि थे, जो भक्ति-भावना पूर्ण गीतों में अपने आंतरिक उद्‌गार प्रकट किया करते थे। इसका आरंभ जयदेव और विद्यापति से हुआ और अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त स्वामी हरिदास, श्री हित हरिवंश, मीराबाई, गो० तुलसीदास आदि हिंदी के महान् भक्त कवियों ने इसका व्यापक प्रचार किया। इस पद्धति के गायक प्रायः सभी वैष्णव भक्त कवि थे, जिनके कारण यह वैष्णवी गायन–पद्धति भी कही जाने लगी। इस पद्धति में भावों और स्वरों के सौन्दर्य पर समान रूप से ध्यान रखा जाता है।

दूसरी पद्धति संत कवियों की थी। इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों ने योग दिया था। इसका आरंभ कबीर से हुआ और नानक, रैदास, दादूदयाल, मलूकदास, पलटूदास, यारी साहब, बुल्ला साहब, भीखा साहब, दरिया साहब आदि निर्गुणिया संतों द्वारा समय-समय पर इसका प्रचार होता रहा। इस श्रेणी के गायक काव्य शास्त्र अथवा संगीत शास्त्र के नियमों से बँधे हुए नहीं थे। उन फक्कड़ साधुओं और अलमस्त फकीरों के अंतःस्तल से निकली हुई मर्मस्पर्शी वाणियाँ जन साधारण के हृदयों में तत्काल प्रवेश कर जाती थीं।

४. अष्टछाप के संगीत का स्वरूप

अष्टछाप की गायन-पद्धति—

गत पृष्ठों के विवेचन से यह समझा जा सकता है कि अष्टछाप की गायन-पद्धति कलावंत और संत गायकों की गायन-शैलियों से पृथक् थी। उनकी गायन-पद्धति भक्त कवियों की वैष्णव शैली के अनुकूल थी। अष्टछाप के सभी महानुभाव शिक्षित व्यक्ति थे। उनको काव्यशास्त्र और संगीतशास्त्र का यथावत् ज्ञान था। उनमें सूरदास एवं परमानंददास जैसे प्रथम श्रेणी के कवि और गायक, नंददास जैसे उत्कृष्ट कवि एवं गोविंदस्वामी जैसे संगीत के आचार्य थे, अतः उनकी रचनाओं में काव्य और संगीत दोनों का सौन्दर्य दिखलायी देता है। कलावंतों की तरह उनके गायन में केवल स्वर-सौन्दर्य और संतों की तरह उनकी वाणी में केवल आकर्षक प्रभाव ही नहीं था, अपितु उनके संगीत-शास्त्रोक्त कीर्तन में शब्द और भावों का समान आकर्षण था।

जहाँ तक गायन-शैली का संबंध है, अष्टछाप के सभी महानुभाव शुद्ध भारतीय पद्धति के समर्थक थे। वे 'ध्रुपद' शैली के गायक थे या नहीं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है, किंतु उनकी उच्च धार्मिक भावना और प्राचीनता-प्रिय दृष्टिकोण के कारण ऐसा अनुमान होता है कि उनको 'ध्रुपद' शैली ही मान्य थी।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत अधिकारी कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ५ के निम्न उद्धरण से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है—

"और एक समय श्रीनाथ जी के भंडार में कछू सामग्री चाहियत हुती। सो कृष्णदास गाड़ा लेकें आगरे कौ आये। सो आगरे के बाजार में एक वेश्या नृत्य करत हुती। ख्याल-टप्पा गावत हुती और भीर हुती।.....तब वा वेश्या सों कह्यौ जो तेरौ गान हू आछौ और नृत्य हू आछौ परि हमारो सेठ है सो तेरे ख्याल टप्पा ऊपर रीझेगो नाहीं ताते हौं कहों सो गाइयौ। ता पाछें कृष्णदास नें एक पूरबी राग में पद करि कें सिखायौ।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अष्टछाप के समय में ख्याल-टप्पा हलकी और बाजारू चीज मानी जाती थी, जो उच्च श्रेणी के गायकों को प्रिय नहीं थी। कृष्णदास ने प्रकट रूप से ख्याल-टप्पा को अस्वीकार कर

अपनी उच्च श्रेणी की कला-प्रियता और सुरुचि का परिचय दिया था। जब अष्टछाप के कीर्तनकार ख्याल–टप्पा की मिश्रित शैली को पसंद नहीं करते थे, तब उनका झुकाव निश्चित रूप से ध्रुपद की संगीत शैली के प्रति ही होना चाहिए।

'चौरासी वार्ता' में ख्याल–टप्पा के प्रति कृष्णदास की अरुचि के विवरण से अष्टछाप की गायन-शैली का तो अनुमान हो गया, किंतु 'ख्याल-टप्पा' शब्दों के आ जाने से कुछ आलोचकों को 'चौरासी वार्ता' की प्राचीनता में संदेह करने का एक और कारण मिल गया, क्यों कि उनके मतानुसार ख्याल-टप्पा की बाज़ारू गायकी अष्टछाप के बहुत समय बाद की चीज है। वार्ताओं की प्राचीनता के संबंध में गत पृष्ठों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। ख्याल-टप्पा की प्राचीनता के विषय में हमारा निवेदन है कि यदि ख्याल की गायन शैली अमीर खुसरो द्वारा प्रचलित मानी जाती है, तब वह निश्चित रूप से अष्टछाप से पहले की चीज़ है, किंतु टप्पा शैली के प्रचार का समय निस्संदेह विवादग्रस्त है।

अष्टछाप की राग-रागनियाँ—

संगीत का आधार सप्त स्वरों पर है। इन स्वरों के नाम षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद हैं, जिनको संक्षेप में स, र, ग, म, प, ध, न कहते हैं। इन स्वरों से मूलतः हिंडोल, दीपक, भैरव, मालकोष, श्री और मेघ इन छै रागों की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक राग की पाँच-पाँच स्त्रियाँ मानी गयी हैं, जिनको रागनियाँ कहते हैं। ये रागनियाँ तीस हैं। इनमें से प्रत्येक के अड़तालीस संततियाँ मानी गयी हैं। इस प्रकार भारतीय संगीत में राग-रागनियों का विशाल परिवार है, जिसका यथावत् ज्ञान वर्षों के कठिन परिश्रम के उपरांत ही हो सकता है।

अष्टछाप की रचनाओं में संगीत की प्रधान राग-रागनियाँ ही नहीं हैं, बल्कि इनमें प्रधान, अप्रधान एवं प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध सैकड़ों राग–रागनियों का उपयोग हुआ है। सूरदास का अमर ग्रंथ सूरसागर जहाँ काव्यामृत का विशाल समुद्र है, वहाँ संगीत-कोष की अगणित राग–रागनियों का अपार रत्नाकर भी है। इन राग–रागनियों का गायन संगीत-समाजों और कलावंतों की मंडलियों में सूरदास के समय से ही होता आ रहा है। इस पर भी इनके काव्य में ऐसी राग–रागनियाँ भी मिलती हैं, जिनका ज्ञान वर्तमान काल के संगीत विशारदों को भी नहीं है। प्रो॰ मुंशीराम जी शर्मा का कथन है—

"कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागनियों में हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं या उनका अब प्रचार नहीं है †।"

राग-रागनियों की छत्तीस संख्या सर्व सम्मति से निश्चित है, किंतु इनके नामों के संबंध में मतभेद है। सूरदास ने इन राग-रागनियों के नामों का इस प्रकार कथन किया है—

ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
जान प्रभात राग पंचम पट मालकोस रस भीने॥
सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारँग सुर नट जान।
सुर सावंत भूपाली ईमन करत कान्हरौ गान॥
ऊच अडाने के सुर सुनियत निपट नायकी लीन।
करत बिहार मधुर केदारौ सकल सुरन सुख दीन॥
सोरठ गौंड़ मलार सोहावन भैरव ललित बजायौ।
मधुर बिभास सुनत बेलावल दंपति अति सुख पायौ॥
देवगिरी देसाक देव पुनि गौरी श्री सुखबास।
जैतश्री अरु पूर्वी टोड़ी आसावरि सुखरास॥
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये।
जैजैवंती जगतमोहनी सुर सौं बीन बजाये॥
सूहा सरस मिलत प्रीतम सुख सिंधुवार रस मान्यौ।
जान प्रभात प्रभाती गायौ भोर भयौ दोउ जान्यौ‡॥

इस उद्धरण से निम्न ३६ राग-रागनियों के नाम प्राप्त होते हैं—

१. ललित, २. पंचम, ३ खट, ४. मालकोष ५. हिंडोल, ६. मेघ ७. मालव ८. सारंग. ९. नट, १०. सावंत, ११. भूपाली, १२ ईमन १३. कान्हरौ, १४. अड़ाना, १५. नायकी, १६. केदारौ, १७. सोरठ, १८. गौड़मलार, १९. भैरव, २०. विभास, २१. विलावल २२. देवगिरि, २३. देशाख, २४. गौरी २५. श्री, २६. जैतश्री, २७. पूर्वी, २८ टोड़ी, २९. आसावरी, ३०. रामकली, ३१. गुनकली ३२. सुघराई, ३३. जैजैवंती, ३४. सूहा, ३५. सिन्धूरा ३६ प्रभाती।

† सूर-सौरभ, द्वितीय भाग, पृ० ७

‡ सूरसारावली, छंद सं० १०१२ से १०१८ तक

चतुर्भुजदास कथित "खटऋतु की वार्ता" नामक एक नवीन वार्ता पुस्तक अभी प्रकाश में आयी है। इसमें भी छत्तीस रागनियों के नाम दिये गये हैं। पूर्वोक्त नामों से इन वार्ता के नामों में कुछ अंतर है, अतः यहाँ पर उक्त वार्ता के नाम भी दिये जाते हैं—

१. मलार, २. ललित, ३. पंचम, ४. आसावरी, ५. भैरव, ६. मालव, ७. टोड़ी, ८. कल्याण, ९. गुर्जरी, १०. मालवा, ११ गौड़ी, १२. बिलावल, १३. धनाश्री, १४. रंगीली, १५. खंमाच, १६. देसाख, १७. कान्हरौ, १८. गौड़ मलहार, १९. केदारौ, २०. षट् मंजरी, २१. रामकली, २२. गंधार, २३. बराड़ी, २४. कुकुंभ, २५. कामोद, २६. नट, २७. गुनकली, २८. माधवी, २९. देस, ३०. विभास ३१. हास, ३२. काफी, ३३, सोरठ, ३४, ईमन, ३५. जैजैवंती, ३६. सारंग†।

अष्टछाप का समस्त काव्य राग-रागनियों में कथित है। इसमें कुछ विशिष्ट राग-रागनियों का विशेष रूप से उपयोग हुआ है, किंतु साधारणतया इसमें सभी प्रचलित एवं कुछ अप्रचलित राग-रागनियाँ मिलती हैं।

अष्टछाप-काल के वाद्य यंत्र—

अष्टछाप के गायन में वीणा और पखावज का विशेष रूप से उपयोग होता था, किंतु उस समय में अन्य प्रकार के वाद्य यंत्र भी प्रचलित थे। अष्टछाप की रचनाओं में अनेक वाद्य यंत्रों के नाम और इनके वादन संबंधी मार्मिक कथन मिलते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वे विविध वाद्य यंत्रों की वादन-कला के भी मर्मज्ञ थे।

चतुर्भुजदास कथित 'खटऋतु की वार्ता' में ३६ वाद्य यंत्रों का उल्लेख हुआ है। इससे प्रकट है कि उक्त वार्ता पुस्तक की रचना के समय वे सभी वाद्य यंत्र प्रचलित थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. बीनाचीन, २. मुरली, ३. अमृत कुंडली, ४. जल तरंग, ५. मदनभेरी ६. धौसा, ७. दुंदुभी, ८. निसान, ९. नगाड़ा, १०. शंख, ११. घंटा, १२. मुहचंग, १३. सिंगी, १४. खंजरी, १५. ताल, १६. पट्ताल, १७. मंजीरा, १८. मुहवरि, १९. थारी, २०. झालर, २१. ढोल, २२. ढप, २३. डिमडिम, २४. झांझ, २५. मृदंग, २६. गिड़गिड़, २७. पिनाक, २८. रबाब, २९. जंत्र, ३०. सहनाई, ३१. श्री मंडल, ३२. सारंगी, ३३. दूधारी, ३४. करताल, ३५. तुरही ३६. किन्नरी†।

† 'खट ऋतु की वार्ता' पृ० १२

तार वाद्यों में वीणा सब से प्राचीन ज्ञात होती है। इसी के आधार पर बाद में सितार आदि अन्य तार वाद्य बनाये गये। कहते हैं सितार का आविष्कार अमीर खुसरो ने किया था। इसमें तीन तार होते हैं। फारसी में तीन को 'सह' कहते हैं, अतः इसका पूर्व नाम 'सहतार' था, जो बाद को सितार हो गया। तुंबूरा (तानपूरा) भी प्राचीन वाद्य है। कहते हैं तुंबुरीय गंधर्व के नाम पर इसका नाम पड़ा है।

पखावज की तरह मृदंग भी प्राचीन वाद्य है। डफ और नगाड़ा भी प्राचीन वाद्य ज्ञात होते हैं। मृदंग के दो टुकड़े करने से तबला बन गया। आज कल मृदंग और पखावज की अपेक्षा तबला का अधिक प्रचार है। मुरली, घंटा, शंख, भेरी आदि विविध वाद्य भी प्राचीन समय से प्रचलित हैं।

अष्टछाप की गायन-कला का गौरव —

कीर्तन में ऋतु और काल के अनुकूल राग-रागनियोंके गायन की मर्यादा है। किस राग में किस रस का गायन हो और वह दिन-रात में किस समय गाया जाय, इसकी भी कीर्तन में पूरी व्यवस्था है। अष्टछाप के पदों में इन सब बातों का ध्यान रखा गया है। अष्टछाप की रचनाओं में गायन कला संबंधी गूढ़ पारभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की शब्दावली रास, होली और हिंडोला आदि के पदों में प्रयुक्त हुई है। इससे अष्टछाप का उच्चतम संगीत विषयक ज्ञान प्रकट होता है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि जब सूरदास गोघाट पर महाप्रभु बल्लभाचार्य जी से सर्व प्रथम मिले थे, तब उन्होंने उनके सन्मुख दो पदों का गायन किया था। उन पदों की आरंभिक टेक निम्न लिखित हैं—

१. हौं हरि ! सब पतितन कौ नायक।
२. प्रभु ! मैं सब पतितन कौ टीकौ।

ये दोनों पद धनाश्री रागमें गाये गये थे। संगीत शास्त्र के अनुसार धनाश्री राग का गायन मांगलिक प्रसंग पर करने का नियम है। सूरदास के लिए उस अवसर से बढ़कर और कौन मांगलिक प्रसंग हो सकता था, जिसने उनके जीवन के क्रम को ही बदल दिया और जिससे उनका परम कल्याण हुआ। अष्टछाप की रचनाओं में समस्त राग-रागनियों का इसी प्रकार उचित रीति से निर्वाह हुआ है।

अष्टछाप के आठों महानुभावों में संगीतज्ञ के रूप में सूरदास, परमानंददास और गोविंदस्वामी की विशेष प्रसिद्धि है । वार्ता से ज्ञात होता है कि पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही वे संगीतज्ञ और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे । गोविंदस्वामी अपने समय में संगीत कला के आचार्य और मर्मज्ञ थे । तानसेन जैसे संगीत सम्राट भी उनके सन्मुख नत मस्तक होते थे । इन तीनों के अतिरिक्त शेष महानुभाव भी अपने संगीत-गौरव के कारण प्रसिद्ध थे ।

अष्टछाप की रचनाएँ कीर्तन के लिए कथित हुई थीं, अतः उनका सर्व प्रथम गुण यह है कि वे संगीत कला की कसौटी पर खरी उतरती हैं । यही कारण है कि अपने रचना-काल से अब तक वे गायक समाज के गले का हार बनी हुई हैं । गायकों के प्राचीन घरानों में सदा से इन रचनाओं का आदर होता रहा है । इन घरानों में अष्टछाप की ऐसी अनेक रचनाएँ सुरक्षित हैं, जो अन्यत्र प्राप्त नहीं हैं । यह सब इसीलिए संभव हुआ है कि अष्टछाप की रचनाओं में काव्य कला के समस्त गुण विद्यमान हैं और उनका गायन करने में गायक को बड़ी सुविधा है ।

अन्य कवियों की रचनाओं को गायन योग्य बनाने के लिए उनके शब्दों में कुछ खींचातानी करने की आवश्यकता होती है, किंतु अष्टछाप के पदों में राग,ताल,मात्रा आदि की सर्वोत्तम योजना है, जिसके कारण उनका गायन बड़ी सफलता पूर्वक किया जाता है । अष्टछाप की रचनाओं में काव्य रस के साथ ही साथ राग रस का भी पूर्ण परिपाक हुआ है । अब तक अष्टछाप की रचनाओं का मूल्यांकन उनके काव्य विषयक गुणों के आधार पर हुआ है, किंतु जब हम उनके संगीत संबंधी गुणों पर विचार करते हैं, तब अष्टछाप का महत्व और भी अधिक हो जाता है ।

षष्ठम परिच्छेद

अष्टछाप का सिंहावलोकन

★

सांप्रदायिक संबंध और जीवन-दर्शन—

अष्टछाप के आठों महानुभावों में से प्रथम चार—१. कुंभनदास, २. सूरदास, ३ परमानंदास, और ४. कृष्णदास महाप्रभु बल्लभाचार्यजी के और द्वितीय चार—१. गोविंदस्वामी, २. छीतस्वामी, ३. चतुर्भुजदास और ४. नंददास गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य जी वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्य और पुष्टि संप्रदाय के संस्थापक थे और उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी अपने पिता द्वारा स्थापित संप्रदाय के उन्नायक और प्रचारक थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठलनाथ दोनों आचार्यों के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण था कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व को भूल कर उनके सन्मुख नत-मस्तक हो जाता था। यही कारण था कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा, पंडित, गुणी, कवि, गायक और कलाकार उनमें श्रद्धा रखते हुए उनके संप्रदाय में दीक्षित हो गये थे।

अष्टछाप के आठों महानुभावों में सूरदास, परमानंददास और गोविंदस्वामी पुष्टि संप्रदाय की शरण में आने के पूर्व ही कवि और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। उनमें से प्रत्येक के अनेक शिष्य-सेवक थे; किंतु जैसे ही वे उक्त आचार्यों के संपर्क में आये, वे अत्यंत विनम्र भाव से उनके सेवक हो गये और अपने अंतिम समय तक उनके श्रद्धालु भक्त बने रहे। कुंभनदास एक साधारण कृषक थे; किंतु कविता, गायन और वादन के अच्छे अभ्यासी थे। वे महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों से थे और उनके बड़े कृपापात्र थे। जब बल्लभाचार्य जी ने गोवर्धन में श्रीनाथजी की सेवा-पूजा की व्यवस्था की, तब उन्होंने कुंभनदास को श्रीनाथजी का प्रथम कीर्तनकार नियत किया था। सूरदास के आगमन से पूर्व एक मात्र कुंभनदास ने ही कीर्तन का कार्य बड़े मनोयोग पूर्वक किया था। कुंभनदास दीर्घजीवी हुए। उन्होंने अति काल तक महाप्रभु बल्लभाचार्य जी और उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी की सेवा की थी। कृष्णदास, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास अपने आरंभिक जीवन में ही पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हुए थे और वहीं पर उनके

यश और गौरव की भी वृद्धि हुई। कृष्णदास शूद्र कुलोत्पन्न होने पर भी वल्लभाचार्य जी के विश्वासपात्र सेवक थे। उनको श्रीनाथजी के मंदिर का प्रथम अधिकारी बनाया गया और वे अष्टछाप के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ठाट-बाट से रहते थे। अपने समय में वे क्रियाकुशल और योग्य प्रबंधक के रूप में प्रसिद्ध थे। वे जो कुछ थे, पुष्टि संप्रदाय के कारण थे। जहाँ संप्रदाय ने उनको बनाया था, वहाँ उन्होंने भी उसके नव निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया था। छीतस्वामी और नंददास अपने चारित्रिक दोषों सहित आये थे, किंतु विट्ठलनाथ जी के सत्संग के कारण उनका चरित्र ही निर्मल नहीं हुआ, अपितु उनकी सब प्रकार से उन्नति भी हुई। कविता और गायन का अभ्यास उनको पहले से ही था, किंतु इन कलाओं में उनकी प्रगति और यशोवृद्धि विट्ठलनाथ जी के संपर्क में आने के पश्चात् हुई। चतुर्भुजदास अपनी शिशु अवस्था में ही गोसाईं जी के सेवक बनाये गये और उन्हीं की शरण में उनका अभ्युदय हुआ।

अष्टछाप के आठों महानुभाव कवि, गायक, कीर्तनकार, भक्त और त्यागी महात्मा थे। वे श्रीनाथ जी, आचार्य जी और गोसांई जी के परम भक्त थे। वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी को भी वे भगवान् का ही रूप समझते थे और इसी भाव से उनमें श्रद्धा रखते थे। उनके उपास्य और आराध्य देव श्रीनाथ जी थे, जिनकी वे सखा भाव से उपासना करते थे।

गृहस्थ जीवन और विरक्ति-भाव—

अष्टछाप के आठों महानुभावों में से सूरदास और परमानंददास जीवन पर्यंत विरक्त रहे। वे गृहस्थ के जंजाल में कभी नहीं फँसे। कृष्णदास छोटी आयु में ही पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने नियमित रूप से गृहस्थ धर्म अंगीकार किया या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किंतु अपने आचार-व्यवहार में वे गृहस्थ के समान थे और सूरदास आदि की तरह उनमें विरक्ति-भाव भी नहीं था; सांप्रदायिक जन-श्रुति के अनुसार नंददास ने पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर कुछ समय तक गृहस्थ धर्म का पालन किया था। किंतु बाद में वे विरक्त होकर गोवर्धन में आ गये थे। गोविंदस्वामी और छीतस्वामी गोसाईं जी के शिष्य होने के पूर्व गृहस्थ थे, किंतु बाद में वे विरक्त हो गये थे। पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर गोविंदस्वामी ने गृहस्थ का मोह सर्वथा त्याग दिया था, जैसा वार्ता द्वारा उनकी पुत्री का

आगमन और उसके प्रति गोविंदस्वामी की उदासीनता के विवरण से ज्ञात होता है। छीतस्वामी का अपने परिवार के साथ कुछ संपर्क संभवतः बाद तक भी रहा होगा, जैसा बीरबल आदि से अपनी वृत्ति प्राप्त करने विषयक वार्ता के कथन से प्रकट है। कुंभनदास और चतुर्भुजदास लौकिक संबंध से पिता-पुत्र थे। वे दोनों ही गृहस्थ थे और जीवन पर्यंत गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे। कुंभनदास की काफी बड़ी गृहस्थी थी और जीविका का साधन केवल थोड़ी सी भूमि थी, जिस पर खेती कर वे अपनी गृहस्थी का पालन करते थे। कुंभनदास और चतुर्भुजदास जीवन पर्यंत अर्थ-संकट में ग्रस्त रहे और उनके गृहस्थ जीवन के निर्वाह में समय-समय पर अनेक असुविधाएँ भी आयीं, किंतु वे दोनों महानुभाव उनसे कभी विचलित नहीं हुए और अपना अधिकांश समय श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा, पद-रचना और आत्म-कल्याण के कार्यों में ही लगाते रहे।

'स्वामी' शब्द की सार्थकता—

अष्टछाप के कई महानुभावों के नामों के साथ 'स्वामी' शब्द लगा हुआ है। इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। इन आठों सज्जनों में से चार ऐसे थे, जो पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के पूर्व शिष्य-सेवक बनाते थे और स्वामी' कहलाते थे। इन चारों में सूरदास, परमानंददास और गोविंदस्वामी के 'गुणी और कलाकार होने के कारण एवं छीतस्वामी के तीर्थ-पुरोहित होने के कारण अनेक शिष्य थे, जो उनको 'स्वामीजी' कहते थे। पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के अनंतर दैन्य-भाव धारण कर सूरस्वामी और परमानंदस्वामी क्रमशः सूरदास और परमानंददास होगये, किंतु गोविंदस्वामी गोविंददास और गोविंदस्वामी दोनों ही नामों से प्रसिद्ध रहे। संभवतः उनमें दैन्य-भाव की मात्रा सूरदास और परमानंददास से कुछ कम थी। छीतस्वामी पुष्टि संप्रदाय के सेवक हो जाने पर भी छीतस्वामी ही बने रहे। उनमें कदाचित दैन्य-भाव की और भी कमी थी। ये चारों महानुभाव ब्राह्मण वर्ण के थे। कुंभनदास, कृष्णदास, नंददास और चतुर्भुजदास पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने के पूर्व शिष्य-सेवक नहीं बनाते थे, अतः इनके नामों के साथ 'स्वामी' शब्द नहीं लगा मिलता है। इन चारों महानुभावों में केवल नंददास ब्राह्मण वर्ण के थे, शेष तीनों ब्राह्मणेतर वर्णों में उत्पन्न हुए थे।

दैनिक कर्त्तव्य और कीर्तन-सेवा—

अष्टछाप के आठों महानुभावों का प्रमुख दैनिक कर्त्तव्य श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करना था। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा के साथ शृंगार, भोग और राग की आवश्यक व्यवस्था की थी। उनके पश्चात् गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने सेवा-विधि का विस्तार किया। उन्होंने प्रातःकाल से सायंकाल पर्यंत आठ समय की सेवा का आयोजन किया और विधि पूर्वक उसकी निश्चित व्यवस्था की।

पुष्टि संप्रदाय की सेवा में बाल-भाव की प्रधानता है। इसी भाव के अनुसार ठाकुर जी की आठ बार 'झाँकियाँ' होती हैं, जिनमें सेवा की अन्य विधियों के अतिरिक्त कीर्तन की आवश्यक व्यवस्था है। इन झाँकियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. मंगला, २. शृंगार, ३. ग्वाल, ४ राजभोग
५. उत्थापन, ६. भोग, ७. संध्याआरती, ८. शयन

प्रातःकाल होते ही ठाकुर जी को शयन से जगाया जाता है। इसे 'मंगला' की झाँकी कहते हैं। इसमें जागरण, खंडिताभाव, अनुराग और दधि-मंथन के पद गाये जाते हैं। इसके पश्चात भगवान् को नाना प्रकार के वस्त्राभूषण धारण कराये जाते हैं। इसे 'शृंगार' की झाँकी कहते हैं। इसमें बाल-छवि, बाल-क्रीड़ा और वेष-भूषा के पद गाये जाते हैं। वस्त्राभूषण धारण कर ग्वाल-बाल सहित खेल के दर्शनों को 'ग्वाल' की झाँकी कहते हैं। इसमें गोचारण, गो-दोहन, माखन-चोरी, चौगान, चकडोरी आदि के पद गाये जाते हैं। दो पहर के भोग की झाँकी को 'राजभोग' कहते हैं। इसमें 'छाक' के पद गाये जाते हैं। इसके पश्चात् मध्याह्न में भगवान् कुछ समय तक शयन करते हैं। मध्याह्नोत्तर शयन से उठने के दर्शन को 'उत्थापन' की झाँकी कहते हैं। इसमें बन लीला, गो टेरन के पद गाये जाते हैं। इसके पश्चात् फिर 'भोग' की झाँकी होती हैं, जिसमें मुरली-माधुरी, रूप-माधुरी, गाय, गोप और गोपियों से संबंधित पदों का गायन किया जाता है। सायंकाल में बन से गाय चराकर वापिस आने के दर्शन को 'संध्या-आरती' की झाँकी कहते हैं, जिसमें वात्सल्य भाव से यशोदा का कृष्ण को बुलाना, कृष्ण का बन से वापिस आना, गो-दोहन आदि के पदों का गायन किया जाता है। सब के अंत में रात्रि को 'शयन' की झाँकी होती है, जिसमें अनुराग, गोपीभाव, निकुंज-लीला आदि के पदों का गायन होता है। शयन की झाँकी के साथ दैनिक कार्यक्रम की पूर्ति होजाती है।

पारस्परिक महत्व की तुलना—

इन आठों झाँकियों में बाल भाव और संयोग शृंगार की प्रधानता है, अतः इनमें गाये जाने वाले कीर्तन भी इसी आशय के हैं। प्रत्येक झाँकी में कीर्तन की सामूहिक व्यवस्था होती है, जिसमें एक प्रमुख कीर्तनकार तथा अन्य उसके सहयोगी होते हैं। अष्टछाप के समय में आठों महानुभाव श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में दर्शनार्थ उपस्थित होकर कीर्तन करते थे, किंतु व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक झाँकी में एक प्रमुख कीर्तनकार का उपस्थित होना अनिवार्य था। राजभोग और भोग की झाँकियों में आठों महानुभाव कीर्तन करते थे, किंतु उनमें भी एक-एक कीर्तनकार की प्रमुखता रहती थी।

इन आठों झाँकियों में कीर्तन की व्यवस्था प्रत्येक कीर्तनकार की सुविधा के अनुसार की गयी होगी, किंतु 'मंगला' की झाँकी में परमानंददास, 'शृंगार' में नंददास, 'ग्वाल' में गोविंदस्वामी, 'राजभोग' में कुंभनदास, 'उत्थापन' में सूरदास, 'भोग' चतुर्भुजदास, 'संध्या' में छीतस्वामी और 'शयन' में कृष्णदास द्वारा कीर्तन करने का उल्लेख मिलता है। इस आवश्यक दैनिक कर्तव्य के कारण कीर्तन के लिए नित्य नये पदों की रचना होती थी, जिसके फल-स्वरूप अष्टछाप के काव्य में श्री कृष्ण की विविध लीलाओं के पदों की प्रचुरता है।

पुष्टि संप्रदाय के आठों महानुभाव दैवी जीव और श्रीनाथ जी के अंतरंग सखा माने जाते हैं। वार्ता से ज्ञात होता है कि इनको श्रीनाथ जी का साक्षात्कार प्राप्त था; वे अहर्निश श्रीनाथ जी का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे, यहाँ तक कि श्रीनाथ जी बाल रूप से उनके साथ खेलते भी थे। वे सब के सब श्रद्धालु, धार्मिक और सात्विक प्रकृति के पुरुष थे। उनका अधिकांश समय भगवद्भक्ति और परमार्थ-साधन में व्यतीत होता था। इस दृष्टि से उन सब का समान महत्व है।

यदि साहित्यकार और कलाकार के रूप में उनके महत्व का विचार किया जाय; तब भी भाषा, भाव, विषय और शैली की दृष्टि से उनका महत्व समान है, किंतु भक्ति भाव की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति तथा विषय-विस्तार की दृष्टि से उनके महत्व में भारी अंतर है। इस कथन क पुष्टि 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत परमानंददास की वार्ता में इस प्रकार की गयी है—

"ताते वाणी तो सब अष्ट काव्य की समान है, और ये दोऊ परमानंदस्वामी और सूरदास जी सागर भये।"

कवि के रूप में सूरदास और परमानंददास का महत्व निस्संदेह बहुत अधिक है। इस दृष्टि से नंददास का महत्व भी कम नहीं है, किंतु अष्टछाप का कोई कवि सूर-काव्य के उच्च धरातल तक नहीं पहुँच सका है। अष्टछाप का जो गौरव है, वह वास्तव में सूरदास के कारण ही है, यद्यपि अन्य कवियों ने भी उसके महत्व को बढ़ाया है।

संगीतज्ञ के रूप में गोविंदस्वामी का स्थान बहुत ऊँचा है, यद्यपि इस दृष्टि से भी सूरदास और परमानंददास का महत्व कम नहीं है। कुंभनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास और छीतस्वामी भी अपने समय के सुप्रसिद्ध काव्यकार और संगीतज्ञ थे, किंतु उनका महत्व इस दृष्टि से उतना नहीं है, जितना सूरदास, परमानंददास, नंददास और गोविंदस्वामी का है।

साहित्य-शोधकों की निरंतर चेष्टा के उपरांत भी अष्टछाप का संपूर्ण जीवन-वृत्तांत और काव्य अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया है। जो कुछ सामग्री अब तक उपलब्ध है, उसका भी पूर्ण परीक्षण और वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सका है। अष्टछाप संबंधी हमारा अध्ययन अब तक सूरदास और नंददास तक ही सीमित है, यद्यपि इसकी पूर्णता में भी अभी बहुत समय लगेगा। अष्टछाप के शेष छै कवियों के काव्य का अभी तक विधि पूर्वक अध्ययन भी आरंभ नहीं हुआ है! ऐसी दशा में उनके तुलनात्मक महत्व संबंधी हमारी धारणा भ्रमात्मक भी हो सकती है; फिर भी सूरदास, परमानंददास और नंददास का महत्व तो सर्वोपरि ही रहेगा। शेष पाँचों महानुभावों के पारस्परिक महत्व की न्यूनाधिकता में उलट-फेर होना संभव है।

अनुक्रमणिका

काव्य-संग्रह के पदों की अकारादि क्रम से सूची

१. कुंभनदास

२. सूरदास

३. परमानंददास

क्रम संख्या	अकारादि क्रम से पदों की प्रथम पंक्तियाँ	पद संख्या	पृष्ठ संख्या
१४७.	गोपाल फिरावत है बंगी	३२	१८६
१४८.	गोपाल माई ! खेलत है चकडोरी	३०	१८६
१४९.	गोपाल माई ! खेलत है चौगान	३१	१८६
१५०.	गोविंद माँगत है दधि-रोटी	२५	१८८
१५१.	गोरस कहाँ दिखावन आई	४४	१९२
१५२.	चलि तू मदनगोपाल बुलाई	८६	२०१
१५३.	चली उठि कुंज भवन तें भोर	८९	२०१
१५४.	चलो सखि ! देखो नंदकिसोर	७८	१९९
१५५.	जब नँदलाल नैंन भरि देखे	४८	१९३
१५६.	जब तें प्रीति स्याम सों कीनीं	५०	१९३
१५७.	जसोदा ! चंचल तेरौ पूत	३५	१९०
१५८.	जसोदा ! बरजत काहे न माई	३४	१९०
१५९.	जेंवत नंद गोपाल खिझावत	२९	१८८
१६०.	झूलत नवल किसोर किसोरी	८०	२००
१६१.	ढोटा रंचक माखन खायौ	३७	१९०
१६२.	तनक कनक की दोहिनी दै-दै री मैया	१३	१८५
१६३.	ता दिन तें मोहिं अधिक चटपटी री	७२	१९८
१६४.	तुम्हारे लाल रूप पर हौं वारी	७१	१९८
१६५.	तेरी सौं सुनि-सुनि री मैया	३८	१९१
१६६.	दुहि-दुहि ल्यावत धौरी गैया	१७	१८६
१६७.	नव रंग कंचुकी तन गाढ़ी	७०	१९७
१६८.	नीकी बानिक नवल निकुंज की	८३	२००
१६९.	नैंक गुपालै दीजो टेर	२०	१८७
१७०.	नैंक लाल ! टेकहु मेरी बहियाँ	६४	१९६
१७१.	पतियाँ बाँचेहू न आवै	१०१	२०४
१७२.	परोसत पाहुनी त्यौनारी	२७	१८८
१७३.	प्रात समैं सुत कौ मुख निरखत, प्रमुदित जसुमति	१४	१८५
१७४.	पासा खेलत हैं पिय-प्यारी	७९	१९९
१७५.	पीतांबर कौ चोलना पहिरावति मैया	९	१८४
१७६.	प्रेम उमँगि बोलत नँदरानी	२१	१८७

४. कृष्णदास

५. गोविंदस्वामी

क्रम संख्या	अकारादि क्रम से पदों की प्रथम पंक्तियाँ	पद संख्या	पृष्ठ संख्या
३२२.	कदम चढ़ि कान्ह बुलावत गैया ...	१७ ...	२४९
३२३.	कनक-कटोरा प्रात ही दधि-विरत मिठाई ...	९ ...	२४७
३२४	कबकी वकत प्यारी अजहुँ न रिस गई ...	६२ ...	२५८
३२५.	कहा करैं बैकुंठहिं जाय ...	५९ ...	२५७
३२६.	कहा कहूँ मोहन-मुख सोभा .	३५ ...	२५४
३२७.	कहा री भयौ मुख मोरैं कछू काहु जु कह्यौ	५६ ...	२५७
३२८.	कहि न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई ...	४१ .	२५५
३२९.	कीजिऐ नंदलाल कलेऊ, कीजिऐ नंदलाल ..	१२ ...	२४८
३३०.	क्रीड़त मनिमय आँगन रंग ...	५ ...	२४६
३३१.	कुँवर बैठे प्यारी संग, अंग-अंग भरे रंग ...	५७ ...	२५८
३३२.	केसर-तिलक ललन सिर राजै ...	३७ ...	२५४
३३३.	गोवरधन गिरि-सृंग सिलन पर बैठे छाक खात	१५ ...	२४९
३३४.	गोरस बेचन लै चली, गोकुल-मथुरा बीच ...	२१ ...	२५०
३३५	चितवत रहति सदा श्री गोकुल तन ...	५१ ...	२५७
३३६.	चितै मुसिकानी हो वृषभानु-कुमारी ...	४६ ...	२५६
३३७.	चार पहर कीने रस-रंग, अरुन नैन रति रसमसे	६६ ...	२५१
३३८.	छबीले लाल की ये बानक, वरनत बरनी न जाय	७० ...	२६०
३३९.	जसुमति थार परोसि धरयौ है, तुम्हैं बुलावै चलो	११ ...	२४८
३४०.	जाहि तन मन धन दीजै तासों आली रूसियौ	६० ...	२५८
३४१.	जुवती जूथ में बनी आवति साई राधिका प्यारी	६४ ...	२५९
३४२.	जागो कृष्ण जसोदा बोलै इहि अवसर कोऊ सोवै	८ ...	२४७
३४३.	झूलन आई ब्रज-नारि गिरिधरन लाल कें ...	३२ ...	२५३
३४४.	झूलें पालने महर-सुत कर लिऐं नवनीत ...	२ ...	२४६
३४५.	झूलो पालने बलि जाऊँ ...	१ ...	२४६
३४६.	तुम पैंड़ो ही रोकै रहति कैसे कें आवैं जाय .	२४ ..	२५१
३४७.	तेरे नैन लली लौने री, जिन मोहे स्याम ...	४८ ...	२५६
३४८.	तैं कछु घाली री ठगौरीए पिय पर प्यारी ...	४९ ...	२५६
३४९.	देखो जू मोहन ! काहू अबै मेरी ईडुरी दुराई ...	२५ ...	२५१
३५०.	दंपति झूलत सुरंग हिंडोरैं ...	३३ ..	२५२
३५१.	निर्तत लाल गोपाल रास में सकल ब्रज-बधू संगैं	३० ...	२५३

७. चतुर्भुजदास

नामानुक्रमणिका

१. व्यक्ति-नामानुक्रमणिका

(मोटे टाइप में छपे हुए अंकों पर विशेष विवरण है)

★

---

२. ग्रंथ-नामानुक्रमणिका

(मोटे टाइप में छपे हुए अंकों पर विशेष विवरण है)

★

३. स्थान-नामानुक्रमणिका

(मोटे टाइप में छपे हुए अंकों पर विशेष विवरण है)

★

———

४. विशिष्ट—नामानुक्रमणिका

(मोटे टाइप में छपे हुए अंकों पर विशेष विवरण है)

☆

❀ इति ❀

अष्टछाप-परिचय

[संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण]

इस अपूर्व ग्रंथ में हिंदी के महान् कवि महात्मा सूरदास और नंददास आदि अष्टछाप के आठों भक्त कवियों का आलोचनात्मक सचित्र जीवन-वृत्तांत और उनकी दुर्लभ रचनाओं का प्रामाणिक संकलन है। साथ में वल्लभ संप्रदाय का खोजपूर्ण विवरण भी है। कई वर्षों के अनुसंधान एवं गंभीर अध्ययन के उपरांत इस विद्वतापूर्ण ग्रंथ की रचना हुई है।

एक प्रतिष्ठित पत्र की सम्मति—

"इसमें अष्टछाप-कवियों की आलोचना सहित सचित्र जीवनियाँ हैं और काव्य-संग्रह भी। वल्लभ संप्रदाय के आचार्यों की सचित्र चरित-चर्चा प्रथम परिच्छेद में है। इसी में शुद्धाद्वैत सिद्धांत और पुष्टिमार्ग का विस्तृत विवेचन भी है। दूसरे परिच्छेद में अष्टछाप के स्थापना-काल, महत्व और क्रम तथा वार्ता-साहित्य पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। तृतीय परिच्छेद में अष्टछाप के आठों कवियों की आलोचनात्मक जीवनियाँ और चुनी हुई कविताएँ हैं। चतुर्थ में अष्टछाप के गीति-काव्य और संगीत-पद्धति का समीक्षात्मक प्रदर्शन किया गया है। अंत के पंचम परिच्छेद में अष्टछाप का सिंहावलोकन है। सब के अंत में पुस्तक-गत नामों, ग्रंथों, स्थानों और पदों की अक्षरानुक्रमणिका है।

इस प्रकार यह पुस्तक घोर परिश्रम एवं अनवरत अनुसंधान के परिणाम स्वरूप अतीव सुंदर बन पड़ी है।....पुस्तक के प्रत्येक प्रसंग से लेखक की गहरी छानबीन का पता चलता है। इस पुस्तक से साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है।...हम लेखक के इस सत्प्रयास एवं अथक अध्यवसाय का हार्दिक अभिनंदन करते हैं।"

—"हिमालय" पटना (जनवरी १९४८)

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त धुरंधर विद्वानों की सम्मतियाँ—

"यह पुरानी हिंदी के साहित्य तथा मध्यकालीन भारत की धार्मिक संस्कृति पर प्रकाश डालने वाली विशेष महत्वपूर्ण पुस्तक है। पुराने हिंदी साहित्य की आलोचना में आपकी यह देन प्रथम श्रेणी की है। सद्भाव, पांडित्य और श्रम से की हुई इस गवेषणा का अपना विशिष्ट स्थान है। इसके लिए मैं न केवल आपको, परंतु हिंदी-प्रेमी समाज, को और हिंदी संसार को बधाई देता हूँ।"

कलकत्ता,

—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

ता० २७-१-४८ (अध्यक्ष—तुलनात्मक भाषा विज्ञान विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय)

"श्री मीतल जी की अष्टछाप-परिचय पुस्तक ब्रजभाषा के आदिम आठ महाकवियों पर गंभीर कृति है। इसमें कवियों और उनके संरक्षकों की जीवनियों पर अच्छा प्रकाश डालते हुए, उनकी कविताओं का भी सुंदर संग्रह किया गया है। अपने ढंग का यह एक बहुत अच्छा और गंभीर प्रयत्न है। ऐसी अच्छी पुस्तक लिखने के लिए मीतल जी को बधाई!"

—राहुल सांकृत्यायन

ता० ३१-१-४८ (भू० पू० अध्यक्ष—हिंदी साहित्य संमेलन)

बड़े आकार के [illegible], सुंदर छपाई, १२ चित्र, दुरंगी कवर, पक्की जिल्द, मू० ५)

ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद

(यू० पी० सरकार द्वारा पुरस्कृत, परिवर्धित एवं परिष्कृत द्वितीय संस्करण)

भूमिका लेखक—डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, अध्यक्ष-इतिहास विभाग, प्रयाग वि० वि०

यह अपने विषय की हिंदी में एक मात्र रचना है। इससे लेखक का गंभीर साहित्यिक ज्ञान, उसकी अध्यवसायपूर्ण शोध और संकलन की सुरुचि प्रकट है।

प्रतिष्ठित पत्रों एवं विख्यात विद्वानों की सम्मतियाँ—

"लेखक ने इसके निर्माण में काफ़ी परिश्रम और ब्रजभाषा साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया है।....समस्त प्राप्त सामग्री और विचारों का समन्वय कर लेखक ने नायिका-भेद के विभिन्न विषयों के संबंध में एक निश्चित और निर्भ्रांत मत स्थिर करने की चेष्टा की है। उदाहरणों के संग्रह में भी उसने कठिन परिश्रम और सुंदर साहित्यिक रुचि का परिचय दिया है।"

—"सरस्वती" प्रयाग.

"विद्वान् लेखक ने रीति-कविता का संक्षिप्त इतिहास और नायिकाभेद पर विस्तृत प्रकाश डाला है। अनेकों आचार्यों ने जो क्रम इस संबंध में उपस्थित किया है, उस पर लेखक ने गंभीरता से अपने विचार व्यक्त किये हैं और अंत में एक वैज्ञानिक क्रम निश्चित करके नायिकाओं के लक्षण और उनके चुटीले उदाहरण उपस्थित किये हैं। यह संतोष की बात है कि उदाहरण अश्लील नहीं हैं और पुस्तक ब्रजभाषा में साहित्य के एक अभाव को पूरा करने में सफल हुई है।"

—"हिन्दुस्तान", दिल्ली.

"There is no doubt the author has made a sincere and conscientious effort to give an exhaustive exposition of the subject. We are sure the book will prove entertaining to lovers of Hindi poetry and helpful to students interested in its systematic study."

—"LEADER", *ALLAHABAD*.

"आपने पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी है और निस्संदेह इससे साहित्य के विद्यार्थियों का बड़ा उपकार होगा।"

—अमरनाथ झा

प्रयाग, १६-१२-४४ (वायस चांसलर-अलाहाबाद विश्व-विद्यालय)

"निस्संदेह इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में आपने श्रम, शोध, निर्णय शक्ति और सहृदयता का पूर्ण उपयोग किया है।"

—केशवप्रसाद मिश्र

बनारस, २७-१२-४४ (अध्यक्ष-हिंदी विभाग, हिंदू विश्व-विद्यालय)

"नायिका निरूपण पर हिंदी में कोई स्वतंत्र पुस्तक अभी तक नहीं थी। आपने समस्त सामग्री को एक सूत्रमें एकत्रित कर विद्यार्थियों तथा अध्यापकों का उपकार किया है।"

—धीरेन्द्र वर्मा

प्रयाग, २८-११-४४ (अध्यक्ष-हिंदी विभाग, अलाहबाद विश्व-विद्यालय)

"आपने बड़े परिश्रम से अपने विषय का प्रतिपादन किया है।....आपकी पुस्तक ने इस ओर महत्वपूर्ण सामग्री दी है।"

—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

बोलपुर, ६-१०-४६ (अध्यक्ष-हिंदी भवन, शान्ति निकेतन)

"लेखक ने इस ग्रंथ के लिखने में बहुत परिश्रम किया है। इसमें नायिकाभेद विषयक बहुमूल्य और दुष्प्राप्य सामग्री है। ग्रंथ उपयोगी है और लेखक वास्तव में बधाई का पात्र है।"

—दीनदयालु गुप्त

(अध्यक्ष-हिंदी विभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय)

बड़े आकार के ४५६ पृष्ठ, सुंदर छपाई, दुरंगी कवर, पक्की जिल्द, मू० ६)

सूर-निर्णय

परिचय लेखक—डा० धीरेन्द्र वर्मा, अध्यक्ष—हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय,

यह सूर-साहित्य की नवीनतम कृति है, जिसमें महाकवि महात्मा सूरदास के जीवन, ग्रंथ, सिद्धांत और काव्य की निर्णयात्मक समीक्षा की गयी है। लेखकों ने व्रजभाषा साहित्य और पुष्टि संप्रदाय के धर्म ग्रंथों की कई वर्षों तक शोध करने के अनंतर इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ में सूर संबंधी नवीनतम सामग्री का समावेश है, जिसे अवलोकन किये बिना किसी भी व्यक्ति का सूरदास विषयक अध्ययन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस ग्रंथ की मान्यताओं ने हिंदी साहित्य में क्रांति उत्पन्न करदी है।

अनुसंधान, अध्ययन, आलोचना और संकलन सभी दृष्टियों से इस ग्रंथ का सूर-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रंथ पाँच बड़े-बड़े अध्यायों में समाप्त हुआ है—१. सामग्री निर्णय, २. चरित्र निर्णय, ३. ग्रंथ निर्णय, ४. सिद्धांत निर्णय ५. काव्य-निर्णय

प्रतिष्ठित पत्र एवं विख्यात विद्वानों की सम्मतियाँ—

"हिंदी साहित्य में जहाँ तक सूर विषयक गवेषणात्मक अध्ययन एवं वाद-विवाद का प्रश्न है, 'सूर-निर्णय' का प्रकाशन एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। सूर-साहित्य में अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक विद्यार्थी तथा साहित्यिक के लिए इस विषय पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक से परिचित होना अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य भी है। सूर संबंधी अब तक उपलब्ध सारी सामग्री और तद्विषयक सारी चर्चा का विश्लेषण करने के साथ-साथ लेखकों ने कुछ नवीन सामग्री भी उपस्थित की है।....'सूर-निर्णय' साहित्य के क्षेत्र में एक प्रशंसनीय प्रयास है। लेखकों को विषय पर इतनी गंभीरता से विचार करने तथा उसको सर्व सुलभ बनाने के लिए बधाई है।" —"संगम", प्रयाग

"पुस्तक बहुत उपयोगी जान पड़ी। आपने सूर-साहित्य संबंधी सभी उपयोगी सामग्रियों का संकलन कर दिया है।...इस सुंदर पुस्तक के लिए आपको हार्दिक बधाई!"

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिंदी भवन, शांति निकेतन, बंगाल)

"सूर-निर्णय ग्रंथ में श्री सूरदास जी से संबंध रखने वाले अनेक ज्ञातव्य विषयों पर अत्यंत गवेषणापूर्ण आलोचनात्मक विवेचन द्वारा यथेष्ट प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है, जो विद्वान लेखकद्वय के परिश्रम एवं विद्वत्ता का परिचायक है।"

—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (साहित्य वाचस्पति, मथुरा)

"अब तक सूरदास जी पर जो कुछ लिखा गया है, उसके पढ़ लेने पर भी आपकी पुस्तक के बिना तत्संबंधी आकांक्षा की पूर्ति न हो सकेगी। एतदर्थ अनेक धन्यवाद!"

—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र (हिंदू विश्वविद्यालय, काशी)

"सूर-निर्णय ग्रंथ लिखकर आप ने अत्यंत सराहनीय कार्य किया है। पुष्टिमार्गीय संप्रदाय की अंतरंग बातों को प्रकाश में लाकर आपने कई गुत्थियों को सुलझा दिया है। ऐसे उपयोगी ग्रंथ को प्रकाशित करने के कारण आप हम सब की बधाई के पात्र हैं।"

—श्री मुंशीराम शर्मा (डी० ए० वी० कालेज, कानपुर)

बड़े आकार के ३८० पृष्ठ, सुंदर छपाई, दुरंगी कवर, पक्की जिल्द, मूल्य ५)

पता—अग्रवाल प्रेस, मथुरा

ब्रजभाषा-काव्य के प्रेमियों
तथा
उच्च श्रेणी कक्षाओं के विद्यार्थियों
के लाभार्थ—

ब्रज-साहित्य-माला की पुस्तकें

[लेखक—प्रभुदयाल मीतल]

★

प्राप्तव्य स्थान :

अग्रवाल प्रेस, मथुरा।